पुस्तक
आनन्द प्रवचन [सातवा भाग]

संप्रेरक
श्री कुन्दन ऋषि

पृष्ठ : ४१६

प्रथमवार
वि स २०३२ कार्तिक
ई सन् १९७५ नवम्बर
२५००वा महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष

प्रकाशक
श्री रत्नजैन पुस्तकालय
पाथर्डी [अहमदनगर—महाराष्ट्र]

मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–४

मूल्य १०) रुपये प्लास्टिक कवर युक्त १२) रुपये

प्रकाशकीय

आनन्द प्रवचन का यह सातवाँ भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। विगत १३ फरवरी को अमृत महोत्सव के प्रसग पर पाचवे भाग का विमोचन सम्पन्न हुआ था, कुछ समय पश्चात् छठा भाग भी पाठको के हाथो मे पहुँचा और अब यह सातवाँ भाग प्रस्तुत है।

आनन्द प्रवचन के पिछले छह भाग पाठको ने बडे उत्साह और प्रेम के साथ अपनाये है। स्थान-स्थान से उनकी माँग बराबर आ रही है। सामान्य पाठको को प्रेरणाप्रद सामग्री उसमे मिली है। इसी प्रकाशन शृ खला मे अभी-भी 'भावना योग' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी प्रकाश मे आई है। भावनायोग मे भावना के सम्बन्ध मे बडा ही मौलिक तथा अनुसधानपरक जीवनोपयोगी विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान **श्रीचन्द जी सुराना 'सरस'** ने किया है। इस पुस्तक को विद्वज्जगत ने तथा जिज्ञासु पाठको ने मुक्तमन से सहारा है।

प्रस्तुत भाग मे सवरतत्त्व के विवेचन पर आचार्य श्री के २९ प्रवचन है। कुशल सम्पादिका बहन श्री कमला "जीजी" ने बडे ही श्रम और अध्यवसाय के साथ इन प्रवचनो का सम्पादन किया है। "जीजी" ने साहित्य सेवा के क्षेत्र मे जो उपलब्धि की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस पुस्तक का मुद्रण पूर्व भागो की भाँति श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना की देख-रेख मे हुआ है। उनका योगदान बहुमूल्य है।

प्रकाशन-मुद्रण मे जिन सज्जनो का उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ, हम उनके आभारी है। आशा है पाठक इसे भी उत्साहपूर्वक अपनायेंगे।

मन्त्री

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

अर्थ सहयोग के लिए धन्यवाद

१००१) सरदारमल जी पोपटलाल जी सचेती, जुन्नर
५०१) पन्नालाल जी अशोक कुमार जी नाहर, जुन्नर
५०१) सौ० जयकुवरबाई भ्र० केवलचन्द जी लुणावत, जुन्नर
५०१) सौ० ललीताबाई भ्र० पन्नालाल जी लुणावत जुन्नर
५०१) सौ० रत्नकान्ताबाई भ्र० झुम्बरलाल लुणावत, जुन्नर
१५१) राजिवकुमार कचरदास मुथा
५०१) पदमसेन जी गोयल, सरसा, हरियाना
५०१) नथमल जी पदमचन्द जी दुगड, विलोमपुरा
५०१) गेणमल जी माणीकचन्द भलगट, नारायण गाँव
५०१) मनोहरलाल जैन, देहली
५००) वीरसेन जी जैन, देहली
५०१) मोहनलाल जी दिपचन्द चोरडिया, पूना
५०१) बाबूलाल जी शेषमल जी, पूना
५०१) सौ० सुदर्शनाबाई भ्र० सुकुमालचन्दजी जैन, देहली
५०१) के० शेष० सी० जैन, सीयालकोट हाऊस, अम्बाला छावनी
१०१) सौ० मजुलाकुमारी चौधरी, राजगढ
१०१) सतीशकुमार जैन, राजगढ
२०१) इन्दिराबाई मोतीलाल तालेडा, पूना
५०१) धनराज जी अमृतकुमार गाधी, गगा पूना
५०१) कन्हैया लाल नेमीचन्द
१००१) रम्भाबाई गणपतसिंह जैन, सुजालपुर
६७६) यात्रा सघ, एस० एस० जैन सभा, लुधियाना
१०००) मोहनलाल जी भटेवडा, पूना
२५१) रघुवरसिंह कस्तूरचन्द लोढा, देहली
२०१) शान्तिलाल चौधरी, राजगढ
२५१) चदुलाल प्रेमचन्द गधिया, खेड
२०१) विद्यादेवी भ्र० दयाराम जी गदीया, अम्वाला
४०१) शान्ताबाई रेदासनी, जलगाँव
४०१) मनोहरलाल जैन
२९०) प्रकाशचद जैन, देहली

सम्पादकीय

वन्धुओ !

आज आपके समक्ष 'आनन्द-प्रवचन' का सातवा पुष्प सम्पादित करके पहुँचाने मे मुझे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसके पूर्व छ पुष्प आपके कर-कमलो तक पहुँच चुके हैं और आप सबने उनके सौरभ एव माधुर्य की भूरि-भूरि सराहना की है, इससे मेरा उत्साह बढता रहा है एव मुझे आन्तरिक तुष्टि का अनुभव हुआ है।

स्वनामधन्य आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषि जी महाराज के प्रवचनो की महत्ता एव उपयोगिता के विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आपके सन्मुख छह भागो मे वे सग्रह के रूप मे आ चुके हैं। अत: 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' यह कहावत यहाँ चरितार्थ हो जाती है।

सक्षेप मे यही कहना काफी है कि जीवन [illegible] किस प्रकार जूझा जाय ? सासारिक एव आध्यात्मिक [illegible] को किस प्रकार सुलझाया जाय ? किस तरीके से आत्मा को [illegible] बढा जाय और किस प्रकार जीव एव [illegible] सवरधर्म की आराधना की जाय ? इन [illegible] के प्रवचनो मे मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे सकलित [illegible] के कुछ भेदो पर प्रकाश डालते हैं। [illegible] ही सुन्दर एव सरल ढग से [illegible] श्रद्धालु पाठक भी इनसे [illegible] इनके सग्रहित रूप मे [illegible] है।

आशा ही नहीं, अपितु विश्वास है कि [illegible] तथा इन मार्मिक प्रवचनों के [illegible] आत्मा के शाश्वत कल्याण के [illegible]

प्रस्तावना

मानव विश्व का शृगार है, उससे वढकर विश्व मे कोई भी श्रेष्ठ व ज्येष्ठ प्राणी नही है। असीम सुखो मे निमग्न रहने वाले देव भी मानव की स्पर्धा नहीं कर सकते। वह अनन्त शक्ति व तेज का पुञ्ज है। विश्व का भाग्य-विधाता है, वेताज का वादशाह है। उसके तेजस्वी चमक-दमक से विश्व आलोकित है। उसने अपनी प्रत्यग्र प्रतिभा के वल पर जो सस्कृति, सभ्यता और विज्ञान का नव-निर्माण किया है वह अद्भुत है। उसकी परमार्थ की भावना भव्य है।

मानव का उर्वर मस्तिष्क पशुओ की तरह नीचे झुका हुआ नहीं है किन्तु दीपक की लौ की तरह सदा ऊपर उठा हुआ है। वह इस वात का प्रतीक है कि अनन्त आकाश की तरह उसके विचार विराट हैं, सूर्य की तरह तेजस्वी है, चन्द्र की तरह सौम्य है, ग्रह नक्षत्रो की तरह सुखद है। वह चाहे तो इस भू-मण्डल पर अपने निर्मल विचार और पवित्र आचार से स्वर्ग उतार सकता है।

आज का मानव विकास के नये मोड पर है। विज्ञान-रूपी दानव की असीम कृपा से उसने वाह्य प्रकृति पर विजय-वैजयन्ती फहरा दी है, पर स्वय की प्रकृति पर विजय नही पा सका है। यातायात की सुविधा से जैसे ससार सिमटता चला जा रहा है वैसे ही उसका मन भी सिमटता चला जा रहा है, उससे स्नेह, सहयोग एव सद्भाव का अभाव होता जा रहा है। वह वाहर से तो खूब चुस्त और दुरस्त है पर भीतर से दायित्व शून्य है, उसमे स्पन्दन नही, सम्वेदना नही।

सूर्य के प्रकाश की तरह यह स्पष्ट है कि विज्ञान ने मानव की एकागी प्रगति की है। वह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की उन्नति नही कर सका है। अध्यात्म पक्ष की उन्नति के अभाव मे विज्ञान वरदान नही अपितु अभिशाप सिद्ध हो रहा है।

आज का जन-जीवन विविध समस्याओ से आक्रान्त है। क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र सभी समस्याओ मे उलझे हुए हैं, जिधर देखो उधर

विग्रह, विद्रोह और कलह की आग धॉय-धाँय कर जल रही है। विघटनवाद के नगाड़े तेजी से बज रहे हैं। मस्तिष्क मे भयकर तूफान उठ रहे है, हृदय की धडकने बढ रही है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी परेशान है, व्यथित हैं। कही पर अमीरी और गरीबी की समस्या है और कही पर शोषक और शोषितो की समस्या है। इधर विश्व के गगन मे अणु-अस्त्रो की विभीषिकाएँ भी मँडरा रही है, वे कब बरस पडेंगी, इसका किसी को कुछ पता नही। आज का विश्व मौत के कँगारे पर खडा है। मानवता मर रही है दानवता पुष्ट हो रही है, जीवन मे आनन्द का अभाव है। ऐसी विकट-बेला मे परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट राष्ट्र सन्त श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के ये प्राणमय प्रवचन भौतिकता की चकाचौंध मे अपने आपको भूले और बिसरे हुए मानव को सही दिशा-दर्शन देंगे। कर्तव्य-पथ पर बढने की पुनीत प्रेरणा प्रदान करेंगे।

महामहिम आचार्य प्रवर के इन प्रवचनो मे अद्यतन कहानियो की तरह न शैली-शिल्प के गोरख-धन्धे ही है और न नवीन कविताओ की तरह भाषा की दुरूहता और भावो का उलझाव ही है, किन्तु जो कुछ भी है सहज है, सरल है, सुगम है। पाठक अनुभव करेंगे कि धर्म, दर्शन, अध्यात्म जैसे गुरु गम्भीर विषयो को भी किस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा, समन्वय-बुद्धि एव चित्ताकर्षक सरल शैली से युगबोध की भाषा मे प्रस्तुत किसा है। उनके प्रखर चिन्तन मे धर्म और दर्शन के नये-नये उन्मेष खुलते हुए से प्रतीत होते है।

आनन्द प्रवचन का यह सातवाँ भाग है, इसके पूर्व छ भाग प्रकाशित हो चुके है जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए है। मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि प्रस्तुत भाग भी जन-जीवन मे अभिनव चेतना का सचार करेगा। इसी मगल आशा के साथ

सादडी-सदन
गणेश पेठ, पूना—२
दिनाक २५-९-७५

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रम

आनन्द प्रवचन

[सातवां भाग]

१

प्रज्ञा-परिषह पर विजय कैसे प्राप्त हो ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

पिछले प्रवचनो मे हमने सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो को लिया था और उनमे से सत्ताईस भेदो पर अब तक यथाशक्य विवेचन किया जा चुका है। आज हमे अट्ठाईसवाँ भेद लेना है, जिसका नाम है 'प्रज्ञापरिषह'। इसका अर्थ है—प्रज्ञा यानी बुद्धि का परिषह।

आप विचार करेंगे कि क्या बुद्धि का भी कोई परिषह होता है ? और वह होता है तो किस प्रकार ? इस विषय को भगवान महावीर ने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की चालीसवी गाथा मे स्पष्ट किया है। गाथा इस प्रकार है—

> से नूण मए पुव्व कम्माऽणाणफला कडा ।
> जेणाह नाभिजाणामि, पुट्ठो केणई कण्हुई ।।

प्रज्ञा या बुद्धि की प्राप्ति पूर्व पुण्य से होती है। ज्ञानावरणीय कर्मों का उपशम या क्षय होने पर ही व्यक्ति इस जन्म मे ज्ञान हासिल कर पाता है। किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हो या न हो, मनुष्य को दोनो ही स्थितियो मे समभाव रखना चाहिए। अगर वह ऐसा नही कर पाता है तो निश्चय ही सवर-मार्ग पर बढने के बदले आश्रव की ओर चल पडता है।

आपके हृदय मे प्रश्न होगा कि ऐसा क्यो ? वह इसलिए कि अगर व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त कर लिया पर इसके परिणामस्वरूप उसके मन मे गर्व की भावना आ गई कि मै अत्यन्त ज्ञानी, विद्वान् या पण्डित हूँ तो वह आश्रव की ओर बढेगा यानी कर्मों का बन्धन करता चला जाएगा और अगर किसी व्यक्ति को ज्ञानावरणीय कर्मों का निविड बन्ध होने से ज्ञान हासिल नही हो पाएगा

और वह इस कारण भी दुखी होकर आर्तध्यान या शोक करता रहेगा तो भी कर्मों का वन्ध होगा।

इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति पर गर्व और अज्ञान के लिए दु ख, ये दोनो ही दुधारी तलवार के समान है तथा प्रज्ञा के लिए परिषह का काम करते है। अत मुमुक्षु को इन दोनो से वचना चाहिए। इसके अलावा यहाँ ध्यान से समझने की वात तो यह है कि सम्यक्ज्ञान कभी अहभाव को पैदा नही करता। वुद्धि की तीव्रता से अगर व्यक्ति पढ-लिख जाता है और अनेक प्रकार की डिग्रियाँ भी हासिल कर लेता है पर उनके कारण अगर वह गर्व से चूर होकर औरो को नगण्य समझने लगता है तो यह मानना चाहिए कि उसका ज्ञान ही सम्यक् नही है। रावण शक्तिशाली था और शक्ति के साथ-साथ वुद्धि के कारण भी उसने वहुत ज्ञान और सिद्धियाँ भी हासिल कर ली थी। किन्तु अपनी वुद्धि या प्रज्ञा का घमण्ड ही उसे ले डूवा। इस वात से स्पष्ट है कि ज्ञान का गर्व प्रज्ञा-परिषह है और जो इसको सहन नही कर पाता वह अशुभ कर्मों का वन्धन करता हुआ ससार-सागर मे डुवकियाँ लगाता रहता है।

अपने वचपन मे मैंने देखा था कि मेरे गाँव मे एक गोसावी वडा सिद्ध व्यक्ति था। अपनी मत्र-शक्ति के वल पर वह साँपो को सहज ही पकड लेता था तथा सर्प-दश से पीडित व्यक्तियो को वात की वात मे विष से मुक्त कर देता था। किन्तु ज्यो-ज्यो उसकी प्रसिद्धि चारो ओर मत्रसिद्ध के रूप मे होती गई, त्यो-त्यो उसके हृदय मे अपने ज्ञान के प्रति गर्व वढता गया और उसके फल-स्वरूप एक दिन सर्प के काटने से ही उसकी मृत्यु हुई।

इसीलिए भगवान आदेश देते है कि अपने ज्ञान का गर्व मत करो और उसे परिषह समझ कर उससे वचो। वास्तव मे देखा जाय तो ज्ञान गर्व करने की वस्तु ही नही है। ज्ञान तो जीव और जगत् को समझने के लिए तथा आत्मिक शक्तियो को जानने के लिए है। जो ऐसा समझता है वह अपने ज्ञान का गर्व के कारण दुरुपयोग नही करता, अर्थात् उसे घमण्ड का कारण मानकर आश्रव की ओर नही वढता। कहा भी है—

'सव्व जगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरण।'

—व्यवहार भाष्य

अर्थात्—ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यो को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्य का वोध होता है।

तो वन्धुओ, जो ज्ञान विश्व के रहस्यो को प्रकाशित करने वाला और मानव को अपने कर्तव्यो का वोध कराने वाला है वह कभी अह को पैदा नही

कर सकता। क्योंकि अहंभाव तो मनुष्य को उलटा उसके कर्तव्यों में पंगु करता है तथा कर्तव्य-पालन में बाधा पहुँचाता है। इससे साबित होता है कि गर्व ज्ञान का परिणाम नहीं है अपितु बुद्धि का परिग्रह ही है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति को सर्वप्रथम तो ज्ञान प्राप्त करने में ही बड़ी सावधानी और सतर्कता रखनी चाहिए कि कहीं वह सम्यक्ज्ञान के स्थान पर धोखे से मिथ्याज्ञान तो हासिल नहीं कर रहा है ? क्योंकि मिथ्याज्ञान भी मनुष्य को भ्रम में डाल देता है। उदाहरणस्वरूप अगर समुद्र या नदी के किनारे पर टहलने वाला व्यक्ति चमकती हुई सीप को चाँदी समझ ले तो उसका वह ज्ञान क्या सम्यक्ज्ञान कहलाएगा ? नहीं, वह मिथ्याज्ञान ही होगा। दूसरे अनेक पुस्तकें पढ़कर अगर व्यक्ति अपने आपको ज्ञानी मानकर अहंकार से भर जाए तो उसका वह ज्ञान भी क्या आत्मा को उन्नत बना सकेगा ? नहीं, वह भी कर्म-बन्धन का कारण बनकर उसे नाना गतियों में भ्रमण ही कराता रहेगा।

इसलिए बन्धुओ ! हमें ज्ञान का सही स्वरूप समझते हुए आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम झूठे अहंकार से बच सकते हैं तथा सवर के शुभ मार्ग पर बढ़ सकते हैं। पर अब हमें संक्षेप में यह भी जान लेना चाहिए कि ज्ञान किसे कहते हैं ? उसके कितने प्रकार हैं, और कौन से प्रकार से आत्मा को लाभ हो सकता है ?

इहलौकिक ज्ञान

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ज्ञान को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक इहलौकिक और दूसरा पारलौकिक। इहलौकिक ज्ञान को भौतिक ज्ञान भी कहा जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने देश की ही नहीं, अन्य अनेक देशों की राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान करता है तथा ज्योतिष के द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि की गतिविधियों को जान लेता है।

किन्तु इन सबको जान लेने से आखिर उसे लाभ कितना होता है ? केवल उतना ही जितना कि उसका वर्तमान जीवन है। अर्थात् इस जीवन को सुखमय बनाने के साधनों की प्राप्ति वह भौतिक ज्ञान से कर लेता है। भौतिक ज्ञान हासिल करके वह अधिकाधिक धन का उपार्जन कर लेता है जिससे सांसारिक भोग-विलास के अधिक से अधिक साधन जुटाए जा सकें और दूसरे अपनी विद्वत्ता का सिक्का भी अन्य व्यक्तियों पर जमाने में समर्थ बना जा सके यह लाभ वह व्यक्ति प्राप्त करता है। पर भौतिक ज्ञान से हासिल की हुई समस्त विशेषताएँ और योग्यताएँ उसके इस जीवन तक ही काम आ सकती हैं क्योंकि इसका लाभ परलोक में नहीं मिल सकता। यह ज्ञान केवल व्यक्ति को इहलौकिक

सुख प्रदान कर सकता है किन्तु पुन -पुन विभिन्न गतियो मे भ्रमण करने से नही रोक सकता ।

मेरा आशय यहाँ यह नही है कि आप लोग भौतिक ज्ञान हासिल ही न करे । यह ज्ञान भी सर्वथा व्यर्थ नही है क्योकि आखिर मानव-देह पाने पर और सासारिक सम्बन्धो से बँधे हुए होने के कारण आपका अपने प्रति और अपने सम्वन्धियो तथा पारिवारिकजनो के प्रति भी अनेक प्रकार के कर्तव्यो को पालन करने का उत्तरदायित्व होता है । किन्तु सासारिक कर्तव्यो का पालन करते हुए भी और सुखपूर्वक यह वर्तमान जीवन विताते हुए भी आपको यह कदापि नही भूलना है कि इस जीवन के पश्चात् भी हमारी आत्मा विद्यमान रहेगी और जैसे कर्म हम इस जीवन मे करेंगे उसके अनुसार फल प्राप्त करेगी । इसलिए भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ हमे पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान भी निरतर हासिल करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये तथा इस जीवन के सुखो के साथ-साथ परलोक मे भी सुख हासिल हो, इसका ध्यान रखना चाहिए ।

पारलौकिक ज्ञान

अव प्रश्न उठता है कि पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान क्या है और इससे क्या लाभ होता है ?

वधुओ, आध्यात्मिक ज्ञान हमे जीव और जगत् के रहस्य को समझाता है और वताता है कि प्रत्येक प्राणी की आत्मा अनन्त काल से नाना योनियो मे परिभ्रमण करती हुई और अपने कृत कर्मो के अनुसार घोर दु ख सहन करती हुई वडी कठिनाई से मानव-शरीर की प्राप्ति कर सकी है । अत इस देह की सहायता से अव हमे इसे कर्म-मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए । आध्यात्मिक ज्ञान ही हमे वताता है कि पाप क्या है और पुण्य क्या है, तथा इनके परिणाम किस प्रकार भोगने पडते है ? मिथ्याज्ञान की अथवा अज्ञान की अवस्था मे तो अनन्त काल तक जीव साधना करता हुआ भी पुन -पुन ससार सागर मे गोते लगाता रहा है क्योकि अज्ञानावस्था मे की हुई साधना उसे इस सागर से पार नही लगा सकती । शास्त्रो मे कहा भी है—

जहा अस्साविणि णाव, जाइअधो दुरुहिया ।
इच्छइ पारमागंतुं अंतरा य विसीयई ॥

—सूत्रकृताग १-१-२-३१

अर्थात्—अज्ञानी साधक उस जन्माध व्यक्ति के समान होता है जो छिद्रवाली नौका पर चढ कर नदी के किनारे पहुँचने की आकाक्षा तो रखता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही मझधार मे डूव जाता है ।

इसलिए बन्धुओ, हमें मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान के अन्तर को समझते हुए सम्यक्ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान हासिल करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हमें आत्म-कल्याण का मार्ग दृष्टिगोचर होगा और हम संवर की आराधना करते हुए कर्मों की निर्जरा में भी संलग्न हो सकेंगे।

हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थ स्पष्ट कहते हैं—

> **नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
> **एस मग्गोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥**
>
> —श्री उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप, इनका आराधन ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी जिनराज कहते हैं।

जिन भगवान सर्वदर्शी होते हैं और वे एक स्थान पर रहकर ही सब कुछ देख लेते हैं। उनकी दिव्यदृष्टि के सामने पर्वत, दीवाल, परदा या अन्य कोई भी वस्तु बाधक नहीं बन सकती। जबकि हमारे समक्ष तो एक साधारण वस्त्र या परदा भी लगा दिया जाय तो उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है यह हम नहीं देख सकते।

आप विचार करेंगे कि आखिर हमारे समान मानव-देह पाकर भी उन्हें ऐसी दिव्यदृष्टि कैसे प्राप्त हो गई और हमें वह क्यों नहीं मिल पाती ? इसका स्पष्ट और सत्य समाधान यही है कि उन महापुरुषों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की सम्यक् आराधना की थी। अपनी आत्मा के निज स्वरूप की पहचान करते हुए उन्होंने विषय-विकारों का सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को निर्मल बनाया था। क्रोध, मान, माया और लोभ का उनके मानस से सर्वथा निष्कासन हो चुका था। ज्ञान के गर्व को वे यथार्थ में घोर [illegible] मानते थे और उससे कोसों दूर रहते थे।

किन्तु हम क्या ऐसा कर पाते हैं ? आध्यात्मिक ज्ञान तो दूर [illegible] चार पुस्तकें पढ़कर ही हम घमंड में चूर होकर औरों को [illegible] आपको महाज्ञानी समझने लगते हैं। इसका परिणाम यह [illegible] दृष्टि तो दूर, जो भी हम पढ़ते हैं वह भी हमारे [illegible] बनकर पतन का कारण बनता है। कहने का [illegible] आत्मा के पतन का कारण बनता है और [illegible] इससे दूर रहते हुए समभाव रखना चाहिए। [illegible] है यही ज्ञान का सच्चा लाभ हासिल [illegible] सकता है। एक छोटा सा दृष्टान्त है—

सिंधु और बिन्दु

दो मित्र थे और दोनो एक साथ एक ही गुरु के पास विद्याध्ययन करने के लिए गये। काफी समय तक दोनो ने साथ-साथ अध्ययन किया और तत्पश्चात् अपने गाँव को साथ ही लौटे।

यद्यपि दोनो मित्रो ने समान ज्ञान हासिल किया था, किन्तु उनमे से एक अपने आपको बडा विद्वान् और ज्ञानी मानता था तथा उसके गर्व मे चूर होकर अन्य व्यक्तियो से सीधे मुँह वात ही नही करता था।

उसके मित्र ने जब यह देखा तो उसे अपने मित्र की अज्ञानता और घमड पर वडा दु ख हुआ। उसने समझ लिया कि मेरा मित्र ज्ञान के गर्व या नशे मे रहकर ज्ञान का लाभ तो उठा नही सकेगा, उलटे आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाएगा। यह विचार कर उसने मित्र को सही मार्ग पर लाने का निश्चय किया।

इसके परिणाम स्वरूप वह एक दिन अपने घमडी मित्र को समुद्र के तट पर घुमाने ले गया और वहाँ पर अपनी हथेली पर समुद्र के जल की कुछ बूँदे लेकर वोला—"मित्र ! देखो तो सही, मेरी हथेली मे कितना सारा पानी है ?"

घमडी मित्र ने जव अपने साथी की यह वात सुनी तो ठठाकर हँस पडा और हँसते-हँसते कहा—

"मित्र ! लगता है कि तुम पागल हो गए हो। अरे, तुम्हारे समीप ही तो इतना विशाल सागर है और इसमे अथाह पानी भी है। पर तुम जल की दो बूंदे हथेली पर लेकर ही कह रहे हो कि मेरे पास कितना सारा पानी है ? भला इस सागर के जल के समक्ष तुम्हारी हथेली के जल की बूंदे क्या महत्त्व रखती है ?"

पहला मित्र यही तो सुनना चाहता था, अत छूटते ही वोला—"दोस्त ! तुम मुझे पागल सावित कर रहे हो पर तुम मुझसे कम पागल हो क्या ?"

"वह कैसे ?" दूसरा मित्र चकित होकर पूछ वैठा।

"इस प्रकार कि ज्ञान का सागर भी तो चौदह पूर्व का है किन्तु तुम कुछ विन्दु जल के समान ही थोडी सी विद्या हासिल करके अपने आपको महाज्ञानी मानते हो और घमड के मारे अन्य किसी को कुछ नही समझते।"

मित्र की यह वात सुनते ही घमडी व्यक्ति की आँखें खुल गयी और वह अत्यत लज्जित हुआ। यथार्थ का वोध होते ही वह समझ गया कि मेरा ज्ञान सिन्धु मे विन्दु जितना भी नही है।

तो बन्धुओ, ज्ञान का गर्व अज्ञानावस्था है जो कि आत्मा में रहे हुए अनन्त ज्ञान पर पर्दे के समान आच्छादित रहती है। यहाँ आपको सन्देह होगा कि आत्मा में रहे हुए अनन्तज्ञान को मिथ्याज्ञान या अज्ञान किस प्रकार ढक सकता है ? इसके उत्तर में समझा जा सकता है कि जिस प्रकार समग्र विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य एक छोटी सी बदली के आ जाने से ही अपने तेज को खो बैठता है तथा हमारी जिन आँखों से संसार की प्रत्येक वस्तु दृष्टि-गोचर होती है उस पर मोतियाबिन्द की एक पतली सी झिल्ली चढ़ते ही दिखाई देना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का अनन्त प्रकाश आत्मा में होते हुए भी मिथ्याज्ञान या अज्ञान का पर्दा पड़ा होने से जीव पाप-पुण्य, बन्ध या मोक्ष किसी के भी बारे में सम्यक् रूप से नहीं जान पाता तथा अपना दुर्लभ जीवन निरर्थक कर देता है।

किसी कवि ने अपने एक भजन की कुछ पंक्तियों में कहा भी है—

> पड़ा परदा जहालत का अकल की आँख पर तेरे,
> सुधा के खेत में तूने जहर का बीज क्यों बोया ?
> अरे मतिमन्द अज्ञानी जन्म प्रभु भक्ति बिन खोया !

जहालत यानी अज्ञान दशा ! यह अज्ञानावस्था रूपी परदा जब ज्ञान रूपी नेत्रों पर पड़ा रहता है तो व्यक्ति को आत्मा की भलाई का बोध नहीं होता। इसीलिए कवि प्राणी की भर्त्सना करते हुए कहता है—'अरे मूर्ख ! तूने अमृत के खेत में विष के बीज क्यों वपन कर दिये हैं ? अर्थात् जिस अमूल्य मानव-जन्म को पाकर तू सम्यक् साधना के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मुक्ति-रूपी अमृत को प्राप्त कर सकता था, उसी जीवन में तूने नाना कुकर्म करके दुर्गति रूपी विष-वृक्षों की स्थापना कर ली है और अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु की भक्ति न करके व्यर्थ गँवा दिया है।

कहने का आशय यही है कि मुमुक्षु को सर्वप्रथम तो सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। दूसरे, अगर कुछ ज्ञान हासिल हो जाय तो उसके लिए रंचमात्र भी अभिमान का भाव हृदय में नहीं आने देना चाहिए। ज्ञान का अभिमान ऐसा विष है जो कि आत्मोत्थान के मूल को ही नष्ट कर देता है तथा आत्मा को प्रगति के पथ पर नहीं बढ़ने देता। इसीलिए भगवान ने ज्ञान के गर्व को 'प्रज्ञा-परिषह' कहा है और इससे बचने का आदेश दिया है।

संसार में आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपनी निरभिमानता के

शाली व्यक्ति थे और इसीलिए वे कुछ काल पश्चात् जिस कालेज मे पढते थे उसी मे प्रिंसिपल के पद पर प्रतिष्ठित होकर पहुँचे।

कॉलेज के सभी प्रोफेसरो और क्लर्कों को वे पहचानते थे, अत सभी से वे अत्यन्त विनम्रता से पेश आते थे।

एक दिन वे कॉलेज के दफ्तर मे गये तो वहाँ का मुख्य क्लर्क उन्हे प्रिंसिपल मानकर आदर से खडा हो गया। यह देखते ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन्हे दोनो हाथ पकडकर बैठाते हुए बोले—"अरे, आप बैठिये न! मैं तो आपका वही पुराना छात्र ईश्वर हूँ।"

मुख्य क्लर्क विद्यासागर की विनम्रता एव निरभिमानता देखकर श्रद्धा से गद्गद हो उठा।

तो बन्धुओ, यह तो एक छोटा सा उदाहरण है जो बताता है कि ज्ञान का अभिमान नही करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति अन्य लोगो के दिलो मे तो अपना उच्च स्थान बनाता ही है साथ ही आत्मा को उन्नत एव गर्व के विष से रहित भी रखता है। जो ऐसा नही कर पाता वह मन्दबुद्धि या अज्ञानी की श्रेणी मे रहकर इस जीवन मे भले ही उपनी यशपताका या विद्वत्ता की छाप अपने जीवन पर लगाले, किन्तु परलोक मे उसका तनिक भी लाभ नही उठा पाता, उलटे नाना कर्मों का बन्धन करता हुआ ससार-परिभ्रमण करता रहता है।

शास्त्रो मे कहा भी है—

अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने।

—सूत्रकृताग

अर्थात् जो अपनी प्रज्ञा के अहकार मे दूसरो की अवज्ञा करता है, वह मन्दबुद्धि और दूसरे शब्दो मे बालप्रज्ञ है।

शास्त्र के इन वचनो से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को अपनी प्रज्ञा का अहकार कदापि नही करना चाहिए तथा अहकार का भाव हृदय मे आये तो उसे परिषह समझकर समभाव मे रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब मैं 'प्रज्ञा-परिषह' की मुख्य बात को लेता हूँ। आपको स्मरण होगा कि 'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' की पूर्व मे कही हुई गाथा के अनुसार ज्ञान प्राप्त होने पर उसका गर्व करना तो परिषह है ही साथ ही ज्ञान प्राप्त न कर सकने पर हृदय मे खेद, खिन्नता या हीनता के भाव लाना भी ज्ञान का परिषह है। किसी के द्वारा प्रश्न किये जाने पर अगर उसका उत्तर देने की क्षमता न हो तो यह सोचना कि 'मैं कुछ भी नही जानता' यह उचित नही है। प्रज्ञा का

इस संसार में प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति तो कुशाग्र बुद्धि के होते हैं और कुछ मन्द बुद्धि के। बुद्धि की परीक्षा कम उम्र के बालकों की सहज ही हो जाती है। जो छात्र तीव्र बुद्धि के धनी होते हैं वे हर वर्ष अपनी श्रेणी में पास होते जाते हैं और अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होते हैं। किन्तु जिनकी बुद्धि मन्द होती है, वे परिश्रम करते रहने पर भी एक ही कक्षा में कई वर्ष तक बने रहते हैं। पर ऐसा होना उनका दोष नहीं है यह ज्ञानावरणीय कर्मों का दोष होता है, जिनके क्षय न होने के कारण वे जल्दी विद्या या ज्ञान हासिल नहीं कर पाते।

ऐसी स्थिति में सदा यह विचार करके दुखी होना उचित नहीं कि "मैं मन्द बुद्धि वाला हूँ और मुझे ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है।"

बुद्धि की तीव्रता के अभाव में चाहे वह छात्र हो या साधक, उसे प्रथम तो यह चाहिए कि वह बिना दुःख और हीन भावनाओं के निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहे। ऐसा करने से तथा ज्ञानाभिलाषा के हृदय में सतत् बने रहने से धीरे-धीरे उसके ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता चला जाएगा और वह ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि जो व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् बाल्यावस्था में मन्द बुद्धि का होता है वह जीवन के अन्त तक भी वैसा ही बना रहे। प्रयत्न करने पर तो पत्थर पर भी लकीरें बन जाती हैं तो फिर मानव के मस्तिष्क में तो चेतना है तथा उसके हृदय में लगन और ग्राह्य शक्ति बनी रहती है। इसलिए बुद्धि की ओर से निराश हो जाना या अपने आपको सर्वथा हीन समझ लेना उचित नहीं है। प्रत्येक मन्द बुद्धि वाले ज्ञान-पिपासु को यह दोहा कभी नहीं भूलना चाहिए—

> रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।
> करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।

दोहे का अर्थ सरल है और यही है कि जिस प्रकार [illegible] पत्थर पर रस्सी के बार-बार आने-जाने से निशान बन जाते हैं उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से जड़बुद्धि वाला व्यक्ति [illegible] बन सकता है।

साथ ही निरन्तर अभ्यास और उसके [illegible] व्यक्ति को सदा यह ध्यान भी रखना चाहिए कि [illegible] ज्ञान-प्राप्ति में बाधक बनते [illegible]

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' मे एक स्थान पर कहा गया है—

अह पचहि ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थभा, कोहा, पमाएण, रोगेणालस्सएण वा ॥

अर्थात्—अहकार, क्रोध, प्रमाद, रोग एव आलस्य इन पाँच कारणो से व्यक्ति शिक्षा या ज्ञान प्राप्त नही कर सकता ।

शास्त्र के इन वचनो पर दृढ श्रद्धा रखते हुए ज्ञानेच्छु को इन सभी दुर्गुणो से बचना चाहिए तथा सरलता एव विनयपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने मे सलग्न होना चाहिए ।

'श्री ठाणागसूत्र' मे भी ज्ञान प्राप्ति के चार कारण या उपाय बताये गये है । वे इस प्रकार है—

"(१) इत्थीकहं, भत्तकह, देसकह रायकह नो कहेत्ता भवति । (२) विवेगेण विउस्सगेण सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवति । (३) पुव्वरत्तावरत्तकाल समयसि धम्म जागरियं जागरित्ता भवति । (४) फासुयस्स एसणिज्जस्स उछस्स सामुदाणियस्स सम्म गवेसित्ता भवति ।"

शास्त्र के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख एव प्रथम कारण है चित्त की एकाग्रता । विकथाएँ जो कि चार प्रकार की बतायी गयी है—स्त्रीकथा, भत्तकथा अर्थात् भोजनकथा, देशकथा और राजकथा । ये सब करते रहने से मन एकाग्र नही रह पाता और ज्ञान-प्राप्ति मे बाधा पडती है । इसलिए इन व्यर्थ की विकथाओ से ज्ञानाभिलाषी को बचना चाहिए ।

ज्ञान प्राप्ति का दूसरा साधन है—उचित चिन्तन-मनन, शान्ति एव विचार-विमर्ष । इस विषय मे नन्दीसूत्र मे भी कहा गया है—

सुस्सूसई पडिपुच्छइ, सुणइ गिण्हइ ईहए वावि ।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा कम्मं ॥

अर्थात्—ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति आठ प्रकार के साधनो से ज्ञान हासिल करने का प्रयत्न करता है । (१) वह सुनने की इच्छा करता है, (२) पूछता है, (३) उत्तर को ध्यान मे सुनता है, (४) सुनकर ग्रहण करता है, (५) तर्क-वितर्क से ग्रहण किये हुए को तौलता है, (६) तौलकर निश्चय करता है (७) निश्चित अर्थ को धारण करता है, और (८) धारण कर लेने पर उसके अनुसार आचरण करता है ।

इस प्रकार करने पर ही साधक ज्ञानार्जन के पथ पर अग्रसर होता है । तो, ठाणागसूत्र के अनुसार हमने ज्ञान-प्राप्ति के दो कारणो को समझा है और अब तीसरा कारण हमे समझना है ।

ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा कारण या साधन है—धर्म जागरण करना। धर्माराधन अथवा ज्ञानाराधन के लिए शास्त्रों में सबसे उपयुक्त समय रात्रि का बताया गया है। दिन के समय कोलाहल बना रहता है तथा नाना प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होकर साधक के मन की एकाग्रता को भंग कर देती हैं। किन्तु रात्रि के समय सांसारिक शोर नहीं रहता तथा वातावरण पूर्णतया शान्त हो जाता है, अतः उस समय ज्ञानाराधन सुचारु रूप से किया जा सकता है। इसलिए साधक को रात्रि के समय ही अधिकांश ज्ञान दोहराना या कंठस्थ करना चाहिए।

अब आता है ज्ञान-प्राप्ति का चौथा कारण। वह है—शुद्ध एवं पवित्र आहार करना। प्रथम तो ज्ञानार्थी को सदा अल्पाहार करना चाहिए। अधिक मात्रा में ठूँस-ठूँसकर खाने से जीवन में आलस्य बढ़ता है और आलस्य ज्ञान-प्राप्ति में घोर बाधक बनता है। कहा भी है—

तहा भोतव्वं जहा से जाया माता य भवति।
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स ॥

—प्रश्नव्याकरण २।४

अर्थात् ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयम-यात्रा के लिए उपयोगी बन सके, और जिससे किसी प्रकार का विभ्रम न हो तथा धर्म की भंसना भी न हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म-साधना हो या ज्ञान-साधना, उसे सही-सही चलाने के लिए अल्प और शुद्ध आहार करना आवश्यक है। अधिक खाने से आलस्य बढ़ता है और मांस-मदिरादि तामसिक वस्तुओं को ग्रहण करने से मन और शरीर में विकृति आती है तथा बुद्धि मन्द होती है। अतः ज्ञानेच्छु को ज्ञान में सहायक मानकर अल्प एवं पवित्र आहार ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह ज्ञान हासिल कर सकेगा।

बन्धुओ, अभी हमने ज्ञान-प्राप्ति के कारणों पर विचार किया है, जिनकी सहायता से मन्दबुद्धि साधक भी निरन्तर प्रयत्न करते हुए ज्ञान हासिल कर सकता है। किन्तु मुझे यहाँ एक बात और भी आप लोगों के समक्ष रखनी है। और वह यह है कि अगर कोई व्यक्ति या साधक इन सब कारणों का ध्यान रखते हुए भी निबिड़ ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण पुस्तकीय या शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है तब भी उसे कदापि निराश नहीं होना चाहिए और हार कर पश्चात्ताप अथवा आर्तध्यान करके नवीन कर्मबन्धन नहीं करने चाहिए। भगवान के आदेशानुसार [illegible] मुझे मानव-जीवन का

लाभ नही मिल सकेगा' ऐसे विचार उसके चित्त मे कभी नही आने चाहिए। ऐसे साधक को केवल यही सोचना चाहिए कि मेरे ज्ञानावरणीय कर्मों का उदय है और इनका उदय मे रहना प्रज्ञा-परिषह है, जिसे मुझे समभाव से सहन करना है।

मानव-जीवन का उद्देश्य

गम्भीरता से विचार किया जाय तो मानव-जीवन का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नही है अपितु आत्मा को कर्मों से मुक्त करना है। हमारा इतिहास तो बताता है कि अनेक प्राणी जिन्होने किताबी ज्ञान प्राप्त नही किया वे भी अपनी आत्मा को सरल, शुद्ध एव कषायरहित बनाकर इस ससार से मुक्त हो गये है।

शास्त्र भी कहते हैं—

सव्वारभ-परिग्गह णिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमण समाहीणया य, ऊहएत्तिओ मोक्खो॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८५

अर्थात्—सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियो के प्रति समता और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि—बस इतना मात्र ही मोक्ष है।

गाथा मे मुक्ति की कितनी सरल, स्पष्ट और यथार्थ परिभाषा दी गई है? वस्तुत जिस प्राणी की आत्मा वैर-विरोध, मोह-माया एव कषायो से रहित होती है तथा सासारिक सुखो और भोग-विलास के साधनो के प्रति जिसकी पूर्णतया उपेक्षा होती है, उसकी मुक्ति न हो यह कैसे हो सकता है?

इसलिए प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को भले ही उच्च ज्ञान हासिल न हो सके किन्तु फिर भी अपने वर्तमान जीवन से कदापि निराश न होना चाहिए तथा ज्ञान-प्राप्ति न होने पर भी आर्तध्यान, खेद, दु ख या हीनता का भाव मन मे न लाते हुए अपने मानस को सरल, कषायरहित, सेवा, त्याग, सद्भाव एव तपादि सद्गुणो से युक्त बनाते हुए जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि जो व्यक्ति उच्च ज्ञान प्राप्त करता है वही मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। अगर ऐसा होता तो अर्जुनमाली जैसा हत्यारा और अगुलिमाल जैसा क्रूर डाकू किस प्रकार ससार से मुक्त होता? प्रत्येक मुमुक्षु को यह विश्वास रखना चाहिए कि आत्मा कर्मों से कितनी भी बोझिल क्यो न हो अगर प्राणी उसे शुभ और दृढ सकल्प के द्वारा पापो से बचाता रहे तो शनै-शनै वह मुक्ति की ओर निश्चय ही बढेगी। भले ही यह

दिन भगवान मिलते है। मैं मूर्ख और अपढ हूँ, पर क्या मुझे भगवान केवल एक दिन भी दर्शन नही देंगे ?'

उसके मन मे वडी उथल-पुथल मच गई और सारी रात वह भगवान के दर्शन की उत्कण्ठा लिये जागता रहा। अगले दिन वह पौ फटने से पहले ही गगा की ओर दौडा। वह सोच रहा था कि भगवान कही पडितजी को दर्शन देकर चले न जाँय।

गगा के तट पर पहुँचते ही उसने अपने कपडे उतारे और जल मे छलाग लगा दी। पानी के अन्दर ही वह हाथ जोडकर और पालथी लगाकर वैठ गया तथा मन ही मन भगवान को पुकारने लगा।

इधर गगा-स्नान के लिए आते हुए पडितजी ने जव उसे नदी मे कूदते हुए और शीघ्र वापिस निकलते हुए नही देखा तो सोचने लगे—'यह मूर्ख पानी मे ही मर जाएगा और मेरे सिर हत्या आएगी', यह सोचकर आसपास के लोगो को अपनी सफाई देते हुए देखी हुई सारी घटना वता दी।

लोग भी एक प्राणी की जान जाती देखकर चिन्ता मे पड गए और तैरना जानने वालो को पुकार कर शोरगुल मचाने लगे। इसी मे काफी समय निकल गया।

किन्तु सच्चा भक्त पानी मे हठपूर्वक आसन जमाये वैठा था और कह रहा था—"प्रभु! आज तो आपके दर्शन किये विना बाहर नही निकलूंगा चाहे जान चली जाय।"

सच्चे भक्त की पुकार सचमुच ही भगवान को सुननी पडती है, और हुआ भी यही। किसान की निश्छल पुकार को सुनकर और यह भली-भाँति समझकर कि आज यह भोला भक्त जान दे देगा, भगवान को आकर उसे दर्शन देना पडा।

किसान तो मानो निहाल हो गया और उनके चरणो मे गिर पडा। भगवान ने पूछा—"वत्स! तूने मुझे जीत लिया है, अव बोल क्या चाहता है ?"

गद्गद होकर वह बोला—"प्रभो! आपके दर्शन हो गये फिर मेरे लिए और क्या माँगने को रह गया ? मुझे कुछ नही चाहिए, दर्शन ही चाहिए थे वह हो गये। मेरा तो जीवन धन्य हो गया।"

अव किसान खुशी से फूला न समाता हुआ पानी से बाहर आया। किनारे पर भीड इकट्ठी हो गई थी और पडितजी भी राम-नाम जपते हुए एक ओर खडे थे। लोग तो लाश के स्थान पर किसान को बडे आनन्द से आता हुआ

अर्थात्—जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एव जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एव मरणरहित मुक्ति का अधिकारी होता है।

तो बन्धुओ, ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षय होने पर ज्ञान प्राप्त होना बडे सौभाग्य की बात है किन्तु उसके प्राप्त न होने पर भी अपने जीवन को निरर्थक मानना उचित नही है। मोक्ष-पथ के पथिक को तो दोनो ही अवस्थाओ मे समभाव रखना चाहिए। स्वय को बुद्धिहीन समझकर साधक को अपनी बुद्धि अथवा प्रज्ञा की मन्दता पर दु ख करते हुए आर्तध्यान न करके उसे प्रज्ञा-परिषह समझना चाहिए तथा उस पर विजय प्राप्त करके सवर-मार्ग पर दृढ कदमो से बढना चाहिए।

○

अर्थात्—जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एव जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एव मरणरहित मुक्ति का अधिकारी होता है।

तो वन्धुओ, ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षय होने पर ज्ञान प्राप्त होना बडे सौभाग्य की बात है किन्तु उसके प्राप्त न होने पर भी अपने जीवन को निरर्थक मानना उचित नही है। मोक्ष-पथ के पथिक को तो दोनो ही अवस्थाओ मे समभाव रखना चाहिए। स्वय को बुद्धिहीन समझकर साधक को अपनी बुद्धि अथवा प्रज्ञा की मन्दता पर दु ख करते हुए आर्तध्यान न करके उसे प्रज्ञा-परिषह समझना चाहिए तथा उस पर विजय प्राप्त करके सवर-मार्ग पर दृढ कदमो से बढना चाहिए।

O

२

गहना कर्मणो गतिः

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव बहनो !

हमारा कल का विषय 'प्रज्ञा-परिषह' था। उसमे वताया गया था कि अगर साधक मे बुद्धि या प्रज्ञा की प्रचुरता है तो वह उसका गर्व न करे तथा प्रज्ञा की मन्दता हो तो उसके लिए मन मे खेद न लावे। यह स्वाभाविक है कि लोग साधु से विविध विषयो पर प्रश्न करते हैं, किन्तु अगर वह उनके उत्तर देने की क्षमता न रखता हो और प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा का समाधान न कर पाता हो तो भी वह कदापि यह विचार न करे कि—"मैं अज्ञानी हूँ, मन्दवुद्धि हूँ अत कुछ भी नही जानता।" ऐसी स्थिति मे साधक को केवल यह सोचना चाहिए कि मेरे ज्ञानावरणीय कर्मों का अभी क्षय नही हुआ है और मुझे उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न करना है।

इसी विषय पर श्री उत्तराध्ययन सूत्र की अगली गाथा मे कहा गया है—

अह पच्छा उइज्जति, कम्माऽणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागय ॥

—अध्ययन २, गाथा ४१

इस गाथा मे भगवान ने कर्मों की गहनता बताते हुए कहा है कि बधे हुए कर्म कभी अल्पकाल मे, कभी अधिक काल मे या उसके वाद भी उदय मे अवश्य आते हैं। इसलिए उनका उदय होने पर शोक या दुख न करते हुए प्राणी को यह विचार करना चाहिए कि—"ये कर्म मैंने अज्ञानवश किये हैं अत इन्हें भोगना ही पडेगा। निरर्थक दुख करने पर तो नये कर्म और भी मेरी आत्मा को जकड लेंगे। अत मुझे समतापूर्वक इन्हे सहन करना है।"

वस्तुत '**गहना कर्मणो गति.**' यह उक्ति यथार्थ है। शास्त्रो मे अनेक स्थानो पर वताया गया है कि कर्म एक-दो जन्म तक तो क्या अनेक जन्मो तक

भी जीव का पीछा नही छोडते और वह उनके अनुसार नाना योनियो मे घोर दु ख पाता रहता है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के तीसरे अध्याय मे कर्मों की विचित्रता वताते हुए कहा गया है—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल वुक्कसो।
तओ कीड पयंगो य, तओ कुंथु पिवीलिया ॥

अर्थात् कर्मों के कारण ही जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्णशकर तथा कभी-कभी कीट, पतगा, कु थुआ और चीटी के रूप मे आ जाता है।

कर्मों के करिश्मे

नन्दन मणिहार वडा समृद्ध व्यक्ति था। वह अपार ऋद्धि का स्वामी था किन्तु भगवान महावीर का सच्चा श्रावक था। एक महीने मे छ पौषध एव उपवास, वेले, तेले आदि की तपस्या भी किया करता था।

किन्तु जब तक भगवान महावीर के उपदेश वह सुनता रहा, तव तक तो उसकी भावनाएँ दृढ रही और जब वे प्राप्त नही हुए तो विचार करने लगा—"अब छोटे-छोटे सतो से क्या उपदेश सुनना ?" परिणाम यह हुआ कि इन सतो की सगति छूट गई और अन्य मत के सतो की सगति बढी। इस कारण व्रत-वन्धन भी ढीले पड गये।

एक बार नन्दन मणिहार ने तेला किया। गर्मी के दिन थे अत जिह्वा सूखने लगी। उस समय उसे विचार आया कि तेला करने से मेरी यह हालत हो गई है पर जिन गरीबो को पीने के लिए पानी नही मिलता, उनकी क्या दशा होती होगी ? उसकी भावना वदली और राजा श्रेणिक की आज्ञा लेकर उसने जगह-जगह कुएँ, वावडियाँ वनवाई और भूखो को भोजन प्राप्त हो, इसके लिए दानशाला भी खुलवा दी।

यद्यपि दान मे पाप नही था किन्तु तप-त्याग के प्रति उसकी उदासीनता हो गई और जो समय वह आत्मचिंतन एव धर्माराधन मे लगाता था, वह समय दूसरे कर्मो मे व्यतीत करने लगा। कुछ समय पश्चात् उसके शरीर को सोलह भयानक रोगो ने जकड लिया। उसने मुनादी भी करवाई कि 'जो कोई मेरा एक भी रोग दूर करेगा उसे मुँह माँगा इनाम दूंगा।' पर किसी के द्वारा उसे रोग से मुक्ति नही मिल सकी और उसका अन्तिम समय आ गया।

यद्यपि अन्तिम समय मे बारह व्रतधारी श्रावक के हृदय मे पूर्ण समाधि भाव होना चाहिए था पर नन्दन मणिहार सतो की सगति छोड चुका था और

भगवान के उपदेशों का अस्तित्व भी उसके हृदय से मिट गया था। अत जैसा कि उसने अपने जीवन का पिछला समय व्यतीत किया था—दानशाला व वावडी आदि वनवाने मे, उन्ही का उस समय उसे स्मरण रहा और ध्यान आया—"अरे ! मैंने दानशाला वनवाई, वावडी खुदवाई, पर उन्हे आँखो से देख भी नही सका।" वस, इन्ही भावनाओ के कारण वह अपनी ही खुदवाई वावडी मे मेढक वन गया।

ऐसी होती है कर्मों की विचित्रता। नन्दन मणिहार ने अपनी भावनाओ के अनुसार कर्मों का वन्ध किया और उनका फल पाया। प्रथम तो उसने यह विचार किया कि "छोटे सतो का उपदेश क्या सुनना ?" जिससे ऐसे वन्ध किये कि शरीर रोगो से भर गया। उसके पश्चात् अन्तिम समय तक अपनी खुदवाई हुई वावडी मे आसक्ति रहने के कारण उसमे मेढक वना।

कौन वडा और कौन छोटा ?

वन्धुओ, यहाँ ध्यान मे रखने की वात यह है कि सतो को वडा और छोटा समझना व्यक्ति की वडी भारी भूल है। आखिर आप वडे और छोटे की पहचान किस प्रकार करते हैं ? यह समव है कि ज्ञानावरणीय कर्मों का अधिक क्षय होने के कारण कोई सत अधिक विद्वत्ता हासिल कर लेते है और वे आपको अधिक उपदेश दे सकते हैं और जिन्हे आप छोटा मानते है वे कम बोल पाते हैं। किन्तु वे भी तो जो कुछ कहते हैं, वीतराग के वचनो मे से ही आपको सुनाते है। फिर अधिक उपदेश देने वाला वडा और कम उपदेश देने वाला छोटा क्योकर हुआ ? क्या अधिक उपदेश सुनकर उन सभी को आप अमल मे लाते है और कम सुना हुआ ग्रहण नही कर पाते ?

मेरे भाइयो ! अमल मे लाने वाला जिज्ञासु श्रोता तो दो वाक्य सुनकर भी अपने जीवन मे आमूल परिवर्तन कर सकता है और आपको तो वडे-वडे सतो के उपदेश सुनते हुए वरसो वीत गये पर आप वही हैं जहाँ थे। फिर सतो को छोटा-वडा कहने का आपको क्या अधिकार है ? और उससे लाभ भी क्या है ?

इसके अलावा मैं समझता हूँ कि जिन सतो के स्थान पर अधिक दर्शनार्थी आया करते हैं और जिनके चातुर्मासो मे अधिक धन व्यय होता है, उन्हे भी आप वडा मान लेते हैं। क्या वडप्पन का यही नाप है ? नही, साधु का वडप्पन अपने महाव्रतो का भली-भाँति पालन करने मे और साधनामय जीवन विताने मे है। इस दृष्टि से गुदडी मे लाल के समान आपको ऐसे-ऐसे सत मिल सकते है जो भले ही उपदेश नही दे सकते और जिनके यहाँ दर्शनार्थियो की धकापेल भी नही होती पर वे यथार्थ रूप मे वडे और महान् सत कहलाने के अधिकारी

भी जीव का पीछा नही छोडते और वह उनके अनुसार नाना योनियो मे घोर दु ख पाता रहता है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के तीसरे अध्याय मे कर्मों की विचित्रता बताते हुए कहा गया है—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चडाल वुक्कसो।
तओ कीड पयंगो य, तओ कुथु पिवीलिया ॥

अर्थात् कर्मों के कारण ही जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्णशकर तथा कभी-कभी कीट, पतगा, कु थुआ और चीटी के रूप मे आ जाता है।

कर्मों के करिश्मे

नन्दन मणिहार बडा समृद्ध व्यक्ति था। वह अपार ऋद्धि का स्वामी था किन्तु भगवान महावीर का सच्चा श्रावक था। एक महीने मे छ पौषध एव उपवास, वेले, तेले आदि की तपस्या भी किया करता था।

किन्तु जब तक भगवान महावीर के उपदेश वह सुनता रहा, तब तक तो उसकी भावनाएँ दृढ रही और जब वे प्राप्त नही हुए तो विचार करने लगा—"अब छोटे-छोटे सतो से क्या उपदेश सुनना ?" परिणाम यह हुआ कि इन सतो की सगति छूट गई और अन्य मत के सतो की सगति बढी। इस कारण व्रत-बन्धन भी ढीले पड गये।

एक बार नन्दन मणिहार ने तेला किया। गर्मी के दिन थे अत जिह्वा सूखने लगी। उस समय उसे विचार आया कि तेला करने से मेरी यह हालत हो गई है पर जिन गरीबो को पीने के लिए पानी नही मिलता, उनकी क्या दशा होती होगी ? उसकी भावना वदली और राजा श्रेणिक की आज्ञा लेकर उसने जगह-जगह कुएँ, बावडियाँ बनवाई और भूखो को भोजन प्राप्त हो, इसके लिए दानशाला भी खुलवा दी।

यद्यपि दान मे पाप नही था किन्तु तप-त्याग के प्रति उसकी उदासीनता हो गई और जो समय वह आत्मचिंतन एव धर्माराधन मे लगाता था, वह समय दूसरे कर्मों मे व्यतीत करने लगा। कुछ समय पश्चात् उसके शरीर को सोलह भयानक रोगो ने जकड लिया। उसने मुनादी भी करवाई कि 'जो कोई मेरा एक भी रोग दूर करेगा उसे मुँह माँगा इनाम दूँगा।' पर किसी के द्वारा उसे रोग से मुक्ति नही मिल सकी और उसका अन्तिम समय आ गया।

यद्यपि अन्तिम समय मे बारह व्रतधारी श्रावक के हृदय मे पूर्ण समाधि भाव होना चाहिए था पर नन्दन मणिहार सतो की सगति छोड चुका था और

भगवान के उपदेशो का अस्तित्व भी उसके हृदय से मिट गया था। अत जैसा कि उसने अपने जीवन का पिछला समय व्यतीत किया था—दानशाला व बावडी आदि बनवाने मे, उन्ही का उस समय उसे स्मरण रहा और ध्यान आया—"अरे! मैंने दानशाला बनवाई, बावडी खुदवाई, पर उन्हे आँखो से देख भी नही सका।" बस, इन्ही भावनाओ के कारण वह अपनी ही खुदवाई बावडी मे मेढक बन गया।

ऐसी होती है कर्मों की विचित्रता। नन्दन मणिहार ने अपनी भावनाओ के अनुसार कर्मों का बन्ध किया और उनका फल पाया। प्रथम तो उसने यह विचार किया कि "छोटे सतो का उपदेश क्या सुनना?" जिससे ऐसे बन्ध किये कि शरीर रोगो से भर गया। उसके पश्चात् अन्तिम समय तक अपनी खुदवाई हुई बावडी मे आसक्ति रहने के कारण उसमें मेढक बना।

कौन बडा और कौन छोटा?

बन्धुओ, यहाँ ध्यान मे रखने की बात यह है कि सतो को बडा और छोटा समझना व्यक्ति की बडी भारी भूल है। आखिर आप बडे और छोटे की पहचान किस प्रकार करते हैं? यह सभव है कि ज्ञानावरणीय कर्मो का अधिक क्षय होने के कारण कोई सत अधिक विद्वत्ता हासिल कर लेते है और वे आपको अधिक उपदेश दे सकते हैं और जिन्हे आप छोटा मानते है वे कम बोल पाते है। किन्तु वे भी तो जो कुछ कहते हैं, वीतराग के वचनो मे से ही आपको सुनाते है। फिर अधिक उपदेश देने वाला बडा और कम उपदेश देने वाला छोटा क्योकर हुआ? क्या अधिक उपदेश सुनकर उन सभी को आप अमल मे लाते हैं और कम सुना हुआ ग्रहण नही कर पाते?

मेरे भाइयो! अमल मे लाने वाला जिज्ञासु श्रोता तो दो वाक्य सुनकर भी अपने जीवन मे आमूल परिवर्तन कर सकता है और आपको तो बडे-बडे सतो के उपदेश सुनते हुए बरसो बीत गये पर आप वही हैं जहाँ थे। फिर सतो को छोटा-बडा कहने का आपको क्या अधिकार है? और उससे लाभ भी क्या है?

इसके अलावा मैं समझता हूँ कि जिन सतो के स्थान पर अधिक दर्शनार्थी आया करते है और जिनके चातुर्मासो मे अधिक धन व्यय होता है, उन्हे भी आप बडा मान लेते हैं। क्या बडप्पन का यही नाप है? नही, साधु का बडप्पन अपने महाव्रतो का भली-भाँति पालन करने मे और साधनामय जीवन बिताने मे है। इस दृष्टि से गुदडी मे लाल के समान आपको ऐसे-ऐसे सत मिल सकते है जो भले ही उपदेश नही दे सकते और जिनके यहाँ दर्शनार्थियो की धकापेल भी नही होती पर वे यथार्थ रूप मे बडे और महान् सत कहलाने के अधिकारी

होते है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को सत के वडप्पन और छोटेपन का विचार किये बिना उनके द्वारा प्रदत्त वीतराग-वाणी को चाहे वह कम मात्रा मे हो या अधिक मात्रा मे, ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

नन्दन मणिहार ने भगवान के अलावा अन्य मतो को छोटा मानकर उनकी अवज्ञा की इस भावना के कारण प्रथम तो उसके शरीर मे रोगो ने घर किया और अन्त समय मे आसक्ति की भावना वनी रहने से उसे अपनी ही वावडी मे मेढक के रूप मे जन्म लेना पडा। पर फिर भी उसके कृत पुण्यो का मचय था और उनके प्रभाव से फिर उसके जीवन ने पलटा खाया।

वह इस प्रकार कि जव वह अपनी ही वावडी मे मेढक के रूप मे समय व्यतीत कर रहा था, एक वार कुछ व्यक्ति वावडी पर आकर नन्दन मणिहार के दानादि गुणो की सराहना करने लगे। मेढक मज्ञी था और एक ही जन्म का वीच मे अन्तराल था। अत लोगो के द्वारा वोले गये शब्द उसे परिचित लगे और पुण्योदय से उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। फलस्वरूप उसे अपना नन्दन मणिहार वाला जीवन करककणवत् दिखाई देने लगा। ऐसा होते ही वह चिंतन मे लीन हो गया और पश्चात्ताप करने लगा कि 'मैंने किस प्रकार वडे और छोटे का मन मे भेद-भाव लाकर सतो की सगति त्यागी थी, जिसके परिणामस्वरूप अपनी त्याग-तपस्या को छोडकर आज मनुष्यगति से तिर्यचगति मे आ पडा हूँ।'

घोर पश्चात्ताप करते हुए नन्दन मणिहार के जीव मेढक ने सोचा—"हे आत्मन् ! जो कर्म किये थे वे तो भुगतने ही पडेंगे पर फिर भी कोई हर्ज नही, अब भी चेत जाऊँ तो ठीक है।"

यह विचारकर उसने श्रावक के ग्यारह व्रत पुन धारण किये क्योकि वारहवाँ व्रत दान देना तो तिर्यंचगति मे सम्भव नही था। उसने वेला करना भी प्रारम्भ कर दिया और आत्म-चिन्तन मे लीन हो गया।

सौभाग्य से भगवान महावीर पुन उस शहर मे पधारे और मेढक को वावडी के ऊपर लोगो की वातो से यह ज्ञात हुआ कि राजा श्रेणिक एव मभी सेठ-साहूकार उनके दर्शनार्थ जा रहे हैं। मेढक के हृदय मे भी अपार श्रद्धा उमडी और उसकी इच्छा महावीर भगवान के दर्शन करने की हुई। फलस्वरूप वह वावडी से वाहर निकला और धीरे-धीरे उसी मार्ग पर चल दिया जिस पर होकर अनेक दर्शनार्थी जा रहे थे। मेढक का हृदय आनन्द विभोर एव श्रद्धा से विगलित हो रहा था कि आज भगवान के दर्शन कर सकूँगा। किन्तु कर्म बली होते हैं, वे किसी जीव की भावनाओ को नही देखते। मेढक के अशुभ कर्मों का भी उदय हुआ और वह भगवान के दर्शन नही कर सका।

ठीक उसी समय जबकि वह शनै -शनै आगे-आगे बढ रहा था, महाराज श्रेणिक भी ससैन्य उधर से गुजरे। फिर क्या था, श्रेणिक के घोडे की एक टॉप पडते ही मेढक घायल होकर मरणासन्न हो गया। किन्तु उस समय भी उसकी भावना दृढ श्रद्धा, आस्था एव समता से परिपूर्ण थी। उसने विचार किया—"भगवान के दर्शन करने जा रहा था पर कर्मों के चक्र मे पडने से पहुँच नही सका अत यही से उन्हे वन्दन-नमस्कार करता हूँ।" इस प्रकार पूर्ण सम-भाव रखने के कारण अगले ही क्षण वह मृत्यु को प्राप्त होकर सीधा स्वर्ग-लोक मे पहुँच गया।

महावीराष्टक मे चौथा श्लोक इसी विषय पर है। वह इस प्रकार है—

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह,
क्षणादासीत् स्वर्गी गुणगण-समृद्ध सुखनिधि।
लभन्ते सद्भक्ता शिवसुख-समाज किमु तदा?
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥

इस श्लोक के द्वारा यही प्रार्थना की गई है कि—"हे प्रभो! प्रमुदित हृदय से तो आपकी शरण मे आने पर जब दर्दुर मेढक जैसे तिर्यंच भी क्षण भर मे ही गुणो के समूह से समृद्ध स्वर्ग मे पहुँच सकते हैं तो फिर हम मनुष्य क्यो नही आपकी आराधना करने पर शुभ गति की प्राप्ति कर सकते हैं?"

पर बन्धुओ, ऐसा होगा कब? तभी, जबकि हमारी भावनाएँ पूर्णतया विशुद्ध होगी। हमारे हृदयो से विषय-विकारो का निष्कासन होगा और अपने पापो के लिए सच्चा पश्चात्ताप होगा। ससार को बढाने और घटाने का मुख्य कारण मन की भावनाएँ ही होती हैं। अगर भावनाएँ कलुषित अथवा राग-द्वेष से परिपूर्ण रही तो व्यक्ति चाहे श्रावक के व्रत धारण करले अथवा साधु के बाने को अपना ले, इससे कोई लाभ होने वाला नही है। अन्त मे तो उसे पश्चात्ताप करना ही पडेगा कि मैंने सम्पूर्ण क्रियाएँ मात्र दिखावे के लिए की थी।

किसी गुजराती कवि ने ऐसे ही पश्चात्ताप को पद्यो मे अकित करते हुए लिखा है—

ठगवा विभु! आ विश्व ने
वैराग्य ना रगो धर्या।
ने धर्म नो उपदेश रंजन,
लोक ने करवा कर्या॥

विद्या भण्यो हूँ वाद माटे,
केटली कथनी कहूँ ।
साधु थई ने बाहर थी,
दाम्भिक अंदर थी रहूँ ।।

इन पद्यो से स्पष्ट है कि भले ही व्यक्ति अपने-आपको वैरागी साबित करने के लिए सफेद या गेरुए वस्त्र धारण करले और लच्छेदार भाषा मे उपदेश देकर लोगो को प्रसन्न करदे । इतना ही नही वाद-विवाद करके अपनी विद्वत्ता का सिक्का औरो पर जमा दे तथा सम्पूर्ण क्रियाएँ साधुता का प्रदर्शन करने वाली करने लग जाय, किन्तु अगर उसके अन्तर्मानस को वे छूती न हो और वह दभ से भरा हुआ हो तो सब वृथा हो जाता है और अन्त मे कहना पडता है—

भूत भावी ने साप्रत तणे,
भव नाथ हूँ हारी गयो ।
स्वामी त्रिशकु जेम हूँ,
आकाश मा लटकी रह्यो ।।

वस्तुत बाह्यवेश एव बाह्य क्रियाओ के ठीक होने पर भी अगर भावनाएँ इनके अनुसार न होकर उलटी और विकृत होती है तो मनुष्य त्रिशकु के समान ही बीच मे रह जाता है । न तो वह इस लोक के सुख या यश को स्थायी रख पाता है और न ही पर-लोक मे शुभ फल की प्राप्ति कर पाता है । इसलिए साधक को या गृहस्थ को अपने बाह्य आचरण के अनुसार ही मन की भावनाओ को भी साधना चाहिए ताकि कर्म-बन्धनो से बचा जा सके और पूर्णतया बचाव न भी हो सके तो कम से कम निविड कर्म तो न बँधे । कर्मो के हलकेपन और चिकनेपन पर शास्त्रो मे एक उदाहरण आता है—

एक बार गौतमस्वामी भगवान की आज्ञा लेकर आहार की गवेषणा के लिए गये । चलते-चलते जब वे एक घर के द्वार पर पहुँचे तो देखा कि गृहस्वामिनी दरवाजे पर बैठी हुई सब्जी सुधार रही थी । यह देखकर मुनि आगे बढ गये ।

जब उस बहन ने मुनिराज को द्वार पर से लौटते हुए देखा तो उसे घोर पश्चात्ताप हुआ कि—'अगर मैं इस प्रकार दरवाजे मे बैठकर वनस्पति का छेदन न कर रही होती तो सन्त मेरे द्वार से खाली नही लौटते ।'

इधर गौतमस्वामी जब दूसरे घर की ओर गए तो सयोगवश उस घर की बहन भी हरी सब्जी ही तैयार कर रही थी । मुनि वहाँ से भी चल दिये ।

किन्तु उस वहन के दिल मे यह भावना आई कि—'मैं रास्ते मे वैठी थी अत सन्त लौट गये हैं, पर कुछ समय पश्चात् घूम-फिरकर आ जाएँगे ।'

गौतम स्वामी जब आहार लेकर अपने स्थान पर लौटे तो उन्होने उत्सुकता-वश भगवान से पूछ लिया—"भगवन् ! आज मुझे दो घरो पर एक जैसा सयोग मिला था । कृपया वताइये कि दोनो घर की वहनो मे से किसके कर्म अधिक वँधे ?"

भगवान ने फरमाया—"पहले घर की वहन को तुम्हारे लौट जाने पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ था अत उसके कर्म-बन्धन कम हुए । किन्तु अगले घर की वहन ने सोचा कि सन्त थोडी देर बाद घूम-घामकर आ जाएँगे । उस वहन को अपने पाप पर कोई पछतावा नही हुआ अत उसके ज्यादा पापकर्म वँधे है ।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भावना ही हलके कर्म बाँधती है और भावना ही चिकने । कर्मों का क्षय भी भावना ही करती है और उन्हे इकट्ठा करना भी उसी का कार्य है । भावो की भिन्नता के उदाहरण आप आए दिन देखते भी है, जैसे—तिजोरी की चावी न देने पर डाकू व्यक्ति का शरीर शस्त्र से काट देता है और डॉक्टर रोगी की जान बचाने के लिए उसके शरीर को चीरता है । शस्त्र डाकू और डॉक्टर दोनो ही चलाते है किन्तु डाकू के द्वारा अग-भग किये जाने के पीछे महान् क्रूरता और निर्दयता होती है तथा डॉक्टर के द्वारा शरीर चीरे जाने या कोई सडा हुआ अग काटे जाने के पीछे दया, सहानुभूति, प्राण-दान और कर्तव्य की भावना रहती है । इन कार्यों को देखकर आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार का कार्य करने पर भी चोर-डाकू के कर्म किस प्रकार के वँधेंगे और डॉक्टर के किस प्रकार के ?

कोई भी समझदार व्यक्ति पाप हो जाने पर प्रसन्न नही होता उलटे दु खी होता है, जवकि अज्ञानी व्यक्ति को उससे भय नही लगता । किन्तु उन कर्मों का जव उदय होता है तो मामला उलटा हो जाता है । अर्थात्—अज्ञानी व्यक्ति तो रो-रोकर उन्हे भोगता है और ज्ञानी यह सोचकर कि—"मैंने अज्ञानवश जो कर्म किये है, उन्हे भोगना तो पड़ेगा ही फिर दु ख किसलिए ?" यह विचारता हुआ समतापूर्वक उन्हे सहन कर लेता है ।

'भगवती सूत्र' मे वर्णन आता है कि नरक मे भी जीव समदृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्रदृष्टि होते है । किन्तु समदृष्टि जीव यह सोचते है—"हे आत्मन् ! तूने जैसे कर्म वांधे है उन्हे भुगतना तो पडेगा ही फिर दु खी होकर आर्तध्यान करते हुए नवीन कर्म क्यो वांधना ?" पर मिथ्यादृष्टि वाले नारकीय प्राणी रोते-पीटते है, हाहाकार करते हैं और इस प्रकार अनेकानेक नये कर्म और भी वांधते चले जाते हैं ।

कहने का आशय यही है कि सम्यक्त्वी जीव चाहे मनुष्य हो, तिर्यंच हो या नारकीय, पापकर्मों के फल उन्हे भोगने ही पडते है और उनके अनुसार दु ख और वेदना भी उन्हे उतनी ही होती है जितनी मिथ्यात्वी जीवो को होती है। किन्तु मिथ्यात्वी जहाँ रोते-झीकते हुए दु खो को सहन करते हैं वहाँ सम्यक्त्वी कर्मों को पुराना कर्ज समझकर उन्हे समता और शान्ति से चुकाते है। परिणाम यह होता है कि उनके पूर्वकर्मों की निर्जरा तो होती रहती ही है साथ ही नवीन कर्मो की गठडी पुन नही बँधती।

इसीलिए भगवान आदेश देते है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अगर हमे कुशाग्र बुद्धि की प्राप्ति न भी हो तो उसके लिए खेद नही करना चाहिए अपितु पापकर्मों का उदय समझकर उस अभाव को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। इसके साथ ही हमारा मुख्य लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि पूर्व-कर्मों की निर्जरा हो और नवीन कर्मों का उपार्जन न हो क्योकि कर्मों का बन्धन होना तो बहुत सरल है पर उनका भुगतान करना बहुत कठिन हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह श्रावक हो या साधु, उसे वीतराग के वचनो पर विश्वास करते हुए अपनी आत्मा के दोषो को देखना चाहिए और उन्हे दूर करते हुए आत्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि वह अपनी आत्मिक-शक्ति को पहचाने तथा औरो से अपनी तुलना करना छोड दे। अनेक भक्त अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए भगवान से प्रार्थना करते हुए देखे जाते हैं। कोई तो शिव से, कोई राम से, कोई हनुमान से और कोई अन्य देवताओ से याचना करते है कि 'मेरा अमुक कार्य सिद्ध करो।' वे भूल जाते है कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि अपने परिश्रम से और अपने ही आत्मबल से होती हैं। अपनी आत्मा मे जो अनन्त शक्ति छिपी हुई है, उसे न पहचानते हुए अन्य किसी के समक्ष दीन बनकर याचना करने मात्र से कुछ नही होता।

एक सस्कृत के कवि ने चातक को सम्बोधन करते हुए कहा है—

> "रे रे चातक सावधान मनसा मित्र ! क्षणं श्रूयताम्,
> अम्भोदा बहवोऽपि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशा.।
> केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति धरणीं गर्जन्ति केचिद् वृथा,
> य य पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

श्लोक मे कहा गया है—"अरे मित्र चातक ! क्षणभर सावधान होकर मेरी बात सुनो। इस गगन मे अनेक बादल हैं लेकिन सभी समान नही हैं। इनमे से कोई तो बरसकर पृथ्वी को गद्गद करते है और कोई वृथा ही गर्जना

करते रहते है । इसलिए तुम जिस-जिस बादल को भी देखो-उसी के समक्ष दीन बनकर याचना मत करो ।"

चातक के माध्यम से कवि मानव को भी सीख देता है कि आत्मा की अनन्त प्यास मिटाने के लिए तुम मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तथा विभिन्न तीर्थों मे भटकते हुए मत फिरो । क्योकि आत्मा को ससार से मुक्त करने के लिए कोई भी बाह्य शक्ति या कोई भी देवी-देवता समर्थ नही बन सकता । आत्म-मुक्ति केवल आत्म-शक्ति ही करा सकती है । जो साधक वीतराग के वचनो पर अनन्य श्रद्धा रखता हुआ इसे पहचान लेता है और अपनी दृष्टि को बाहर के सम्पूर्ण पदार्थों से हटाकर अन्दर की ओर रखता है वही आत्मानन्द का अनुभव करता है तथा शनै-शनै अपनी अनन्तकाल की प्यास मिटाने मे समर्थ बनता है ।

सच्ची इबादत

कहा जाता है कि एक फ़कीर हज करने के लिए रवाना हुए । यात्रा के दौरान उनकी एक साधु से भेंट हुई और उन्होंने पूछा—"फकीर साहब, आप कहाँ जा रहे है ?"

फकीर ने उत्तर दिया—"हज करने के लिए जा रहा हूँ ।"

साधु ने फिर प्रश्न किया—"वहाँ जाकर आप क्या करेंगे ?"

फकीर साधु की बात से कुछ नाराज होकर बोला—"यह भी कोई पूछने की बात है ? लोग मक्का मदीना किसलिए जाते है ? वहाँ जाकर खुदा की इबादत करूँगा ।"

"पर खुदा की इबादत करने के लिए वहाँ जाने की क्या जरूरत है ? यही क्यो नही आप खुदा की इबादत और हज कर लेते है ?"—साधु ने शात भाव से कहा ।

"वाह ! मक्का मदीना यहाँ कहाँ है जो मैं यहाँ बैठे-बैठे हज कर लूंगा ? सच्ची इबादत तो वही जाकर हो सकती है । तुम कैसे साधु हो जो मक्का मदीना जैसे पाक स्थान पर जाने के लिए मना कर रहे हो ?"

साधु ने मुस्कुराते हुए कहा—"फकीर साहब ! क्या हमारा दिल मक्का मदीना नही है, और उसमे अल्लाह नही होता ? सच्चा हज तो अन्दर की ओर झांकने से ही हो सकता है । बाहर भटकने से नही ।"

फकीर साधु की बात से अत्यन्त प्रभावित हुए और समझ गये कि वास्तव मे ही खुदा हमारे अन्दर हैं और उसकी इबादत के लिए दुनिया का चक्कर

लगाना व्यर्थ है। सच्चा हज तभी हो सकता है जबकि बाहर का ध्यान छोड़कर अन्दर की ओर ध्यान दिया जाय।

बन्धुओ! ऐसे उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति बाह्य-क्रियाओ और बाह्य-आडबरो को ही कर्म-मुक्ति का कारण न मानकर आन्तरिक शुद्धि करते है वे अपने उद्देश्य मे सफल होते है। यहाँ मेरा आशय यह कदापि नही है कि बाह्य-क्रियाएँ की ही न जाँय और उन्हे निरर्थक मानकर छोड दिया जाय मेरा अभिप्राय यही है कि हमारी बाह्य-क्रियाओ और शुभ कर्मों के अनुसार ही हमारी अन्तर्भावनाएँ होनी चाहिए। आप पूजा-पाठ, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, दान एव सेवा आदि जितने भी शुभ कर्म करते है, वे आचरण को उन्नत बनाते है तथा शुभ फल की प्राप्ति कराते है। किन्तु अगर वे सब केवल यश प्राप्ति और लोगो पर अपनी धार्मिकता का सिक्का जमाने के लिए ही किये गये तो उनसे रचमात्र भी लाभ आत्मा को नही होता। आत्मा को लाभ यानी कर्मों की निर्जरा केवल तभी होगी, जबकि आपकी भावनाएँ भी उनके अनुरूप या उनसे बढकर होगी। क्योकि कार्य भले ही एक जैसे किये जाँय, पर कर्म-बन्धन उनके पीछे रही हुई भावनाओ के अनुसार होता है इसमे तनिक भी सशय नही है।

एक श्लोक मे बताया गया है—

मनसैवकृत पापं, न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता, तेनैवालिङ्गिता सुता॥

अर्थात्—पाप शरीर के द्वारा नही अपितु मन के द्वारा होता है। जिस शरीर मे पत्नी का आलिगन किया जाता है, उसी शरीर से पुत्री का भी। किन्तु एक ही जैसी क्रियाओ मे भावनाओ का कितना अन्तर होता है? एक मे वासना का बाहुल्य होता है और दूसरी मे शुद्ध वात्सल्य का। इसीलिए एक सरीखी क्रियाएँ होने पर भी दोनो के पीछे रही हुई भावनाओ के कारण उनके परिणामो मे आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है।

इसीलिए मै आपसे कह रहा हूँ कि जिनके हृदय मे कलुषित भावनाएँ नही होतीं तथा धन, मान एव यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति का लोभ नही होता उनकी समस्त धर्म-क्रियाएं एव बाह्य-आचरण शुभ-कर्मों के बन्धन मे सहायक बनते है और उन क्रियाओ के करने या न कर पाने पर भी पाप कर्मों का उपार्जन नही होता।

कवि जौक ने अपने एक शेर मे कहा भी है—

सरापा पाक है, धोये जिन्होने हाथ दुनिया से ।
नही हाजत कि वह पानी वहाएँ सर से पावो तक ॥

यानि जो भव्य प्राणी दुनिया से विरक्त हो गये हैं तथा जिनके मन से विषय विकार एव राग-द्वेषादि का कालुष्य वैराग्य के निर्मल जल से धुल चुका है, उन्हे आपाद-मस्तक अपने शरीर को रगड-रगड कर धोने और साफ करने की आवश्यकता ही क्या है ?

वस्तुत जव साधक के मन मे वासनाएँ तथा इच्छाएँ नही रहती तव उसके मन से मित्रता-शत्रुता, ईर्ष्या-द्वेष एव आसक्ति आदि सव कुछ दूर हो जाते हैं । ऐसे व्यक्ति को फिर दिखावे के लिए धर्म-क्रियाएँ करने की, मक्का मदीना या अन्य तीर्थों मे जाने की तथा गगा-स्नान करके शरीर को शुद्ध करने की जरूरत नही होती ।

मेरे कहने का सार यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम अपने विकार-ग्रस्त मन को साधना चाहिए तथा भावनाओ को शुद्ध एव निष्पाप वनाना चाहिए । ऐसा करने पर ही उसके द्वारा की गई प्रत्येक शुभ-क्रिया एव धर्माचरण अपना सही फल प्रदान करेगा । व्यक्ति पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करेगा और नवीन कर्मों के वन्धनो से वच सकेगा ।

ध्यान मे रखना चाहिए कि कर्मों का वन्धन पल-पल मे होता रहता है। आप और हम सभी जानते हैं कि मन वडा चचल होता है और इसके विचारो का परिवर्तन क्षण-क्षण मे होता रहता है। अत ज्यो-ज्यो मन के विचार या मन की भावनाएँ परिवर्तित होती हैं, त्यो-त्यो उनकी श्रेष्ठता या जघन्यता के अनुसार कर्म वँधते चले जाते है।

तारीफ तो यह है कि ससार मे लिप्त रहने वाले व्यक्ति को पता भी नही चलता और ध्यान भी नही रहता कि आमोद-प्रमोद एव सुख-भोग भोगते हुए उसकी आत्मा तो कर्मों से निरतर वोझिल होती चली जाती है। कर्मों का ध्यान उसे तव आता है, जवकि वे उदय मे आते हैं और आधि-व्याधि या उपाधि के रूप मे अपना भुगतान प्रारम्भ करते हैं। उस समय व्यक्ति रोता है, चीखता है और ईश्वर को कोसता है।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने कहा है—

क-का कर्म की अजब [illegible] है,
मत करना [illegible] ।
[illegible]
[illegible] मुश्किल भारी ॥

पद्य का अर्थ सरल और स्पष्ट है कि कर्मो की गति बडी विचित्र होती है, अत कोई भी नर और नारी इनका उपार्जन मत करना। इन कर्मो को जीव हँसते खेलते बाँध तो सहज ही लेता है। किन्तु जब भोगने का समय आता है तो बडी मुश्किल सामने आती है।

और साहूकार तो हाथ-पैर जोडने पर पैसा लेने मे कभी कमी कर देता है और दया करके व्याज आदि छोड भी देता है, किन्तु पापकर्म रूपी साहूकार तो लाख मिन्नते और प्रार्थनाएँ करने पर भी अपने हिसाब का अशमात्र भी कम नही करता तथा पूरा का पूरा वसूल करके छोडता है।

शास्त्रो मे भी यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है—

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्म।
तमेव आगच्छति सपराए॥

—सूत्रकृताग १-५-२

अर्थात्—अतीत मे जैसा भी कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप मे उपस्थित होता है।

इसीलिए भगवान पुन-पुन जीवो को बोध देते है कि कर्मो की विचित्रता और उनकी बारीकी को समझकर सवर-मार्ग पर चलते हुए पूर्व कर्मो की निर्जरा करो और नवीन कर्मो के सचय से बचो। कर्मो की विचित्रता इससे बढकर और क्या होगी कि बँधे हुए कर्मो के लिए भी खेद, दु ख, शोक या आर्तध्यान करने से उनमे और भी वृद्धि होती जाती है।

इसलिए साधक को बडी सतर्कता और सावधानी से कर्मो के उदय को परिषह समझकर उन्हे भी समभाव और शातिपूर्वक सहन करना चाहिए। हमारा विषय इस समय प्रज्ञा-परिषह को लेकर चल रहा है। साधारण तौर से देखा जाय तो बुद्धि की मन्दता और उसका अभाव होने पर मन को दु ख होना कोई बडी बात नही है और इसके लिए दु ख करना पाप भी दिखाई नही देता।

किन्तु जब हम वीतराग की वाणी को सुनते है और गम्भीर चिंतन करते है तो महसूस होता है कि भगवान का आदेश यथार्थ है और इसमे कही भी शका या सन्देह करना अपने पैरो पर आप ही कुल्हाडी मारना है। प्रज्ञा-परिषह भी ऐसा एक परिषह है जिसे अगर साधक जीत न पाए तो वह अनेक नवीन कर्मो का बन्ध कर देगा तथा आत्मा को ससार मे अधिकाधिक भटकने के लिए बाध्य कर देगा।

इसलिए वन्धुओ, मैं पुन आपको यही स्मरण दिला रहा हूँ कि हमे प्रज्ञा की प्राप्ति के फलस्वरूप ज्ञान हासिल कर लेने पर तनिक भी मन मे गर्व का अनुभव नही करना है और प्रज्ञा के अर्थात् वुद्धि के अभाव मे रचमात्र भी खेद-खिन्न नही होता है । हमे केवल यही विचार करना है कि—'मेरे पापकर्मों के उदय से ही मुझे वुद्धि की प्राप्ति नही हुई और इसीलिए मैं जिज्ञासु व्यक्तियो के द्वारा प्रश्न किये जाने पर अथवा वाद-विवाद करके आध्यात्मिक विषयो को स्पष्ट करने मे असमर्थ हूँ ।'

इस प्रकार अगर मन मे समभाव रहेगा और चित्त मे शाति वनी रहेगी तो निश्चय ही हमारे पूर्व कर्मों का क्षय हो सकेगा और नए कर्मों का वन्धन नही होगा । प्रज्ञा की प्राप्ति पर गर्व और उसके अभाव मे हीनता का अनुभव होना, इन दोनो प्रकार के भावो को हमे जीतना है तथा दोनो स्थितियो मे मन को सम्हालना है । ऐसा करने पर ही हमारी आत्मा इहलोक और परलोक मे सुखी वन सकेगी ।

○

३

सत्य ते असत्य दिसे

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्त्व के सत्तावन भेदो मे से अट्ठाईसवें भेद "प्रज्ञा परिषह" का वर्णन हमने किया था। आज उन्तीसवे भेद **'अन्नाण परिषह'** यानी अज्ञानपरिषह को लेना है।

इस विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की वयालीसवी गाथा मे भगवान ने फरमाया है—

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सु-संवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण-पावग ॥

ससार का प्रवृत्तिमार्ग छोडकर निवृत्तिमार्ग मे प्रवेश करके व्यक्ति पच महाव्रत धारण कर साधु बन जाता है किन्तु ज्ञान प्राप्ति के अभाव मे जब वह दूसरो के द्वारा पूछे गये प्रश्नो का समाधान नही कर पाता तो विचार करने लगता है—"अरे, मैं पावन और कल्याणकारी धर्म को भलीभाँति नही जानता अत दुनियादारी छोडकर मेरा साधुपना लेना और महाव्रतो का धारण करना निरर्थक हो गया।"

साधक के हृदय मे ऐसे विचारो का आना अज्ञानदशा का परिचायक है। अज्ञान के कारण ही वह विचार करता है कि—'इस साधुत्व और व्रत-सयम की अपेक्षा तो ससार के सुखोपभोग अच्छे थे।' किन्तु ऐसा विचार करना साधक के लिए उचित नही है। उसे केवल यही विचार करना चाहिए कि—'मेरे पूर्वोपार्जित कर्मफलो के कारण ही मुझे ज्ञान की प्राप्ति नही हुई है और मैं धर्म के मर्म को समझ नही पाया हूँ पर भगवान के द्वारा निर्देशित सवर-मार्ग पर तो चल सकता हूँ और अपने गृहीत व्रतो का दृढता से पालन कर सकता हूँ। अज्ञान दशा मेरे लिए परिषह है और मुझे उस पर समभाव से विजय प्राप्त करना है।'

अज्ञान के दुष्परिणाम

अज्ञानावस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह श्रावक हो या साधु, महान् अनिष्टकारी है। ऐसी स्थिति मे प्राणी सत्य को असत्य और असली को नकली समझने लगता है। साथ ही वह असली को नकली एव असत्य को ही सत्य मानकर जीवन के उद्देश्य को भूल जाता है तथा सवर-मार्ग से भटककर आश्रव की ओर बढने लगता है। ऐसा व्यक्ति पशु से भी गया बीता माना जा सकता है क्योकि पशु कम से कम अपने मालिक के इशारे पर तो चलता है। मराठी भाषा के एक पद्य मे तो अज्ञानी प्राणी की भर्त्सना करते हुए कहा है—

सत्य ते असत्य दिसे, त्यास या जगी।
बोध करूनी लाभ काय होय मगजनी ॥

कहते है कि ऐसे अभागे व्यक्ति को उपदेश देने से भी क्या लाभ है, जो सत्य को असत्य मानता है और बोध देने पर भी उसे ग्रहण नही करता।

वस्तुत जो बुद्धिहीन तो है ही, साथ ही वीतराग के वचनो पर और सत-महात्माओ के उपदेश देने पर भी सही मार्ग पर नही चलता उसे पशु से गया-बीता कहने मे अत्युक्ति नही है। पशुओ मे इतनी बुद्धि नही होती कि वे स्वय सही मार्ग पर बढ सकें, किन्तु घुडसवार के सकेत करते ही घोडा और गाडीवान के लगाम खीचते ही बैल उनके इशारो को समझ लेते हैं और निर्देशित मार्ग की ओर मुडकर चल पडते है।

पर इसके विपरीत निर्बुद्धि और अज्ञानी व्यक्ति तनिक सा परिषह सामने आते ही श्रावक के व्रतो को या साधु के महाव्रतो को भी निरर्थक मानने लग जाते है और सासारिक सुखो का त्याग कर देने के लिए पश्चात्ताप करते हैं। कदाचित् लोकलज्जा से वे अपने बाने का त्याग नही भी कर पाते, किन्तु मन की भावनाओ से ससार के भोगो मे गृद्ध होकर कर्म-बधन कर लेते हैं।

शास्त्रो मे कहा भी है—

अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्टंति,
मदा मोहेण पाउडा।

—आचारागसूत्र १-२-२

अर्थात्—अज्ञानी साधक सकट आने पर धर्मशासन की अवज्ञा करके फिर ससार की ओर लौट पडते हैं।

सकट का अर्थ परिषह ही है। अज्ञान परिषह भी सकट है और जो साधक इसे नही जीत पाते वे या तो अपने व्रत, वेश एव इनके योग्य आचरणो का भी,

त्याग करके पुन ससार मे लिप्त हो जाते है और नही तो अपनी अवस्था पर पश्चात्ताप करते हुए भावनाओ से उसमे गृद्ध रहते है। दोनो ही स्थितियाँ घोर कर्म-बन्धन का कारण बनती है। मुख्य रूप से तो भावनाएँ पहले आत्मा को पतित करती है और उसके पश्चात् आचरण को।

जब अज्ञान का अँधेरा आत्मा पर छा जाता है तो साधु अपने सयम से विचलित हो जाता है और श्रावक अपने व्रतो से। अनेक व्यक्ति तो लोकलज्जा मे दान देकर भी बाद मे उसके लिए पश्चात्ताप करते है और उनसे जघन्य व्यक्ति आहार दान देकर भी अफसोस करने लगते है। इन सबका परिणाम कर्म-बन्धन ही होता है। साधक साधना की क्रियाओ को करता हुआ भी अगर खेदखिन्न बना रहता है तो उसकी साधना उसी प्रकार निष्फल जाती है, जैसे—

जहण्हाउतिण्ण गओ, बहुअंतरं रेणुय छुभइ अंगे।
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणो मल चिणइ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ११४७

अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सारी धूल सूँड से अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल सचय करता जाता है।

होना तो यह चाहिए कि साधक जिस निष्ठा और उत्साह से साधना-मार्ग को ग्रहण करता है, उससे भी अधिक श्रद्धा और दृढतापूर्वक सम्पूर्ण सकटो या परिषहो पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने निर्वाचित मार्ग पर बढता चले किन्तु ऐसा सभी कर नही पाते क्योकि सभी की आस्था एव परिषहो को सहने की शक्ति समान नही होती।

इसी विषय को लेकर 'ठाणागसूत्र' मे चार प्रकार के पुरुषो का वर्णन किया है—

प्रथम प्रकार के पुरुष के विषय मे कहा गया है कि वह सियार के समान डरता हुआ व्रतो को ग्रहण करता है, किन्तु धीरे-धीरे दृढता धारण करता हुआ सिंह के समान उनका पालन करता है। अर्थात् कभी किसी के उपदेश को सुनकर भावुकता मे आकर और कभी किसी की देखादेखी मे भी व्रत ग्रहण कर लेता है। उस समय तो उसका मन कमजोर होता है किन्तु शनै-शनै वह दृढता धारण कर लेता है और फिर मन एव इन्द्रियो पर पूर्ण कण्ट्रोल करके शेर के समान व्रतो का पालन करता हुआ साधना के पथ पर बढा चला जाता है।

हरिकेशी मुनि के विषय मे आप जानते ही है कि उनका जन्म चाण्डाल कुल मे हुआ था तथा अपने अति अपमान एव भर्त्सना से दुखी होकर उन्होंने

मयम का मार्ग अपनाया था। उच्च जाति एव अपने आपको उच्च कुल का मानने वाले व्यक्तियो ने फिर भी उनका अनादर करने की कोशिश मे कमी नही रखी, किन्तु उन्होंने पूर्ण जितेन्द्रिय एव क्षमा के सागर वनकर पूर्ण मिह वृत्ति से सयम का पालन किया तथा अपने साथ दुर्व्यवहार करने वालो को भी सही मार्ग वताया। तभी कहा गया है—

सोवागकुलसभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ॥

अव नम्बर आता है दूसरे प्रकार के पुरुष का। इस विषय मे कहा गया है कि इस प्रकार का साधक मिह के समान व्रत ग्रहण करता है और सिंह के समान ही उनका पालन करता है। इस श्रेणी के साधको के अनेकानेक उदाहरण हमारे धर्मग्रन्थो मे पाये जाते हैं। मुनि गजसुकुमाल ने तो केवल आठ वर्ष की अल्पवय मे ही मुनिधर्म अगीकार कर लिया था तथा उमी दिन अपने ससुर मोमिल ब्राह्मण के द्वारा मस्तक पर धधकने अगारे रखने पर भी अपने परिणामो को रचमात्र भी विचलित नही होने दिया। वालवय मे ही सिंहवृत्ति से सयम अपनाना और उमी वृत्ति से पालन कर लेने का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है? सच्चे साधक इसी प्रकार महाव्रत ग्रहण करते हैं और पूर्णतया निर्भय रहकर मरणातक परिपहो से भी विचलित न होते हुए उनका पालन करके सदा के लिए ससार-मुक्त हो जाते हैं।

'ठाणागसूत्र' के अनुसार तीमरे प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो प्रारम्भ मे तो मिह के ममान गर्जना करते हुए व्रत धारण करते हैं, किन्तु उसके पश्चात् सयम के मार्ग मे आने वाली छोटी-छोटी वाधाओं और [illegible] से घबराते हुए किसी न किसी प्रकार सियार के समान रोते-रोते उनका पालन करते हैं। अज्ञान-परिपह के सामने आने पर, और उनसे घवरा जाने वाले व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। वुद्धि के अभाव मे जव वह ज्ञान हासिल नहीं कर पाते और लोगो के द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर नही दे [illegible] अज्ञान के कारण विचार करने लगते है कि—"मैंने व्यर्थ ही [illegible] लिया। अगर ससार मे रहता तो सासारिक सुखो का [illegible] अज्ञान के कारण ही उन्हे सयम मे दु ख और सासारिक [illegible] लगता है। कभी-कभी [illegible] या उनसे अधिक [illegible] अगर [illegible] सोचते हैं, [illegible] रहना। कहने का [illegible] कि अज्ञान के [illegible] से आने वाले कष्टो से [illegible] अपने [illegible] करते रहते हैं और [illegible]

नवीन कर्मों का सचय कर लेते है। इसी को रोते-रोते व्रतो का पालन करना कहा जाता है।

चौथे प्रकार के पुरुप सबसे निकृष्ट कहलाते है। वे सियार के समान रोते-रोते व्रत ग्रहण करते है और उसी प्रकार उनका पालन करते है। ऐसे व्यक्ति कभी गृह-कलह के कारण, कभी निर्धनता के कारण और कभी पुरुपार्थ मे प्रमाद होने के कारण मुनि बन जाते हैं, किन्तु मन की ऐसी निर्बलता को लेकर वे साधना के पथ पर भी किस प्रकार निर्भय होकर चल सकते है? केवल लोक-लज्जा के कारण ही कि साधुपना छोडने पर दुनिया क्या कहेगी, वे चलते अवश्य है पर अपनी आत्मा का भला रचमात्र भी नही कर पाते। क्योकि मुनिवृत्ति कोई सरल चीज नही है अपितु वडी कठिन है और निर्बल तथा कदम-कदम पर रोने वाली आत्माएँ इस पर गमन नही कर सकती।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

> जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्कर।
> जहा भुयाहिं तरिउ, दुक्करं रयणायरो।
> जहा तुलाए तोलेउ, दुक्कर मन्दरोगिरी।

अर्थात्—मुनिवृत्ति मोम के दाँतो से लोहे के चने चबाना है या भुजाओ से अथाह सागर को तैर कर पार करना है अथवा सुमेरु पर्वत को तुला पर रख कर तोलना है।

वस्तुत मुनिवृत्ति एक ऐसी महान् कसौटी है जिस पर साधक के सयम, धैर्य, साहस, शाति, सहनशीलता एव शुद्धता, सभी की परीक्षा हो जाती है। इस जवर्दस्त कसौटी पर सिंह के समान वीर पुरुप ही खरे उतर सकते है। कायर और अज्ञानी प्रथम तो इसे ग्रहण ही नही कर पाते और कदाचित ग्रहण कर भी लेते है तो विरले ही उसे यथाविधि पालन करते है अन्यथा सियार के समान रोते-धोते उसे पालते है और कभी-कभी तो पतित भी हो जाते है।

यह सब दुष्परिणाम अज्ञान का ही होता है। अज्ञान के कारण ही साधक सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लगता है। विघ्न-वाधाओ से घबराकर वह सच्ची साधना से प्राप्त होने वाले अनन्त सुख पर विश्वास नही करता तथा ससार के क्षणिक सुखो को सुख समझकर उन्हे ग्रहण करने की आकाक्षा करता है।

मराठी भाषा मे अज्ञान को नष्ट करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है—

> अज्ञानाचे भस्म करावे, ज्ञान स्वरूपी मन विचरावे,

त्यागुनि माया नार, अजुनि तरी ।
नरा करी सुविचार अजुनि तरी ॥

कवि का कथन है कि अज्ञान को अन्तर के अतल मे भस्म करो और ज्ञान के द्वारा जीव, जगत्, पाप, पुण्य, बन्ध और मोक्ष पर सुविचार या चिन्तन करो ।

हमारे बहुत से भोले बन्धु कह बैठते है—"अज्ञान ही अच्छा है जिसके कारण व्यक्ति को न मानसिक अशान्ति रहती है और न ही हृदय मे किसी प्रकार की उथल-पुथल । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि दुनिया भर की दुश्चिन्ताएँ ज्ञानी को सताती है, अज्ञानी तो परम सुखी रहता है क्योकि उसके दिमाग को न तो परलोक की दौड लगानी पडती है और न ही सयम, साधना और त्यागादि के पचडे मे सिर खपाना पडता है । किसी ने तो सस्कृत मे भी कह दिया है—"अज्ञानम् एव श्रेय ।"

किन्तु बन्धुओ, यह विचार कितना गलत है ? क्या अपनी आँखे बन्द कर लेने से कोई जीव आक्रमणकर्ता से बच सकता है ? नहीं, भले ही वह आक्रमण-कारी को न देख पाए किन्तु आक्रमण करने वाला तो उसे भली-भाँति देखता है और दबोच ही लेता है । ठीक यही हाल अज्ञानी का होता है । भले ही वह ज्ञान-रूपी नेत्रो को बन्द करके काल की परवाह न करे तथा पाप-कर्म रूपी शत्रुओ को न समझे, पर क्या काल उसे छोड देता है, और पाप-कर्म उसे भूल जाते है ? नही, वे सब तो निश्चय ही अपने समय पर आक्रमण करते है और जीव को उस समय छुटकारा नही मिल सकता । जिस प्रकार आँखे बन्द कर लेने पर प्राणी कुछ क्षणो के लिए निश्चित रहता है, उसी प्रकार अज्ञानी भी केवल कुछ समय के लिए ही निश्चित रह सकता है ।

आप कहेगे—'कुछ समय क्या, पूरे जीवन भर अज्ञानी आनन्द मे ससार के सुखोपभोग कर सकता है ।' पर विचार करके देखिये कि जो जीव अनन्त-काल से ससार-भ्रमण करता चला आ रहा है और घोर कष्टो को भुगतता रहा है तथा भविष्य मे भी वही क्रम जारी रहेगा यानी अनन्तकाल तक उसे पुन दु ख उठाने पडेगे, उस अनन्त समय की तुलना मे यह एक जीवन क्या कुछ क्षणो के समान ही नही है ? क्या इन थोडे से क्षणो मे ज्ञान-नेत्रो को बन्द करके अज्ञानावस्था या मिथ्या-सुख उसे चिर-शाति या चिर-सुख का अनुभव करा सकेगा ? कभी नही ।

इसीलिए भगवान कहते है—

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसभवा ।
लुप्पति बहुसो मूढा, ससारम्मि अणतए ॥

—श्री उत्तरा० ६।१

अर्थात् जितने भी अज्ञानी या तत्त्व-बोधहीन पुरुष है वे सब दु ख के पात्र है। इस अनन्त ससार मे वे मूढ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते है।

इसलिए अपना भला चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह यथाशक्य ज्ञान के द्वारा चिन्तन करे और अगर ज्ञानावरणीय कर्मो के उदय से स्वय यह क्षमता न रखता हो तो सत-महापुरुषो के द्वारा कहे गये वीतराग के वचनो पर पूर्ण आस्था रखते हुए विचार करे कि—'शरीर नाशवान है और आत्मा अनित्य है तथा कृत-कर्मों के अनुसार उनका फल भोगती है। अत मुझे इसे परलोक के दुखो से बचाने के लिए दया, क्षमा, शाति, सहिष्णुता एव दान, शील, तपादि आत्म-धर्मों को अपनाना है।'

पर आत्मिक सद्गुण या धर्म तभी आत्मा मे टिक सकते है जबकि मराठी पद्य के अनुसार दो शर्तों को पूरा किया जाय। पद्य मे कहा है—'त्यागुनि माया नार—।' अर्थात् माया यानी धन एव नार यानी स्त्री को त्यागा जाय।

वस्तुत जब तक व्यक्ति की माया मे आसक्ति रहती है, तब तक वह आत्मा के महान् गुण सतोष को नही अपना सकता। आसक्ति और सतोष दोनो एक दूसरे के विरोधी है। वे साथ-साथ नही रह सकते। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

सच्चा धन बाहर है या अन्दर ?

एक साहूकार था। उसने अनैतिकता एव बेईमानी से अपार धन एकत्रित कर लिया। किन्तु जब वहाँ के राजा को यह बात मालूम हुई तो वह अत्यन्त कुपित हुआ और उसने अपने कर्मचारियो को आदेश दिया कि अमुक साहूकार का सम्पूर्ण धन जब्त कर लिया जाय और वह गरीबो मे बाँट दिया जाय।

जब साहूकार को यह बात मालूम हुई तो उसके पैरो तले से जमीन खिसक गई और वह माथा पीटता हुआ घर आकर अपनी पत्नी से बोला—"आज हम घोर दरिद्री हो गये, अब क्या होगा ?"

सेठानी ने बडे आश्चर्य से पूछा—"वह कैसे ?"

शोकग्रस्त साहूकार बोला—"राजा ने मेरा सारा धन छीनकर गरीबो को दे देने का हुक्म दे दिया है।"

पत्नी यह सुनकर हँस पडी और बोली—"वाह ! राजा ने धन छीनने का आदेश दे दिया तो आप दरिद्र कैसे हो गये ?"

साहूकार के लिए तो यह बात जले हुए पर नमक के समान थी। वह क्रुद्ध होकर बोला—"क्या तुम इतना भी नही समझती हो ? जब धन नही रहेगा तो हम दरिद्र नही तो और क्या कहलाएँगे ?"

सेठानी बड़ी शांत और आध्यात्मिकता के ज्ञान से ओत-प्रोत थी उसने सहज भाव से पूछा—

"क्या राजा आपके शरीर को जब्त कर लेंगे ?"

"शरीर को कैसे जब्त कर सकते हैं ?"

"और मन को ?" सेठानी ने पुन प्रश्न किया।

साहूकार पत्नी के प्रश्नो पर अधिकाधिक क्रुद्ध होता हुआ बोला—"तुम कैसे वाहियात प्रश्न कर रही हो ? कोई मन को भी जब्त कर सकता है क्या ?"

सेठानी हँस पड़ी और बोली—"फिर आपको किस बात की चिन्ता है ? राजा धन-दौलत ले लेंगे जो कि आती जाती ही रहती है। पर आपके हृदय मे जो सतोष रूपी धन है उसे कौन ले सकता है, और उसके होते हुए भी आप घोर दरिद्र क्यो कहलाएँगे ? बल्कि धन के न रहने पर तो सतोष धन स्वय बढ जाएगा और अपने साथ ही वैराग्य, त्याग, समभाव एव सहिष्णुता आदि अनेक सद्गुणो को जन्म देगा। अत मैं तो समझती हूँ कि इस बाह्य धन के जब्त हो जाने से आप अधिक आत्म-धनी बन जाएँगे।"

पत्नी की इन बातो को सुनकर साहूकार की आँखे खुल गयी और परम सतुष्टिपूर्वक उसने स्वय भी अपने धन को गरीबो मे वितरण करने मे सहायता दी।

अगुत्तर निकाय मे भी सच्चे धन की परिभाषा देते हुए कहा गया है—

> **सद्धाधन, सीलधन हिरि ओतप्पिय धनं,**
> **सुतधनं, च चागो च, पज्जावे सत्तम धन।**
> **यस्स एते धना अत्थि, इत्थिया पुरिसस्स वा,**
> **अदलिद्दोति त आहु अमोघं तस्स जीवित॥**

अर्थात्—जिन व्यक्तियो के पास श्रद्धा, शील, लज्जा, लोकापवाद का भय, श्रुत, त्याग एव प्रज्ञा रूपी धन है, वे ही सच्चे धनी हैं और उन्ही का जीवन सफल है।

(१) **श्रद्धा**—श्लोक के अनुसार सर्वप्रथम श्रद्धा को धन बताया गया है और वास्तव मे ही जिस व्यक्ति का वीतराग के वचनो मे पूर्ण विश्वास होता है और जो बडे से बडा सकट आने पर भी अपने साधना-पथ से विचलित नही होता वह सच्चा धनी है। कामदेव एव आनन्द आदि अनेक श्रावक ऐसे हुए हैं जिन्होने अपने अपार धन को भी धन न समझकर नाना परिषहो के सामने आने पर भी धर्म से मुँह नही मोडा एव धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा का परिचय दिया।

खाक मे जब मिल गये

एक धनवान व्यक्ति किसी सत का भक्त था तथा कभी-कभी उनके दर्शन करने जाया करता था। एक दिन वह बोला—"भगवन्! आज मुझे ऐसा उपदेश सक्षेप मे दीजिये, जिसे मैं जीवन भर न भूल सकूँ और उस एक ही उपदेश के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकूँ। क्योकि मेरे पास तो रोज घन्टो बैठकर आपका उपदेश सुनने का वक्त ही नही है।

पास ही एक श्मशान था जहाँ कुछ समय पहले ही एक लक्षाधिपति को और एक घोर दरिद्री को लोग जला गये थे। सत ने जब अपने धनी भक्त की बात सुनी तो वे उसी वक्त उसे पकडकर श्मशान मे ले गये।

भक्त घबराकर बोला—"गुरुदेव मुझ जीवित को ही आप श्मशान मे किसलिए लाये है ?"

सत मुस्करा दिये और बोले—"घबराओ मत! मै तुम्हे सक्षेप मे उपदेश देने के लिए ही यहाँ लाया हूँ।"

"क्या वह उपदेश श्मशान मे ही दिया जा सकता है ?"

"हाँ।" कहते हुए सत ने उन जले हुए दोनो शवो के स्थानो से एक-एक मुट्ठी राख अपने दोनो हाथो मे उठाई और भक्त से पूछा—"बताओ! मेरी किस मुट्ठी मे धनी व्यक्ति के शरीर की राख है और किस मुट्ठी मे दरिद्र व्यक्ति के शरीर की ?

भक्त नम्रता से बोला—"भगवन्! यह मैं कैसे बता सकता हूँ ? राख तो धनवान के शरीर की और गरीब के शरीर की भी एक ही जैसी हो जाती है।"

अब सत बोले—"वत्स! मेरा बस यही एक छोटा सा उपदेश है, जिसे कभी मत भूलना कि कोई व्यक्ति चाहे करोडपति हो और जीवन भर ऐश-आराम करता रहे और कोई चाहे सदा दरिद्रता की चक्की मे पिसता रहे, मरने पर तो दोनो के शरीर समान राख के रूप मे परिणत हो जाते है। धन किसी के साथ नही जाता, साथ मे केवल पुण्य और पाप ही चलते है। इसलिए अपने धन का गर्व और दुरुपयोग मत करना तथा दीन-दरिद्रो को नफरत की निगाह से मत देखना। क्योकि मृत्यु धनी एव निर्धन, दोनो को ही समान बना देती है।

किसी शायर ने भी कहा है—

> कितने मुफलिस हो गये, कितने तवगर हो गये।
> खाक मे जब मिल गये, दोनो बराबर हो गये॥

तो बन्धुओ, मैं आपको अभी यह बता रहा था कि रुपया-पैसा सच्चा धन

नही है अपितु वीतराग-वाणी मे श्रद्धा होना श्लोक के अनुसार प्रथम प्रकार का धन है।

(२) शील—इस विशाल ससार मे व्यक्ति के लिए माया, ममता, यश आदि अनेक प्रकार के आकर्षण है जिनके वश मे होकर वह अपने आपको या अपनी आत्मा की भलाई को भूल जाता है किन्तु इन सब आकर्षणो से बढकर जो आकर्षण है, वह है काम-विकार। इसे जीतना ससार मे सबसे कठिन है। मूर्खों की तो बात छोड भी दी जाय पर बडे-बडे विद्वान और ज्ञानी भी कभी-कभी इसके चगुल मे फँसकर अपना यह लोक और परलोक दोनो ही बिगाड बैठते है। किन्तु अनेक इन्द्रिय विजयी पुरुष ऐसे भी होते है जो लाख प्रयत्न करने पर भी अपने मन को शील-धर्म से पराड्मुख नही करते। सेठ सुदर्शन ऐसे ही भव्य प्राणी थे, जिन्होंने सूली पर चढना कबूल कर लिया किन्तु अपने धर्म से च्युत नही हुए।

पूज्य श्री अमीऋषिजी महाराज ने भी कुशील का त्याग करने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

परतिय सग किये हारे कुल कान दाम,
नाम धाम धरम आचार दे विसार के।
लोक मे कुजस, नही करे परतीत कोउ,
प्रजापाल दडे औ विटवे मान पारि के॥
पातक है भारी दुखकारी भवहारी नर,
कुगति सीधावे वश होय परनारि के।
याते अमीरिख वारे, शियल विशुद्ध चित्त,
तजो कुव्यसन हित-सीख उर धारि के॥

वस्तुत कुशील का सेवन करने वाले अधम पुरुष अपने कुल का गौरव, यश, मान-मर्यादा तथा धन आदि सभी खो बैठते है तथा ससार मे कुकीर्ति के भाजन बनकर दुर्गति मे जाते है। जवानी के जोश मे अन्धे होकर वे यह भी नही सोचते कि आखिर यह उम्र रहनी भी कितने दिन तक है? कहा भी है किसी शायर ने—

रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र ?
मानिन्द बूये गुल, इधर आई, उधर गई॥

अर्थात्—युवावस्था की बहार भी कोई उम्र भर थोडे ही रहती है यह तो पुष्प की सुगन्ध के समान इधर से आकर उधर चली जाती है।

पर यह जानते हुए भी व्यक्ति दयाधर्म की परवाह नही करते और शील रूपी धन की कद्र न करके उसे निरर्थक बना देते है।

(३) **लज्जा**—यह व्यक्ति का तीसरा धन बताया गया है। हिंसा, चोरी, असत्य एव अन्य किसी भी प्रकार के पापाचरण से अपने परिवार या कुल मे कलक लगेगा इस तरह की भावना रखना लज्जा-धन कहलाता है। जो अज्ञानी पुरुष इस बात को नही समझता वह धीरे-धीरे पतन के मार्ग पर बढता चला जाता है। क्योकि जीवन मे अगर एक भी दुर्गुण आ गया और उसके लिए मानव के मन मे लज्जा का उदय न हो तो उस दुर्गुण के अन्य साथी भी शनै-शनै अवश्य आ इकट्ठे होते है।

(४) **अवत्रप्य या लोकापवाद का भय**—मनुष्य के हृदय मे अगर लोकापवाद का भय भी बना रहे तो वह अपने मानस को सद्‌गुण युक्त बना सकता है। हमारा मूल विषय अभी 'अज्ञान-परिषह' पर चल रहा है। और तो और कभी-कभी साधु भी अज्ञान के कारण अपने व्रतो के लिए तथा सयम अपना लेने के लिए पश्चात्ताप कर बैठते है कि इस जीवन से तो ससार के सुखो का उपभोग करना अच्छा था। किन्तु मन मे ऐसे विचार आने पर भी अगर उन्हे अपने वेश का ध्यान रहता है तथा उसे छोड देने से लोकापवाद होगा, ऐसा भय रहता है तो वे किसी दिन अपने सही मार्ग पर पुन आ जाते हैं। इसलिए लोकापवाद के भय को भी आन्तरिक धन बताया गया है।

(५) **श्रुत**—वीतराग-प्ररूपित सच्चे ज्ञान का श्रवण करना श्रुत धन कहलाता है। आज की दुनिया मे साधु वेशधारी अनेक प्रकार के उपदेशको की कमी नही है। किन्तु वेश परिवर्तन कर लेना ही सच्चे साधुत्व का लक्षण नही है। सच्चे साधु को वेश के साथ-साथ अपने मन, बुद्धि एव आत्मा का भी परिवर्तन करना पडता है। और इस प्रकार अगर आन्तरिक परिवर्तन न किया जाय तो उसके अभाव मे बाह्य वेश का परिवर्तन कुछ भी महत्त्व नही रखता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

> **न वि मुण्डिएण समणो, न ओकारेण बम्भणो।**
> **न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो॥**
>
> —अध्ययन २५

अर्थात्—केवल सिर मुडा लेने से कोई साधु नही बन जाता और न ही ओंकार शब्द का जप करने से कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी प्रकार केवल अटवी मे निवास कर लेने से ही न कोई मुनि हो सकता है और न डाभ यानी घास का वस्त्र पहन लेने से ही कोई तपस्वी कहला सकता है।

अपितु सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एव सम्यक्चारित्र की आराधना करने वाला ही सच्चा श्रमण या साधु कहलाने का अधिकारी बनता है और वही वीतराग की वाणी को सही तौर से जिज्ञासु व्यक्तियों को समझाने मे समर्थ होता है। दूसरे शब्दो मे सच्चा उपदेशक वही बन सकता है जो मलिन और मन्द भावनाओ के काले मेघो को छिन्न-भिन्न करके अपनी आत्मा मे क्षमा, दया, विरक्ति, सतोष, तप एव त्यागमय भावनाओ की शुद्ध एव ज्ञानपूर्ण ज्योति जगाता है तथा जिसकी दृष्टि मे त्रिलोक का राज्य धूल के समान और कनक-कामिनी कुगति का मार्ग दिखाई देते है। ऐसे आत्म-रूप मे रमण करने वाले साधु या महापुरुष की वाणी को सुनना श्रुत धन कहलाता है। ऐसे ही धन की आकाक्षा करना मुमुक्षु के लिए कल्याणकारी है।

(६) त्याग—त्याग की भावना भी धन कहलाती है। आप विचार करेंगे कि ये दोनो तो विरोधी बाते है, फिर इनका मेल कैसा?

इस शका का समाधान इस प्रकार होता है कि व्यक्ति सासारिक मोह-ममता का और धन-दौलत के प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करे। सासारिक सम्बन्धियो के प्रति अपार ममता मे गृद्ध रहना कर्म-बन्धन का कारण होता है और धन के प्रति आसक्ति रखने मे भी नाना प्रकार के पाप करते हुए कर्म-बन्धन किये जाते है। जबकि इस देह के छूटते ही सम्पत्ति तो घर पर ही रह जाती है और जिन सम्बन्धियो के लिए व्यक्ति जीवन भर नाना कुकर्म करता है वे श्मशान तक ले जाकर साथ छोड देते है।

मेरे कहने का आशय यह नही है कि आप सब अपनी दौलत लुटा दे और गृह त्याग करके साधु बन जाय, तभी अपनी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे, अन्यथा नही। मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि अगर आप सयमी जीवन को नही अपना सकते तो सच्चे श्रावक तो बनें ही। श्रावक के व्रतो का पालन करते हुए भी अगर आप निस्पृही बने रहते है और सम्पूर्ण सासारिक कार्यो को पूरा करते हुए भी सासारिक वैभव एव भोग-विलास के प्रति आसक्ति नही रखते यानी लोभ-लालच का त्याग कर देते है तो शुभ-कर्म रूपी धन का सचय करते चले जा सकते है। और वह धन निश्चय ही सच्चा धन कहलाएगा क्योकि आपके साथ चलेगा।

ध्यान मे रखने की बात यह है कि कर्म-बन्धन भावना से होते है। एक गृहस्थ भी अगर ससार मे रहते हुए और सासारिक कार्यो को करते हुए उनसे निर्लिप्त रहता है तो कर्म-बन्धनो से बच जाता है तथा दूसरी ओर एक साधु घर-बार छोडकर भी अगर मन मे विषय-विकार और ईर्ष्या-द्वेष पालता है तो अनेकानेक कर्मो का बन्धन कर लेता है।

ऐसे साधु स्वय तो कुगतिगामी बनते ही है, साथ ही जन-समाज को भी पाप-मार्ग पर चलाते हैं। किसी ने कहा भी है—

> गृहीतलिङ्गस्य हि चेद् धनाशा,
> गृहीतलिङ्गो विषयाभिलाषी।
> गृहीतलिङ्गो रसलोलुपश्चेद्,
> विडम्बन नास्ति ततोऽधिकं हि॥

अर्थात्—साधु का वेश धारण कर लेने पर भी यदि धन की आशा बनी रही, विषयो की अभिलाषा न मिटी और रस लोलुपता का क्षय न हुआ तो इससे बढकर जीवन मे और क्या विडम्बना हो सकती है ?

स्वय तो डूबे ही, औरो को भी ले डूबे !

एक बार किसी गाँव मे कुछ साधुओ का आगमन हुआ। उनमे से एक गुरु था और बाकी उसके शिष्य। गुरुजी पढ़े-लिखे थे और प्रतिदिन धन-दौलत की बुराई और उसका त्याग करने का उपदेश दिया करते थे।

उनके उपदेश का लोगो पर बडा असर हुआ और वे साधुजी को सच्चा सत मानकर भेट के लिए रुपये आदि लाने लगे। किन्तु प्रारम्भ के दिनो मे उन्होने रुपया-पैसा लेने से इन्कार कर दिया।

यह देखकर गाँव के दो साहूकारो ने विचार किया—"हम महात्माजी को भेट करने के लिए पाँच-पाँच हजार रुपये लेकर चले। महात्माजी रुपये तो लेंगे नही, और हमारी कीर्ति दानवीरो के रूप मे फैल जाएगी।"

दोनो साहूकारो ने ऐसा ही किया। अगले दिन जब महात्माजी का उपदेश समाप्त हुआ तो साहूकारो ने दस हजार रुपये उनके चरणो के समीप रख दिये तथा इन्तजार करने लगे कि महात्माजी इन्कार करे तो हम अपने रुपये उठालें। किन्तु महात्माजी ने तो उलटे अपने शिष्यो को रुपये उठाने का सकेत किया और उनके सधे हुए चेलो ने आनन्द से रुपये उठाकर यथास्थान रख लिए।

दोनो साहूकार अपनी प्रसिद्धि के लोभ मे पडकर रुपये गँवा बैठे और महात्माजी ने रुपयो के लोभ मे आकर अपनी साधना को गँवा दिया। इस प्रकार साधु और भक्त दोनो ने ही कर्मों का बन्धन कर लिया। इसीलिए कहा गया है कि समस्त सासारिक पदार्थों पर से आसक्ति हटाना यानी ममत्व का परित्याग करना ही सच्चा धन है। इसका उपार्जन करने मे कर्मों की निर्जरा होती है और व्यक्ति सवर के मार्ग पर बढता है।

(७) प्रज्ञा—प्रज्ञा को भी धन माना जाता है यह आन्तरिक धन है। बाह्य धन को तो चोर चुरा सकते हैं, जल बहा सकता है, अग्नि भस्म कर सकती है और राजा छीन लेता है, किन्तु प्रज्ञा रूपी धन को किसी प्रकार का भय नहीं होता। प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति जीव और जगत् के रहस्यो को भली-भाँति समझ सकता है तथा चिन्तन करता हुआ ससार की अनित्यता को जानकर सयोग एव वियोग मे पूर्ण समभाव रख सकता है।

जातस्य ही ध्रुवं मृत्यु

कहा जाता है कि एक स्थान पर कुछ भक्त परमात्मा का भजन करने मे तल्लीन थे कि एक व्यक्ति वहाँ आया और रोने लगा।

सभी व्यक्ति आगत पुरुष को रोते हुए देखकर चौक पडे और एक व्यक्ति ने उससे रोने का कारण पूछा। सयोग की बात थी कि रोने का कारण पूछने वाले व्यक्ति का युवा और इकलौता पुत्र ही किसी दुर्घटना मे काल कवलित हो गया था।

किन्तु जब उसने अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुना और वहाँ बैठे हुए व्यक्तियो की आँखो मे आँसू देखे तो पूर्ण शाति और गम्भीरता पूर्वक गीता का एक श्लोक कहा—

> जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
> तस्मादपरिहार्ये, न त्वं शोचितुमर्हसि॥

अर्थात्—जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरा है वह निश्चित पुन जन्म लेगा। अत इस अवश्यम्भावी विषय को लेकर आप लोगो को दुःख करना उचित नही है।

मृतपुत्र के पिता की यह बात सुनकर और उसके असीम धैर्य एव समभाव को देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति दग रह गये और उससे सच्ची प्रेरणा लेकर आत्म-चिंतन मे निमग्न हो गये।

अपनी प्रज्ञा का जो भव्य पुरुष इस प्रकार लाभ उठाते हैं, वे स्वय तो अपनी आत्मा को उन्नत बनाते ही हैं साथ ही अपनी सगति करने वाले अन्य व्यक्तियो को भी सन्मार्ग पर ले आते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि प्रज्ञा अथवा बुद्धि का समुचित उपयोग किया जाय। उसे पाकर भी अगर व्यक्ति ने आत्म-चिंतन नहीं किया तथा वीतराग के बताये हुए मार्ग पर चलने का सकल्प न करते हुए मन को अज्ञान के वशीभूत हो जाने दिया तो प्रज्ञा का होना न होना समान हो जाएगा।

बन्धुओ, प्रसगवश मैंने आत्मा के कुछ सद्गुण जिन्हे सच्चा धन या आत्म-धन कहा जा सकता है, उनके विषय मे आपको बताया है। वह इसलिए कि इन गुणो को अपना लेने वाला मुमुक्षु सवर के मार्ग पर बढ सकता है और निश्चय ही आत्म-कल्याण करने मे समर्थ बनता है।

वैसे हमारा मूल विषय अज्ञान-परिषह को लेकर चल रहा है। यहाँ आपको कुछ शका यह भी हो सकती है कि कुछ समय पहले ही मैंने आपको 'पन्नापरिषह' यानी प्रज्ञा परिषह के विषय मे बताया था और अब 'अज्ञान-परिषह' के विषय मे बता रहा हूँ। तो प्रज्ञा और अज्ञान मे क्या अन्तर है ? यह आपके लिए विचारणीय हो सकता है। अत मैं इसी अन्तर को आपके समक्ष कुछ स्पष्ट करना चाहता हूँ।

प्रज्ञा का अभाव

प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि की मन्दता या तीव्रता व्यक्तियो मे होती है और हम सहज ही इनके उदाहरण कुछ व्यक्तियो मे प्राप्त कर सकते है। पर बुद्धि की मन्दता होना या बुद्धि का न होना इतना हानिकारक नही है जितना हानि-कारक अज्ञान का होना है। बुद्धि की मन्दता होने पर भी आत्म-कल्याण का अभिलाषी व्यक्ति सत-महात्माओ के द्वारा सुनाए गये वीतराग के वचनो पर विश्वास करता हुआ अनेक सद्गुणो को हृदय मे धारण करता हुआ अपने आचरण को शुद्ध, निष्पाप और त्याग तथा तप युक्त बना सकता है। दूसरे शब्दो मे वह सच्चे उपदेशको के द्वारा बताये हुए सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता हुआ भी मानव-जीवन को सफल बना सकता है अर्थात् मनुष्य-भक्ति के उद्देश्य को हासिल कर लेता है। प्रज्ञा का अभाव हानिकारक तभी होता है जबकि साधक उसके लिए घोर दु ख करे तथा शोकमग्न होकर आर्त-ध्यान करता हुआ नवीन कर्मो का बन्धन करे। पर अगर ऐसा न करके वह प्रज्ञा के अभाव को पूर्वकर्मो का उदय मानकर समभाव रहने और अन्य आत्मिक सद्गुणो की सहायता से अपने आचरण को उन्नत बनाये तो प्रज्ञा के अभाव मे भी वह कर्मो की निर्जरा करता चला जाता है और सवर के मार्ग पर बढता हुआ एक दिन अपने उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानावस्था

अभी मैंने आपको बताया है कि प्रज्ञा या बुद्धि की मन्दता से अधिक हानिकर अज्ञान का होना है। वह इसलिए कि अज्ञानी व्यक्ति न तो वीतराग वाणी पर पूर्ण आस्था रखता है और न धर्मोपदेशको के बताए हुए सत्पथ पर ही चल पाता है। क्योंकि अज्ञानावस्था के कारण वह सत्य को असत्य और यथार्थ को मिथ्या समझ लेता है।

'आचारांग सूत्र' में कहा भी है—

वितहं पप्पऽखेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

अर्थात्—अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारों को सुन लेता है, तो वह उन्हीं में उलझकर रह जाता है ।

परिणाम यह होता है कि वह साधुत्व ग्रहण करके और महाव्रतों को अंगीकार करके भी नासमझी के कारण सोचने लगता है—"मैंने निरर्थक ही ससार के सुखों का त्याग किया, अच्छा तो यही था कि मानव-जन्म पाकर ससार के सुखों का उपभोग करता ।"

इस प्रकार वह सांसारिक सुखों को जोकि नकली हैं, असली समझने लगता है और आत्मिक सुख जो कि असली हैं, उन्हे नकली मानकर साधु-वेश धारण कर लेने पर भी पश्चात्ताप मे डूबा रहता है और अपने मन को सासारिक प्रवृत्तियों मे रमाता हुआ घोर कर्मों का बन्धन करके आत्मा को अधिकाधिक बोझिल बना लेता है । इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी साधक को अज्ञानपने से बचते हुए बड़ी सावधानी से संवर-मार्ग पर चलना चाहिए, तभी आत्मा की सद्गति हो सकती है ।

O

धर्माचरण निरर्थक नही जाता

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

सवर तत्त्व के सत्तावन भेदो पर हमारा विवेचन चल रहा है और उनमे से उन्नीमवें भेद यानी इक्कीसवे परिषह पर हमने कल विचार किया था। इक्कीसवाँ भेद 'अन्नाण-परिषह' यानी अज्ञान परिषह है।

इस परिषह को लेकर कल मैंने 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की वयालीसवी गाथा आपके सामने रखी थी। उसका साराश यही था कि साधक अज्ञान के कारण शुभ कार्य करके भी यही सोचता है कि मैंने यह काम निरर्थक किया। ज्ञान के अभाव मे जव वह औरो के द्वारा पूछे गये प्रश्नो का ममाधान नही कर पाता तो यह विचार करने लगता है कि—"जव मैं धर्म के पावन और कल्याणकारी मार्ग को नही समझ सका तो मेरा साधुपना ग्रहण करना व्यर्थ है और इससे तो सासारिक सुखोपभोग करना ही अच्छा था।"

इस प्रकार अज्ञानावस्था मे वह सही कार्यों को गलत और गलत कार्यों को सही समझने लगता है। किन्तु इसके परिणामस्वरूप वह सवर का मार्ग छोडकर आश्रव के मार्ग पर वढने लगता है और अपनी आत्मा का अकल्याण कर वैठता है।

इसी विषय पर 'उत्तराध्ययन सूत्र' की अगली गाथा कही गई है और वह इस प्रकार है—

तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ,
एव पि विहरओ मे, छउम न नियट्टई ॥

अ० २—गा० ४३

इस गाथा मे भी यह वताया गया है कि साधु अज्ञान परिषह के वशीभूत होकर कभी यह चिन्तन न करे कि—"मैंने तप और उपधान तपो का अनुष्ठान

किया, साधु की बारह प्रतिमाओं को भी ग्रहण किया तथा साधु के उपयुक्त ग्रामानुग्राम अप्रतिबद्ध होकर विचरण किया, किन्तु मेरा 'छउम' अर्थात् छद्मस्थ भाव दूर नहीं हुआ अतः यह सब निरर्थक गया।

वस्तुतः अगर साधु यह विचार करता है कि—"उपवास, आयम्बिल एवं द्वादशभेदी तप करके भी मुझे इनसे किसी विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा सिद्धि हासिल नहीं हुई तो यह सब करना व्यर्थ है और शास्त्रों का यह कथन कि घोर तपश्चर्या से अतिशय बढ़ता है और नाना सिद्धियाँ हासिल होती हैं, असत्य है।" तो उसकी यह धारणा 'अज्ञान परिषह' के कारण ही बनती है।

क्योंकि किसी भी प्रकार की लौकिक या अलौकिक सिद्धियाँ हासिल होना या विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होना पूर्व कर्मों के क्षयोपशम पर निर्भर होता है। जब तक कृतकर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक कोई भी विशेष ज्ञान या केवल ज्ञान कैसे हासिल हो सकता है? इसलिए साधक को अपने अज्ञभाव के दूर न होने पर यही विचार करना उचित है कि—"अभी मेरे बद्ध कर्मों का विपाक नहीं हुआ है।" उसे स्वप्न में भी अपने तपादि अनुष्ठानों के लिए खेद करना और उन्हें निरर्थक समझना उचित नहीं है। अगर वह ऐसा करेगा तो पूर्व कर्मों का क्षय तो दूर, नवीन कर्मों का संचय हो जाएगा।

किन्तु अगर वह पूर्ण शांति एवं समत्व के साथ अपनी मुनि-चर्या पर दृढ़ रहे और अज्ञान परिषह पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करे तो निश्चय ही उसके कर्मों की निर्जरा होती रहेगी और अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान के लिए अपना स्थान रिक्त कर देगा। यानी एक दिन ज्ञान का प्रकाश होगा और अज्ञानान्धकार का लोप। किन्तु इसके लिए मन, वचन और शरीर को बड़ा सतर्क और सावधान रखने की आवश्यकता है। मन का सम्भालना बड़ा कठिन है और विरले व्यक्ति ही इस पर काबू पाते हैं।

समर्थ रामदास स्वामी ने मन को समझाने के लिए बहुत से श्लोक लिखे हैं। मराठी भाषा में उनकी पुस्तक का नाम है—'मनाचे श्लोक।' यहाँ मैं संस्कृत का एक श्लोक आपके सामने रखता हूँ—

> समस्तं सुखं सयुतः कोऽस्ति लोके,
> मन सद् विचारैः शनैर्निश्चिनु स्वम्।
> मनोयत्त्वया सञ्चितम् पूर्वकर्म,
> तदेवेह भोग्यम् शुभं वाऽशुभं वा॥

इस श्लोक में मन को संबोधित करते हुए कहा है—'अरे मन! इस लोक में सम्पूर्ण सुखों से युक्त कौन होता है? कोई नहीं, अतः तू मन में सद्विचार

रखता हुआ धैर्य पूर्वक विचार कर कि तूने पूर्व में जिन कर्मों का सचय किया है वे शुभ हो या अशुभ, भोगने ही पड़ेंगे ।

वस्तुत कर्मो की गति वडी विचित्र होती है । एक पाप कर्म भी अपना वदला लिए नही रहता चाहे व्यक्ति उसके वदले मे हजार शुभ कर्मों का फल न्योछावर कर दे । उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति किसी से अपनी हीनावस्था में एक रुपया कर्ज ले ओर भाग्योदय के कारण वाद में अपार सम्पत्ति का स्वामी वनकर उसी को दान मे एक हजार रुपया दे दे, तव भी वह एक रुपया तो जव कर्ज के वतौर चुकाएगा तभी कर्ज उतारना माना जाएगा । विचार करने की वात है कि दाता उसी व्यक्ति को हजार रुपया दान मे देने से उसके अनुसार पुण्य कर्मो का सचय तो अवश्य कर लेगा, किन्तु अगर वह कर्ज मे लिया हुआ एक रुपया भुगतान की भावना से नही देगा तो उस एक रुपये का कर्जदार अवश्य वना रहेगा और उसे चुकाने पर ही कर्ज से मुक्त माना जाएगा ।

इसीलिए कवि ने श्लोक मे मन को वोध देते हुए कहा है कि—"सचित शुभ एव अशुभ कर्मों का फल तो तुझे निश्चय ही भोगना पडेगा अत. अशुभ कर्मों का उदय होने पर भी तू मन में खेद मत कर तथा यही सुविचार कर कि इस ससार मे कोई भी ऐसा नही है जिसने पूर्व मे केवल शुभ कर्म ही सचित किये है और उनके कारण वह केवल सुखो को ही प्राप्त कर रहा है । अपितु यह विचार कर कि इस जगत मे सभी प्राणी ऐसे हैं जिनके शुभ और अशुभ, दोनो ही प्रकार के कर्मो का सचय होता है और वे भी कर्मों के अनुसार कभी दु ख और कभी सुख की प्राप्ति करने है ।"

अगर प्रत्येक मुमुक्षु साधु इस प्रकार अपने मन को वोध देता है तथा कर्मों की क्रिया को समझ लेता है तो उसके मन मे यह विचार नही आता कि मैंने उपवास-आयम्बिल किये, वारह प्रतिमाएँ धारण की, साधुचर्या के अनुसार विचरण किया किन्तु इतना सव करने पर भी मुझे कोई लाभ नही हुआ अत यह सव मैंने व्यर्थ किया और इससे अच्छा तो सासारिक सुखो का उपभोग करना ही था ।

वन्धुओ, छद्मस्थ भाव दूर होकर अतिशय का वढना, सिद्धियो का हासिल होना और विशिष्ट ज्ञान या केवल ज्ञान की प्राप्ति का होना तो चारो प्रकार के घातिक कर्मों का क्षय होने पर निर्भर है । अत जव तक पूर्व कर्म शेष है, उनका भुगतान वाकी है, दूसरे शब्दो मे आत्मा पूर्णत शुद्ध एव कर्म-रहित नही है, तव तक कुछ धर्म-क्रियाएँ कर लेने से या तपादि का अनुष्ठान कर लेने से ही पूर्णता हासिल कैसे हो सकेगी ?

आप जानते हैं कि हलवाई जब पकवान बनाता है और उसके लिए शक्कर की चाशनी तैयार करता है तो उसे कितनी सतर्कता रखनी पड़ती है ? चाशनी अगर तनिक भी पतली हो या तनिक भी गाढ़ी हो तो पकवान ठीक नहीं बनता। इसी प्रकार विद्यार्थी परिश्रम करता है और परीक्षा में कुछ नम्बर भी पा लेता है, किन्तु दो-चार नम्बरों की भी अगर कमी रह जाय तो वह पास नहीं होता, फेल हो जाता है।

तो जिस प्रकार परीक्षार्थी को उत्तीर्ण होने के लिए पूरे नम्बर चाहिए, उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी आत्मा की कर्मों से पूर्णतः मुक्ति होनी चाहिए। पर अगर ऐसा नहीं हो पाता, यानी छात्र दो-चार नम्बरों की कमी से परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाता तो क्या उसे निराश होकर अपने परिश्रम को व्यर्थ मानना चाहिए ? नहीं, उसे यही विचार करके मन में साहस रखना चाहिए कि मैं शत-प्रतिशत अंक प्राप्त करके पास होता पर ऐसा न होने पर भी नब्बे प्रतिशत अंक मुझे मिले हैं, और मेरी इतनी योग्यता तो बढ़ ही गयी है। थोड़ी और मेहनत करूँगा तो अगली बार दस प्रतिशत की कमी भी पूरी करके पास हो जाऊँगा।

ठीक ऐसे ही विचार साधक के भी होने चाहिए। उसे बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए कि—"मैंने यथाशक्ति तप किया, आयम्बिलादि उपधानों का अनुष्ठान किया तथा अपने व्रतों का पालन भी कर रहा हूँ पर अगर मुझे विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है तो इसका कारण पूर्व कर्मों का शेष होना है। पर इससे क्या हुआ ? मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, इससे मेरे कुछ अशुभ कर्मों की निर्जरा तो हुई ही होगी और शेष कर्मों की निर्जरा करने के लिए मुझे प्रयत्नशील रहना है। अगर मैं दृढ़तापूर्वक आश्रव से बचता हुआ संवर के मार्ग पर बढ़ूँगा तो इस जन्म में न सही, अगले जन्मों में तो मैं अपनी आत्मा को कर्मों से सर्वथा मुक्त करने में समर्थ बनूँगा।"

बन्धुओ ! ऐसे विचार और ऐसा दृढ़ संकल्प जिस साधक का होगा वही संवर के मार्ग पर बढ़ता हुआ आत्मा को निरन्तर शुद्ध बना सकेगा तथा अपने मन, वचन एवं शरीर को इस कार्य में सहायक बनाएगा। ऐसा साधक कभी भी अपनी साधना या तपस्या को निरर्थक न मानकर बड़े धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण परिषहों पर विजय प्राप्त करता हुआ कर्मों का क्षय करता रहेगा तथा उनके उदय को [illegible] समतापूर्वक एवं समभावपूर्वक उनके क्षय की प्रतीक्षा करेगा। वह सदा अपने मन पर नियन्त्रण रखेगा तथा उसे कभी विचलित न होने देता हुआ बोध दृढ़ रखेगा।

स्वामी रामदासजी ने भी मराठी भाषा मे यही कहा है—

जगी सर्व सुखी असा कोण आहे,
विचारी मना तूचि शोधूनी पाहे।
मना तूचि रे पूर्वसचित केले,
तथा सारखे भोगणे प्राप्त झाले ॥

स्वामीजी का कथन है—"रे मन ! तू विचार करके देख कि इस जगत मे पूर्ण सुखी कौन है ? सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख और दुख प्राप्त करते हैं और इसी नियम के अनुसार तुझे भी शुभ और अशुभ फल कर्मानुसार भोगने पडेगे।"

बन्धन और मुक्ति

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक साधक को अपने मन, वाणी एव शरीर को बडी सावधानीपूर्वक रखना चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं कि कर्म-बन्धन का कार्य बडा बारीक होता है। मानव समझ नही पाता कि कर्म किस प्रकार और कौन-कौनसे मार्ग से आकर आत्मा पर लिपटते चले जाते हैं तथा किस प्रकार उनसे छुटकारा भी होता जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति स्वय आठ दिन का तप नही कर पाता किन्तु ऐसा तप करने वाले का अनुमोदन करता है और उसकी सराहना करता है, तब भी पुण्य कर्मों का उपार्जन कर लेता है और इसके विपरीत अशुभ कार्य स्वय न करने पर भी दूसरो के अशुभ कार्यों का अनुमोदन करके पाप-कर्म पल्ले मे बाँध लेता है। तारीफ की बात तो यह है कि पाप-कर्म मन, वचन एव शरीर से बँधते हैं और इन्ही के द्वारा छूटते भी हैं।

मान लीजिये, किसी के बारे मे हमने अशुभ चितन किया तो पाप पल्ले मे बँध गया। किन्तु अगर मन ने पलटा खाया और यह विचार आया कि—"अरे, मैंने ऐसा क्यो सोचा ? यह मेरी भूल है। जो जैसा करेगा वह वैसा स्वय ही भोगेगा मैंने ऐसा विचार करके बुरा किया है।" तो ऐसा विचार करते ही, यानी अपने अशुभ विचारो के लिए सच्चा पश्चात्ताप करते ही वह पाप हमारी आत्मा से अलग हो जाएगा।

इसी प्रकार किसी को हमने जुबान से कडे शब्द कह दिये तो पाप बँध गया पर तुरन्त खयाल आते ही उससे कहा—"भाई ! मुझे भान नही रहा, अत तुम्हारा मन दुखाकर मैंने गलती की है, माफ करो।" यह कहते ही पाप छूट जाएगा। यही हाल शरीर की क्रियाओ का है। भीड-भाड के कारण और कही

समीपस्थ व्यक्ति भावनाओ के सच्चे महत्त्व को समझ गया और फकीर के प्रति किये गये अपने उपहास के लिए स्वय ही लज्जित होता हुआ तथा उस पर पश्चात्ताप करता हुआ वहाँ से चला गया ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो सच्चा साधक होता है और अपनी की गई शुभ क्रियाओ के प्रति, उसमे रही हुई कमियो के प्रति और छद्मस्थ अवस्था के कारण हो जाने वाली भूलो के प्रति भी अविश्वास एव अश्रद्धा नही रखता तथा उनके द्वारा प्रत्यक्ष फल प्राप्त न होने पर भी खेद प्रकट नही करता । वह शनै-शनै सवर के मार्ग पर बढता हुआ एक दिन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे अवश्य समर्थ बन जाता है । किन्तु जो व्यक्ति थोडा सा शुभ कर्म या कुछ शुभ क्रियाएँ करके ही उनके फल की प्राप्ति की आशा करता है और ऐसा न होने पर अपने उन् कार्यों को निरर्थक मानने लगता है वह आश्रव के कुपथ पर चलकर अपनी आत्मा की शोचनीय दशा बना लेता है ।

सामायिक से घाटा नहीं होता

एक बार की बात है कि हमने पूना से विहार किया और उस समय एक पचास या सभवत साठ वर्ष की उम्र के व्यक्ति हमे कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए साथ चले ।

मार्ग मे चलते-चलते मैंने सहज भाव से उनसे पूछ लिया—"क्यो साहब ! आप सामायिक तो प्रतिदिन करते हैं ?"

"नही महाराज ! मैं तो सामायिक नही करता ।" उन्होने स्पष्ट उत्तर दिया ।

सुनकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ । और मैंने कहा—

"ऐसा क्यो ? आपकी उम्र तो अब बहुत हो गयी है और आप बिलकुल नास्तिक हो ऐसा भी नही लगता, क्योकि प्राय आप प्रवचन मे आया करते है और इस समय हमे पहुँचाने मे भी साथ ही है, यह लक्षण धर्म-भावना से रहित व्यक्ति जैसे तो नही हैं । फिर सामायिक-प्रतिक्रमण के बारे मे आपकी ऐसी उपेक्षा क्यो ?"

वे सज्जन बोले—"महाराज ! असली बात यह है कि मेरे पिताजी रोज सामायिक करते थे, पर उनको बहुत घाटा लगा इसलिए उन्होने सामायिक करना छोड दिया था और मुझे भी न करने का आदेश दिया था । बस, इसीलिए मैं सामायिक नही करता और कोई बात नही है ।"

उस सज्जन की सरल और स्पष्ट बात सुनकर मुझे हँसी आ गई पर मैंने

उनकी निष्कपटता को जानकर पुनः कहा—"भाई! आपके पिताजी को व्यापार में घाटा जरूर हुआ होगा। किन्तु वह सामायिक करने से नहीं, वरन् पूर्वकृत पापकर्मों के उदय से हुआ होगा। भला तुम्हीं बताओ कि मिश्री खाने से भी किसी के दाँत गिर सकते हैं क्या?"

"किसी-किसी के गिर भी सकते हैं।"—वह बोले।

"तो जिनके दाँत मिश्री खाने से गिरते हैं वे पहले से कमजोर और हिलने वाले नहीं होते होंगे क्या? जिनके दाँत पूर्णतया मजबूत होते हैं वे तो मिश्री क्या उससे भी कड़ी चीज 'बेर की गुठलियाँ' आदि भी चबा सकते हैं। बचपन में मैं भी ऐसा करता था। छोटे बेरों की गुठलियाँ समेत चबा जाया करता था पर उस समय मेरा एक भी दाँत नहीं गिरा।"

वे वृद्ध सज्जन कुछ अप्रतिभ होकर बोले—

"महाराज, आपकी बात सत्य है। पहले से हिलने वाले दाँत ही मिश्री खाने से गिर जाते हैं, अन्यथा नहीं।"

"तो फिर ऐसा क्या मालूम हो कि सामायिक करने से मेरे पिताजी को घाटा लगा था? घाटा तो पहले के पाप कर्मों के कारण लगा होगा, जिस प्रकार पहले से हिलने वाले दाँत मिश्री खाने से गिरते हैं। पूर्व कर्मों के उदय से तो सेठ सुदर्शन को शूली पर चढ़ना पड़ा था, वह क्या उनकी वर्तमान धर्म-क्रियाओं के कारण हुआ था? गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रखे गये थे तो क्या ऐसा उपसर्ग उनके साधुपना लेने के कारण आया था? नहीं, नफा-नुकसान तो पूर्व संचित शुभ और अशुभ कर्मों के उदय से होता है। सामायिक जैसी शुभ क्रियाओं से कभी अशुभ फल प्राप्त नहीं हो सकता।

मेरी यह बात सुनकर उन वृद्ध व्यक्ति की धारणा बदल गई और नियमित रूप से सामायिक करने का नियम लेकर वे लौट गये।

[illegible] एक और भी प्रसंग मुझे ऐसा ही मिला था। बहुत समय पहले एक बार मैंने प्रवचन के बीच में प्रसंगवश कहा कि—धर्म से कभी नुकसान नहीं होता।

उस समय एक वृद्धा भी वहाँ बैठी थी साथ ही और भी कुछ कहने को प्रवचन की समाप्ति पर वह वृद्धा बोली—'महाराज! मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] नहीं।'

उस वृद्धा के ऐसा कहने पर उसके साथ की एक और बहिन बोली—"महाराज! मेरा लड़का भी आयम्बिल की लडी करते समय मरा इसलिए फिर मैंने आयम्बिल करना छोड़ दिया।"

उन बहनों की बात सुनकर मुझे उनकी अज्ञानावस्था पर बड़ा दुःख हुआ पर मैंने पूछा—"क्या एकादशी और आयम्बिल छोड देने से तुम्हारे पुत्र वापिस आ गये?"

"महाराज! मरे हुए भला वापिस कैसे आते?"

यह सुनकर मैंने उन्हे समझाया—"बहनो! जब एक चीज चली गयी और वह वापिस नही आ सकती तो फिर हाथ मे रही हुई दूसरी चीज को क्यो फेक रही हो? तुम्हारे लडके पाप कर्मो के उदय से गये, पर अब व्रतो मे सन्देह और अविश्वास करते हुए उनका त्याग करके नये कर्मो का बन्धन किसलिए कर रही हो?"

कहने का आशय यही है कि अज्ञानावस्था के कारण अनेक स्त्री-पुरुष धर्म को गलत समझ बैठते है या उसका तुरन्त ही शुभ फल न मिलने पर धर्माचरण को व्यर्थ मानकर त्याग देते है। वे भूल जाते है कि हमे जो दुःख प्राप्त हो रहे है वे हमारे पूर्व-सचित अशुभ कर्मो का फल भी तो हो सकता है। मोहनीय कर्मों के उदय मे रहने पर तो स्वय गौतम स्वामी को भी केवलज्ञान हासिल नही हुआ था, जबकि उनके पश्चात् दीक्षित होने वाले सत केवलज्ञानी बन चुके थे। उस स्थिति मे गौतम स्वामी ने क्या साधना और सयम का त्याग कर दिया था? क्या उन्होने यह समझा था कि मेरा अब तक का धर्माचरण निरर्थक था?

नही, भगवान ने उन्हे यही बताया था कि केवलज्ञान प्राप्त न होने का कारण तुम्हारे पूर्व कर्म है और भगवान की वही वाणी आज भी साधु के लिए है कि अपने तप, उपधान एव व्रतो के अनुष्ठानो का विशिष्ट फल प्राप्त न होने पर खेद मत करो और उन्हे निरर्थक मानकर मन को विषय-विकारो की ओर मत जाने दो। ऐसा करने पर ही आत्म-कल्याण सम्भव होगा।

○

होती तो फिर आध्यात्मिक जीवन तो बडा गम्भीर एव दुरूह है, फिर इसमे अनास्था और सशय होने पर आत्म-कल्याण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

श्री आचारागमूत्र मे कहा भी है—

"वितिगिच्छासमावन्नेण अप्पाणेण,
नो लहइ समाहिं ।"

अर्थात्—शकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नही मिलती ।

गाथा से स्पष्ट है कि शकाशील हृदय वाले को कभी समभाव प्राप्त नही होता और समभाव के अभाव मे जबकि सदेह की तरगे मदा मानस को झकझोरती रहती है, धर्म-क्रियाओ मे एकाग्रता कैसे आ सकती है ? और उस स्थिति मे कौनसी धर्म-क्रिया भली-भाँति की जा सकती है ? कोई भी नही । जहाँ सन्देह होता है, वहाँ कोई भी कार्य सुचारु रूप से नही किया जा सकता और जब कार्य ही सही रूप से नही होगा तो वह सही फल कैसे प्रदान करेगा ? आत्म-विश्वास या अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ आस्था हो तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है । एक छोटा-सा उदाहरण है—

श्रद्धारूपी सुदृढ़ दुर्ग

यूरोप मे स्टिवन नाम का एक बडा धार्मिक, सत्यवादी एव आत्म-शक्ति पर दृढ आस्था रखने वाला व्यक्ति रहता था । अनेक नास्तिक पुरुष उसकी धर्म-भावना से ईर्ष्या करते थे तथा उसके शत्रु बन गये थे ।

यह देखकर एक बार स्टिवन के मित्रो ने कहा—"बन्धु ! अनेक धर्मद्रोही व्यक्ति तुमसे शत्रुता रखते है, अत कभी उन लोगो ने अचानक तुम पर आक्रमण कर दिया तो फिर क्या होगा ?"

स्टिवन ने निश्चिन्ततापूर्वक उत्तर दिया—"इसके लिए चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? मैं मेरे लौहदुर्ग मे प्रविष्ट हो जाऊँगा । वहाँ मेरा कोई भी कुछ नही बिगाड सकेगा ।"

स्टिवन की इस बात को उसके मित्र तो सही ढग से नही समझ पाए किन्तु उसके विरोधियो को इन गर्व भरे शब्दो का पता चल गया और उन्होने इसे स्टिवन का दर्प समझकर उसे चूर्ण करने का निश्चय कर लिया ।

सयोगवश ऐसा अवसर भी आ गया । स्टिवन एक दिन किसी कार्यवशात् शान्तिपूर्वक किसी मार्ग से गुजर रहा था कि उसके नास्तिक शत्रुओ ने उसे चारो ओर से घेर लिया और बोले—"बताओ ! अब तुम क्या करोगे ? कहाँ जाओगे, और कौनसा वह दुर्ग है जिसमे प्रविष्ट होकर सुरक्षित रहोगे ?"

रिटन ने अपनी शान्ति और गम्भीरता को पूर्णरूप से कायम रखते हुए विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—

'महाशय! मेरा दुर्ग यहाँ बाहर नहीं है। मेरे हृदय के अन्दर ही है, जिसका नाम है अपने धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा। जब तक मैं इस 'आत्म-श्रद्धा रूपी दुर्ग में स्थित हूँ, तब तक आप लोग मेरा रत्तीमात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकते। अनिष्ट केवल मेरे शरीर का हो सकता है, पर इसकी मुझे परवाह नहीं है। मैं तो अपने श्रद्धा रूपी दुर्ग की रक्षा करना चाहता हूँ और वह कर लूँगा चाहे आप सब मिलकर मेरे इस अनित्य शरीर को नष्ट भी कर दें। आखिर यह तो एक दिन जाना ही है। बाद में न जाकर आज ही सही।"

रिटन के विरोधी उसकी इस बात से नतमस्तक हो गये और बिना कुछ कहे अपने-अपने गन्तव्य की ओर चल दिये।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जिस व्यक्ति की धर्म पर दृढ़ श्रद्धा या विश्वास होता है उसे संसार की कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती।

इस संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप अथवा बन्धन-मुक्ति और परलोक के संशय में ही पड़े रहते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी किसी की सत्संगति या उपदेशों के प्रभाव में आकर कुछ समय तक धर्माचरण करते भी हैं, किन्तु उनका तुरन्त ही कुछ विशिष्ट फल प्राप्त न होने पर खेद करने लगते हैं कि मैंने व्यर्थ ही इन क्रियाओं में समय गँवाया। ऐसा वे श्रद्धा व दृढ़ता न होने के कारण ही करते हैं।

इसी विषय को लेकर भगवान ने कहा है—

नत्थि नूण परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २, गा० ४४

गाथा में कहा गया है—साधु कभी ऐसा चिन्तन न करे कि—'नत्थि नूण परलोए' अर्थात् निश्चय ही परलोक तो है ही नहीं और न ही तपस्वी को किसी प्रकार की 'इड्ढी' यानी ऋद्धि ही प्राप्त हो सकती है। अतः मैं ठगा गया हूँ।

ऐसा जो साधक सोचता है, उसका इहलोक तो डाँवाडोल होकर बिगड़ता ही है, परलोक भी बिगड़ जाता है। श्रद्धा के अभाव में साधक तो वह साधना के सुमार्ग पर चल ही नहीं पाता और कदाचित् चल पड़ता है तो सन्देह और [illegible] के कारण वह आगे साधना का रसास्वादन नहीं पाता तथा त्रिशंकु के समान [illegible] [illegible] हुआ [illegible] लटकता रहता है और ऐसी स्थिति में

जबकि वह अपना उद्देश्य ही निश्चित करने मे असमर्थ रहता है तो फिर प्रगति करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

नत्थिनूण परेलोए

श्रद्धाविहीन या नास्तिक व्यक्तियो का सबसे बडा तर्क यही होता है कि परलोक किसने देखा है ? यह शरीर तो पृथ्वी आदि पचभूतो के मेल मे बना है और मरने पर उन्ही मे मिल जाएगा।

ऐसे अज्ञानियो से पूछा जाय कि परलोक अगर नही देखा गया है तो वह हो नही सकता, तब फिर तुमने अपने दादा-परदादा या उनसे भी पहले के पूर्वजो को कब देखा है ? पर तुम्हारे देख न पाने से क्या वे थे नही, अगर वे नही होते तो उनकी वश-परम्परा मे तुम कैसे आते ?

दूसरे अगर यह शरीर पचतत्त्वो से निर्मित हुआ है तो फिर इसमे चेतना कहाँ से आई ? और शरीर के मृत होने पर वह कहाँ जाती है ? सबसे बडी बात तो यह है कि जड या असत् भूतो से सत् की उत्पत्ति कभी नही होती। अगर चेतनाशक्ति जड भूतो के मेल का परिणाम मान भी ली जाय तो पृथ्वी आदि उन जड भूतो के पृथक्-पृथक् होने पर भी उनमे कुछ न कुछ चेतना अवश्य होती। पर यह कदापि सम्भव नही है तो फिर जड भूतो के इकट्ठा कर देने से ही चेतना शक्ति का आविर्भाव क्योकर हो सकता है ? पाँच ही क्या पचास और पचास हजार जड भूतो का पहाड खडा कर देने पर भी उनमे चेतना का आना असम्भव है। वह इसलिए कि उनमे चेतनाशक्ति हो नही सकती और जो वस्तु होती नही उसका आविर्भाव कैसे हो सकता है ? जड अलग है और चेतन अलग। जड वस्तु मे लाख प्रयत्न करने पर भी चेतनता लाना किसी भी वैज्ञानिक के लिए सम्भव नही है और कभी सम्भव होगा भी नही।

इससे स्पष्ट है कि चेतनाशक्ति पचभूतो के मेल का परिणाम नही है अपितु वह स्वतन्त्र और सदा अपना अस्तित्व रखने वाली एक महान् शक्ति है, जो कि जड शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहती है और तब तक रहेगी, जब तक कि वह अपने कर्मों के आवरणो को छिन्न-भिन्न करके सिद्धावस्था को प्राप्त नही कर लेगी। और सिद्धावस्था मे भी अनन्त काल तक रहेगी अर्थात् वह सदैव रहने वाली शक्ति है। उस चेतना शक्ति का नाम ही आत्मा है प्रत्येक शरीर से पृथक् होती है, पर अपने शुभ या अशुभ कर्मो के अनुसार निम्न या उच्च योनियो मे शरीर प्राप्त किया करती है। पाप कर्मों के कारण वह नरक एव तिर्यंच योनि मे भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर पाती है और पुण्य कर्मो के कारण मनुष्य एव देव-शरीर को धारण करती है। यहाँ प्रत्येक साधक को ध्यान मे रखना चाहिए कि मानवयोनि देवयोनि से कम नही वरन् उससे अधिक महत्त्व

धर्माचरण का फल मिलता था तथा सिद्धियाँ उनके चरणो पर स्वय झुकती थी। आज भी उनका विलीनीकरण नही हो गया है और विरले महा-मानवो मे उनका कुछ न कुछ अस्तित्व पाया जाता है। इससे यह तो निश्चय ही है कि पूर्व मे साधक महान् सिद्धियो के अधिकारी होते थे। अन्तर केवल यही है कि वे साधक केवल कर्मों से मुक्त होना ही अपना उद्देश्य समझते थे, सिद्धियाँ हासिल करना नही। सिद्धियाँ तो उन्हे स्वय ही हासिल हो जाती थी। किन्तु आज का साधक थोडा धर्माचरण करके ही सिद्धियो के स्वप्न देखता है और वे प्राप्त न होने पर अविलम्ब अपने उस किये-कराये पर भी पानी फेरकर पश्चात्ताप करने लग जाता है कि मैंने व्यर्थ मे इतने दिन तपानुष्ठान किये, इससे तो सासारिक सुखोपभोग करना अच्छा था। जो साधक सिद्धियो को ही अपना उद्देश्य मान लेता है, वह भला कब तक अपने साधना मार्ग पर दृढता से चलेगा और परिषहो पर विजय प्राप्त करके सवर की आराधना कर सकेगा ? जबकि उसके मानस मे स्थिरता नही होती और सन्देह की तरगे सदा उसके मस्तिष्क को झकझोरती रहती है।

ईसाई धर्म-ग्रन्थ इञ्जील मे लिखा है—

A doubt minded man is unstable all his ways

—Games 1, 8.

अर्थात्—एक श्रद्धाविहीन या सन्देहशील व्यक्ति अपने सभी कृत्यो मे चलायमान रहता है। उसके दिल और दिमाग मे स्थिरता नही होती।

वस्तुत आज के युग मे सच्ची श्रद्धा का अधिकाश मे अभाव है। साधारण व्यक्तियो का तो कहना ही क्या है, वे तो चार पैसो के लिए भी अपना धर्म वेचने के लिए तैयार रहते है और रोगादि का थोडा सा आक्रमण होते ही भैरो, भवानी और हनुमान के आगे मस्तक झुकाने लगते हैं। पर बडे-बडे श्रावक और महाव्रतधारी साधु भी मन, वचन और कर्म से अपनी साधना पर दृढ नही रह पाते। कभी-कभी तो वे अपना वेश भी श्रद्धा के अभाव में त्याग कर ससार मे लिप्त हो जाते है, कभी लोक-लज्जा के कारण वेश नही त्याग पाते तो वचन मे धर्म के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए उसकी निरर्थकता साबित करने लगते है और कभी-कभी इन दोनो पर रोक लगा लेते है तो मन ही मन अपने व्रतो के ग्रहण कर लेने पर और सयम के अपना लेने पर पछताते हुए घुलते रहते है। पर आप यह न सोचे कि इस युग मे सभी व्यक्ति या साधु ऐसे ही होते है। 'बहु रत्नानि वसुन्धरा' इस पृथ्वी पर विरले महापुरुष और

मेरे कहने का अभिप्राय यह नही है कि वेश अनुरूप न रहने पर व्यक्ति धर्मात्मा नही बना रह सकता । धर्म तो वेश से परे और आत्मा का गुण है वह चाहे किसी भी वेश के पुरुष मे क्यो न हो, पर इतना अवश्य है कि पवित्र भावनाओ के अनुसार वेश भी सीधा-साधा पवित्र हो तो अपने आपको तथा औरो को भी अच्छा लगता है ।

अब आते है उत्तम श्रेणी के पुरुष । जो कि न कभी अपना धर्म छोडते है और न वेश ही । धर्म के समान ही वे वेश को भी महत्त्व देते है । परिणाम-स्वरूप बिना किसी हिचकिचाहट और बिना लोकापवाद के भय के ऐसे व्यक्ति एकनिष्ठ एव पूर्ण श्रद्धा सहित अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर अडिग कदमो से बढते चले जाते है और अन्त मे अपने उच्चतम उद्देश्य को हासिल कर लेते है ।

श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी

बन्धुओ, सबसे बडी बात तो यह है कि साधक अगर अपने जीवन मे किसी प्रकार की सिद्धि हासिल करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे श्रद्धावान् होना चाहिए । श्रद्धा के अभाव से कभी भी मन मे दृढता, साहस और सकल्प शक्ति उत्पन्न नही हो सकती ।

बडे से बडा विद्वान् भी अगर मन मे पूर्ण श्रद्धा नही रखता तो उसकी विद्वत्ता का कोई मूल्य नही है । भले ही वह अपने सैकडो शिष्यो को शास्त्र एव धर्मग्रन्थ पढाकर परीक्षाओ मे उत्तीर्ण करा देता है यानी अपने जीवन का अधिकाश समय वह शास्त्रो को पढाने मे व्यतीत करता है, किन्तु उनके पाठन से स्वय कोई लाभ नही उठा पाता क्योकि स्वय उसके मन मे सच्ची श्रद्धा नही होती और इसीलिए दिन-रात धर्मग्रन्थ या आध्यात्मिक शास्त्र औरो को पढाकर भी स्वय कोरा रह जाता है । उसके हृदय मे आध्यात्म-रस का निर्झर नही बह पाता ।

आत्मानन्द की अनुभूति

सम्राट अकबर तानसेन के सगीत और वाद्य के बडे प्रशसक थे । और इसीलिए तानसेन को अकबर के दरबार मे बडा सम्माननीय स्थान प्राप्त था ।

एक दिन अकबर ने तानसेन का मनोमुग्धकारी गाना सुनने के पश्चात् अचानक ही कहा—"तानसेन ! तुम अत्यन्त सुन्दर गाते हो, पर मैं सोचता हूँ कि तुमने जिस गुरु के पास सगीत का इतना सुन्दर शिक्षण प्राप्त किया है, तुम्हारे वह गुरु कितना अच्छा गाते होंगे ? अगर वे जीवित होते तो मै उनका सगीत अवश्य सुनता ।"

मेरे कहने का अभिप्राय यह नही है कि वेश अनुरूप न रहने पर व्यक्ति धर्मात्मा नही बना रह सकता । धर्म तो वेश से परे और आत्मा का गुण है वह चाहे किसी भी वेश के पुरुष मे क्यो न हो, पर इतना अवश्य है कि पवित्र भावनाओ के अनुसार वेश भी सीधा-साधा पवित्र हो तो अपने आपको तथा औरो को भी अच्छा लगता है ।

अब आते है उत्तम श्रेणी के पुरुष । जो कि न कभी अपना धर्म छोडते है और न वेश ही । धर्म के समान ही वे वेश को भी महत्त्व देते है । परिणाम-स्वरूप बिना किसी हिचकिचाहट और बिना लोकापवाद के भय के ऐसे व्यक्ति एकनिष्ठ एव पूर्ण श्रद्धा सहित अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर अडिग कदमो मे बढते चले जाते है और अन्त मे अपने उच्चतम उद्देश्य को हासिल कर लेते है ।

श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी

बन्धुओ, सबसे बडी बात तो यह है कि साधक अगर अपने जीवन मे किसी प्रकार की सिद्धि हासिल करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे श्रद्धावान् होना चाहिए । श्रद्धा के अभाव से कभी भी मन मे दृढता, साहस और सकल्प शक्ति उत्पन्न नही हो सकती ।

बडे से बडा विद्वान् भी अगर मन मे पूर्ण श्रद्धा नही रखता तो उसकी विद्वत्ता का कोई मूल्य नही है । भले ही वह अपने सैकडो शिष्यो को शास्त्र एव धर्मग्रन्थ पढाकर परीक्षाओ मे उत्तीर्ण करा देता है यानी अपने जीवन का अधिकाश समय वह शास्त्रो को पढाने मे व्यतीत करता है, किन्तु उनके पाठन मे स्वय कोई लाभ नही उठा पाता क्योकि स्वय उसके मन मे सच्ची श्रद्धा नही होती और इसीलिए दिन-रात धर्मग्रन्थ या आध्यात्मिक शास्त्र औरो को पढाकर भी स्वय कोरा रह जाता है । उसके हृदय मे आध्यात्म-रस का निर्झर नही बह पाता ।

आत्मानन्द की अनुभूति

सम्राट अकबर तानसेन के सगीत और वाद्य के बडे प्रशसक थे । और इसीलिए तानसेन को अकबर के दरबार मे बडा सम्माननीय स्थान प्राप्त था ।

एक दिन अकबर ने तानसेन का मनोमुग्धकारी गाना सुनने के पश्चात् अचानक ही कहा—"तानसेन ! तुम अत्यन्त सुन्दर गाते हो, पर मैं सोचता हूँ कि तुमने जिस गुरु के पास सगीत का इतना सुन्दर शिक्षण प्राप्त किया है, तुम्हारे वह गुरु कितना अच्छा गाते होंगे ? अगर वे जीवित होते तो मैं उनका सगीत अवश्य सुनता ।"

तानसेन ने उत्तर दिया—"महाराज ! वे तो अभी जीवित ही हैं।"

यह सुनकर सम्राट चौंक पड़े और आग्रहपूर्वक बोले—"तब तो उन्हे एक दिन दरबार मे लाओ। मैं अवश्य ही उनके सगीत का रसास्वादन करूँगा।"

सम्राट की बात सुनकर तानसेन ने धीरे से कहा—"हुजूर ! वे दरबार मे कभी नही आ सकते।"

"ऐसा क्यो ?"—अकबर ने बहुत चकित होकर पूछा।

"इसलिए कि वे केवल अपने आनन्द के लिए और अपनी इच्छा से गाते है। वे सदा एकान्त मे ही गाते हैं, यहाँ तक कि अगर कोई सगीत-प्रेमी उनके गाने को सुनने के लिए पहुँच जाता है तो वे गाना बन्द कर देते है। किन्तु अगर आपकी तीव्र इच्छा हो तो हम आड मे छिपकर दूर से ही उनके सगीत का आनन्द उठाएँगे।"

अकबर तानसेन के गुरु का सगीत छिपकर सुनने के लिए भी तैयार हो गया। अत एक दिन अर्धरात्रि के समय दोनो शहर से दूर निर्जन स्थान पर जहाँ तानसेन के गुरु रहते थे, वहाँ पहुँच गये।

उस समय वृद्ध सगीतकार मस्त होकर पूर्ण तन्मयता से गा रहे थे। उन्हे दीन-दुनिया की कोई सुधि नही थी। अपने पूर्व विचारानुसार बादशाह अकबर और तानसेन दोनो ही गुरु की कुटिया के बाहर खडे होकर चुपचाप आत्मानन्द के लिए ही गाने वाले सगीतकार की मधुर स्वर-लहरी का रसास्वादन करने लगे।

गाना समाप्त हुआ और दोनो उसी प्रकार नि शब्द लौट पडे। बादशाह अकबर तानसेन के गुरु के सगीत को सुनकर इतना चमत्कृत और आनन्दित हुआ कि उसकी आँखो से हर्ष के आँसू निकल पडे। मार्ग मे उन्होंने कहा—"तानसेन ! अब तक तो मैं तुम्हारी सगीत-विद्या पर ही मुग्ध था, किन्तु आज तुम्हारे गुरु का सगीत सुनने के पश्चात् तो ऐसा लगता है कि तुम्हारी विद्या पूर्णतया नीरस है। ऐसा क्यो ? अभी-अभी सगीत-विद्या का जो रस और आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है, उसमे और तुम्हारे द्वारा गाये जाने वाले सगीत मे इतना अन्तर क्यो है ? आखिर तो तुमने इन्ही के पास शिक्षण प्राप्त किया है।"

तानसेन ने तनिक भी सकुचित न होते हुए उत्तर दिया—"हुजूर ! मेरे गुरु जब गाते हैं तब उनका मन स्वय आनन्द से भरा रहता है। वे अपनी आत्मा की पुकार पर गाते हैं और स्वय ही आनन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु मैं आपके और अन्य व्यक्तियो के कहने से गाता हूँ तथा मुझे तब आनन्द होता है, जबकि

मेरे कहने का अभिप्राय यह नही है कि वेश अनुरूप न रहने पर व्यक्ति धर्मात्मा नही बना रह सकता। धर्म तो वेश से परे और आत्मा का गुण है वह चाहे किसी भी वेश के पुरुष मे क्यो न हो, पर इतना अवश्य है कि पवित्र भावनाओ के अनुसार वेश भी सीधा-साधा पवित्र हो तो अपने आपको तथा औरो को भी अच्छा लगता है।

अब आते है उत्तम श्रेणी के पुरुष। जो कि न कभी अपना धर्म छोडते है और न वेश ही। धर्म के समान ही वे वेश को भी महत्त्व देते है। परिणाम-स्वरूप बिना किसी हिचकिचाहट और बिना लोकापवाद के भय के ऐसे व्यक्ति एकनिष्ठ एव पूर्ण श्रद्धा सहित अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर अडिग कदमो से बढते चले जाते है और अन्त मे अपने उच्चतम उद्देश्य को हासिल कर लेते है।

श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी

बन्धुओ, सबसे बडी बात तो यह है कि साधक अगर अपने जीवन मे किसी प्रकार की सिद्धि हासिल करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे श्रद्धावान् होना चाहिए। श्रद्धा के अभाव से कभी भी मन मे दृढता, साहस और सकल्प शक्ति उत्पन्न नही हो सकती।

बड़े से बडा विद्वान् भी अगर मन मे पूर्ण श्रद्धा नही रखता तो उसकी विद्वत्ता का कोई मूल्य नही है। भले ही वह अपने सैकडो शिष्यो को शास्त्र एव धर्मग्रन्थ पढाकर परीक्षाओ मे उत्तीर्ण करा देता है यानी अपने जीवन का अधिकाश समय वह शास्त्रो को पढाने मे व्यतीत करता है, किन्तु उनके पाठन से स्वय कोई लाभ नही उठा पाता क्योकि स्वय उसके मन मे सच्ची श्रद्धा नही होती और इसीलिए दिन-रात धर्मग्रन्थ या आध्यात्मिक शास्त्र औरो को पढाकर भी स्वय कोरा रह जाता है। उसके हृदय मे आध्यात्म-रस का निर्झर नही बह पाता।

आत्मानन्द की अनुभूति

सम्राट अकबर तानसेन के सगीत और वाद्य के बडे प्रशसक थे। और इसीलिए तानसेन को अकबर के दरबार मे बडा सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

एक दिन अकबर ने तानसेन का मनोमुग्धकारी गाना सुनने के पश्चात् अचानक ही कहा—"तानसेन! तुम अत्यन्त सुन्दर गाते हो, पर मैं सोचता हूँ कि तुमने जिस गुरु के पास सगीत का इतना सुन्दर शिक्षण प्राप्त किया है, तुम्हारे वह गुरु कितना अच्छा गाते होगे? अगर वे जीवित होते तो मै उनका सगीत अवश्य सुनता।"

तानसेन ने उत्तर दिया—"महाराज ! वे तो अभी जीवित ही हैं।"

यह सुनकर सम्राट चौंक पडे और आग्रहपूर्वक बोले—"तब तो उन्हे एक दिन दरबार मे लाओ। मैं अवश्य ही उनके सगीत का रसास्वादन करूँगा।"

सम्राट की बात सुनकर तानसेन ने धीरे से कहा—"हुजूर ! वे दरबार मे कभी नही आ सकते।"

"ऐसा क्यो ?"—अकबर ने बहुत चकित होकर पूछा।

"इसलिए कि वे केवल अपने आनन्द के लिए और अपनी इच्छा से गाते हैं। वे सदा एकान्त मे ही गाते हैं, यहाँ तक कि अगर कोई सगीत-प्रेमी उनके गाने को सुनने के लिए पहुँच जाता है तो वे गाना बन्द कर देते है। किन्तु अगर आपकी तीव्र इच्छा हो तो हम आड मे छिपकर दूर से ही उनके सगीत का आनन्द उठाएँगे।"

अकबर तानसेन के गुरु का सगीत छिपकर सुनने के लिए भी तैयार हो गया। अत एक दिन अर्धरात्रि के समय दोनो शहर से दूर निर्जन स्थान पर जहाँ तानसेन के गुरु रहते थे, वहाँ पहुँच गये।

उस समय वृद्ध सगीतकार मस्त होकर पूर्ण तन्मयता से गा रहे थे। उन्हे दीन-दुनिया की कोई सुधि नही थी। अपने पूर्व विचारानुसार बादशाह अकबर और तानसेन दोनो ही गुरु की कुटिया के बाहर खडे होकर चुपचाप आत्मानन्द के लिए ही गाने वाले सगीतकार की मधुर स्वर-लहरी का रसास्वादन करने लगे।

गाना समाप्त हुआ और दोनो उसी प्रकार नि शब्द लौट पडे। बादशाह अकबर तानसेन के गुरु के सगीत को सुनकर इतना चमत्कृत और आनन्दित हुआ कि उसकी आँखो से हर्ष के आँसू निकल पडे। मार्ग मे उन्होंने कहा—"तानसेन ! अब तक तो मैं तुम्हारी सगीत-विद्या पर ही मुग्ध था, किन्तु आज तुम्हारे गुरु का सगीत सुनने के पश्चात् तो ऐसा लगता है कि तुम्हारी विद्या पूर्णतया नीरस है। ऐसा क्यो ? अभी-अभी सगीत-विद्या का जो रस और आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है, उसमे और तुम्हारे द्वारा गाये जाने वाले सगीत मे इतना अन्तर क्यो है ? आखिर तो तुमने इन्ही के पास शिक्षण प्राप्त किया है।"

तानसेन ने तनिक भी सकुचित न होते हुए उत्तर दिया—"हुजूर ! मेरे गुरु जब गाते हैं तब उनका मन स्वय आनन्द से भरा रहता है। वे अपनी आत्मा की पुकार पर गाते हैं और स्वय ही आनन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु मैं आपके और अन्य व्यक्तियो के कहने से गाता हूँ तथा मुझे तब आनन्द होता है,

चारो ओर से मेरी प्रशसा होती है तथा आप मुझे इनाम और भेट के तौर पर बहुत धन प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दो मे मेरे सगीत मे यश-प्राप्ति, सराहना एव अर्थ-उपार्जन की आशा का विष घुला रहता है।"

अकबर अपने प्रिय सगीतकार तानसेन की स्पष्ट उक्ति को सुनकर चकित रह गया, पर उसकी समझ मे आ गया कि किसी भी क्रिया का सच्चा फल तभी हासिल होता है जबकि वह केवल अपने आनन्द एव सन्तोष के लिए की जाती है तथा उसका उद्देश्य फल की आकाक्षा से रहित, पवित्र एव दृढ संकल्प-युक्त होता है।

बन्धुओ, आपकी समझ मे भी इस उदाहरण का अर्थ आ गया होगा। वह यही है कि हमारी शुभ क्रियाएँ एव त्याग-तपस्या भी तभी सच्चा फल एव सिद्धियाँ प्राप्त करा सकती है जबकि हम उनके फल की आकाक्षा, दिखावे की भावना तथा यश-प्राप्ति की कामना का त्याग कर दे तथा उन्हे पूर्ण आत्म-विश्वास एव दृढ श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते चले जाये। साथ ही मार्ग मे आने वाली किसी भी बाधा से या किसी भी प्रकार के परिषह से विचलित होकर उन्हे निरर्थक न मानने लग जायें। अगर ऐसा हुआ तो हमारी वही स्थिति होगी—

न खुदा ही मिला न विसाले-सनम।
न इधर के रहे न उधर के रहे॥

इस शेर के अनुसार वह कहावत भी चरितार्थ होती है—'दुविधा मे दोनो गए, माया मिली न राम।'

वस्तुत जो साधक अपनी साधना के फल मे सन्देह करने लगता है तथा उसके लिए मन ही मन पश्चात्ताप करता रहता है, वह न तो अपनी साधना के मधुर फल को पा सकता है और न ही लोकापवाद, निन्दा एव तिरस्कार के भय से सासारिक सुखो का उपभोग कर पाता है। दूसरे शब्दो मे उसका यह लोक तो बिगडता ही है, साथ ही परलोक भी नष्ट हो जाता है।

ये सब अश्रद्धा के ही विषम परिणाम होते है। श्रद्धा के अभाव मे साधक का मन प्रतिपल पारे के समान अस्थिर और चचल बना रहता है। कभी वह एक मार्ग की ओर झुकता है तथा कभी दूसरी ओर। इसके फलस्वरूप न तो वह अपने विचारो मे ही स्थिरता ला पाता है और न क्रियाओ मे ही। इसीलिए अश्रद्धा को घोर पाप बताते हुए कहा गया है—

अश्रद्धा परमं पाप, श्रद्धा पाप-प्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पोजीर्णमिव त्वचम्॥

अर्थात्—अश्रद्धा महापाप है और श्रद्धा पापनाशक। इसलिए विवेकी और श्रद्धाशील प्राणी पापो का इस प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुली को छोडकर विना पीछे मुडकर उसकी ओर देखता हुआ सरपट वहाँ से भाग जाता है।

वास्तव मे ही अश्रद्धा घोर पाप है। क्योकि ससारी जीव जो अनन्त काल से नाना योनियो मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहा है वह केवलमात्र अश्रद्धा के कारण ही। उसके ससार-भ्रमण मे मूल कारण अश्रद्धा या श्रद्धाविहीनता ही है। हमारे जैनशास्त्र पुन-पुन यही कहते हैं कि अगर जीव मे सम्यक्श्रद्धा आ जाय तो वह पापो से बचता हुआ निश्चय ही अपने भव-भ्रमण को कम करता चला जाता है क्योकि सच्ची और दृढ श्रद्धा के समीप पाप नही फटक सकते।

खेद की बात तो यह है कि आज बडे-बडे शास्त्रो के ज्ञाता और अपने आपको आस्तिक कहने वाले भी नास्तिको के समान ही विचार और आचरण करते है। इसीलिए वे न तो अपने आपको पाते हैं और न जगत् को ही पा पाते है। श्रद्धा का अभाव उनके जीवन को अशाति, भीरुता और, सकीर्णता से भर देता है तथा ज्ञान को निष्फल बना देता है। ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति श्रद्धा मे निहित होती है। अत श्रद्धावान ज्ञानी न होने पर भी ससार-सागर से पार उतर जाता है और ज्ञानी श्रद्धा के अभाव मे अपनी पीठ पर ज्ञान का बोझ लादे हुए भी उसमे गोते लगाता रहता है।

श्रद्धा अंधी नहीं होती

प्राय कुछ लोग कहा करते हैं कि श्रद्धा मे अधता होती है और अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार बिना सोचे-समझे या देखे-भाले चल पडता है तथा कदम-कदम पर ठोकरें खाता है, उसी प्रकार श्रद्धा से अन्धा हुआ व्यक्ति भी ससार मे ठोकरें खाता रहता है।

ऐसा कहने वाले नासमझ व्यक्तियो को समझना चाहिए कि उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या एव असगत है। क्योकि सम्यक्श्रद्धा का पूर्ण सहायक विवेक होता है। श्रद्धाशील व्यक्ति अपने विवेक के द्वारा पाप-मार्ग और पुण्य-मार्ग के अन्तर को समझता है तथा भली-भाँति जान लेता है कि उसे किस मार्ग पर चलना है? अपने विवेकरूपी नेत्रो से वह सवर और निर्जरा के मार्ग को देखता है तथा आश्रव-मार्ग का परित्याग करके उन पर एकनिष्ठ होकर बढता है। इसलिए विवेकयुक्त श्रद्धालु कभी ठोकरें नही खाता और किसी भी कदम पर शका या अविश्वास को न आने देता हुआ अपने मानव जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

बन्धुओ, आप प्रतिक्रमण करते समय दर्शन के विषय मे एक गाथा बोला करते है। मैं नही कह सकता कि कितने व्यक्ति उसका उच्चारण भी स्पष्ट न करते हुए तोता-रटन्त के समान उसे कह जाते है, और कितने व्यक्ति उसके अर्थ को भली-भाँति समझकर उससे जीवन मे लाभ उठाते है ? आज मैं वही गाथा आपके सामने रख रहा हूँ। जो इस प्रकार है—

परमत्थ-संथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ-सेवणा वावि।
वावन्न कुदसण-वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा॥

इस आर्या छद मे श्रद्धा को मजबूत बनाने वाली दो प्रकार की औषधियाँ बताई गई है और उनका पूरी तरह असर हो सके इसके लिए दो प्रकार के परहेज भी कहे गये है।

यद्यपि आत्मा कभी मरती नही है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से शरीर प्राप्त करने को जन्म और उस शरीर के नष्ट हो जाने को हम मृत्यु कहते हैं। तो आत्मा के साथ कर्मों के कारण लगे हुए इस जन्म-मरण के रोग को हटाने के लिए भगवान ने जो दो प्रकार की औषधियाँ बताई है उनमे से पहली हैं— 'परमार्थ का परिचय करना।'

'तत्त्वार्थसूत्र' मे कहा गया है—

'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।'

अर्थात्—जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्वो पर यथार्थ श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखना सम्यक् दर्शन कहलाता है।

तो परमार्थ का परिचय करना, इन नौ तत्त्वो की पूर्णतया जानकारी करना होता है। जो आत्मार्थी इन्हे जानने मे रुचि न रखे वह जीव-अजीव के, पाप-पुण्य के, आश्रव एव सवर के तथा बन्ध और मोक्ष के अन्तर को कैसे जान सकता है ? और फिर यह निश्चय भी कैसे कर सकता है कि मुझे किनसे बचना है और किन्हे ग्रहण करना है ? क्योकि इन्ही तत्त्वो मे ऐसे तत्त्व भी हैं जो आत्मा को कुगतियो मे ले जाते हुए ससार-परिभ्रमण कराते रहते है, और ऐसे तत्त्व भी है जो आत्मा को कर्म-बन्धनो से मुक्त करके अक्षय सुख एव आनन्द की प्राप्ति कराते है यानी जन्म-मरण की भयकर बीमारी से सदा के लिए छुटकारा दिला देते है। इसीलिए गाथा मे नौ तत्त्वो की जानकरी को प्रथम औषधि बताया गया है।

अब आती है दूसरी औषधि। वह है—'परमार्थ के ज्ञाताओ की सगति करना।' अनेक व्यक्ति जो बुद्धि की मन्दता के कारण तत्त्वो की जानकारी

स्वय भली-भांति नही कर सकते तो बहाना बना लेते हैं—"महाराज! हमारी बुद्धि काम नही करती और इनके विषय मे हम समझ न पाने के कारण कुछ जान नही सकते।"

अरे भाई! अगर तुम्हारी बुद्धि काम नही करती और तुम्हारे ज्ञान के नेत्र तत्त्वो की गभीरता को नही देख पाते तो क्या तुम औरो के ज्ञान का लाभ नही उठा सकते? क्या तुम परमार्थ के ज्ञाताओ के निर्देशन पर नही चल सकते?

'सूत्रकृताग' मे कहा गया है—

'अदक्खु, व दक्खुवाहिय सद्दहसु।'

अर्थात्—अरे, नहीं देखने वालो! तुम देखने वालो की बात पर विश्वास करते चलो।

कितनी सुन्दर और सरल प्रेरणा दी गई तथा कहा गया है कि अगर तुम्हे स्वय मार्ग नही सूझता तो सन्मार्ग के ज्ञाता महापुरुषो एव गुरुओ के सुझाये हुए मार्ग पर तो चल सकते हो? वही करो। पर उसके लिए भी एक शर्त है और वह है पूर्ण विनय-भाव रखना। कोई भी जिज्ञासु तभी गुरु से कुछ ग्रहण कर सकता है, जबकि अपनी उच्छृखलता एव हठ का त्याग करके उन पर पूर्ण विश्वास करता हुआ सन्मार्ग की जानकारी करे।

विनय भी श्रद्धा का प्रतीक है अत प्रसगवश मैं विनय-भाव पर शास्त्रीय उल्लेख देता हूं। शास्त्रो मे कहा गया है—

"चउव्विहा खलु विणयसमाही पण्णत्ता, 'तं जहा--(१) अणुसासिज्जतो सुस्सूसइ, (२) सम्म संपडिवज्जइ, (३) वेयमाराहइ, (४) न य भवइ अत्तसपग्गहिए।"

अर्थात्—विनय समाधि चार प्रकार की है। यथा—(१) गुरु द्वारा शासित होकर, गुरु के सुभाषित वचनो को सुनने की इच्छा करे। (२) गुरु के वचनो को सम्यक् प्रकार से समझे-बूझे। (३) श्रुतज्ञान की पूर्णतया आराधना करे। (४) गर्व से आत्म-प्रशसा न करे।

इस प्रकार जो मुमुक्षु स्वय तीव्र बुद्धि और ज्ञान न रखता हुआ गुरु की सगति एव उनके उपदेशो से भी परमार्थ की जानकारी करता है। वह निश्चय ही जन्म-मरण की बीमारी को मिटाने वाली दूसरी औषधि का सेवन करता है तथा उससे लाभ उठा लेता है।

वन्धुओ, ये दो तो औषधियाँ हुई जिन्हे आत्मार्थी को सेवन करना चाहिए साथ ही दो प्रकार के परहेज भी रखने चाहिए जिन्हे मैं आपको वताने जा रहा हूँ। क्योकि परहेज के अभाव मे कभी दवा कारगर नही हो पाती। मराठी मे कहा भी है--

"जेणे हरीमात्रा ध्यावी, तेणे पथ्य साम्भालावी।"

कमजोर को रसायन लेना वहुत उत्तम है, क्योकि वह ताकत पहुँचाती है पर वह अपना काम तभी करेगी, जवकि पथ्य का ध्यान रखा जाएगा।

सस्कृत मे भी एक श्लोक है---

औषधेन विना व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनस्य भेषजाना शतैरपि॥

कहते है कि--विना दवा लिए भी परहेज से ही वीमारी हट सकती है, किन्तु अगर कोई परहेज न करते हुए सैकडो दवाइयाँ भी लेवे तो कोई फायदा नही होता। इसलिए दवा के साथ पथ्य वरावर लेना या परहेज रखना अनिवार्य है।

तो मैं आपको यह वता रहा था कि श्रद्धा को मजवूत करने के लिए प्रतिक्रमण के दर्शन-पाठ मे दो औषधियाँ वताई गई है। जिनमे मे पहली है—परमार्थ यानी नौ तत्त्वो की जानकारी, उन पर चिन्तन-मनन तथा उसके पश्चात् विवेक की सहायता से पुण्य, सवर एव निर्जरा आदि के सुमार्ग पर चलते हुए मुक्ति प्राप्त करना। और दूसरी औषधि है— स्वयं मे तत्त्वो की जानकारी या उनका ज्ञान प्राप्त करने लायक बुद्धि न हो तो जो इनके ज्ञाता हैं उन्हे गुरु मानकर उनके उपदेशो से तत्त्वो को समझना तथा उनकी सगति करके उनके जीवन से शिक्षा लेकर उसे अपने जीवन मे उतारना।

अब इन दो औषधियो के साथ दो प्रकार के जो परहेज वताये गये हैं, उन्हे आपके सामने रखता हूँ। परहेजो की आवश्यकता या अनिवार्यता के विषय मे तो अभी मैं सस्कृत के एक श्लोक के द्वारा वता चुका हूँ अत अव परहेज आपके सामने रखना है।

श्रद्धा को दृढ बनाने वाली औषधियो के प्रयोग के साथ जिन दो परहेजो को रखना है, उनमे से पहला है—जिन व्यक्तियो ने सम्यक्त्व को पाकर भी फिर उसका वमन कर दिया है, अर्थात् उसका त्याग कर दिया है, उनकी कदापि सगति नही करना तथा दूसरा परहेज है—जिनके मानस मे श्रद्धा का अभाव है या कुश्रद्धा है, उनके समीप भी नही फटकना।

साधक के लिए ये दोनो परहेज आवश्यक ही नही अनिवार्य हैं। क्योकि अश्रद्धालु व्यक्ति स्वय को तो पतन की ओर ले जाता ही है, साथ ही अपनी सगति मे रहने वाले व्यक्ति को भी कुमार्गगामी बना देता है। फल यह होता है कि उन व्यक्तियो का जीवन कुसग के कारण निरर्थक चला जाता है। और तो और बड़े-बड़े साधक तथा सयमी भी कुसगति के कारण विचलित होकर अपनी साधना को मिट्टी मे मिला देते हैं।

कुसगति का परिणाम

किसी शहर के राजा ने सुना कि हमारे शहर से कुछ दूर वन मे एक महात्मा रहते है जो केवल कन्द-मूल खाकर और निर्झर का पानी ग्रहण करके ही सतत् अपनी साधना मे लगे रहते हैं। कभी भी वे शहर मे नही आते और न ही किसी को अपने पास दर्शनार्थ आने देते हैं।

राजा ने जब उन सत की इतनी प्रशसा सुनी तो उनके दर्शन करने का विचार किया और अपने मन्त्री को इसी उद्देश्य से सत के पास भेजा। मन्त्री ने जाकर सत से राजा की इच्छा जाहिर की और उन्हे अपने पास आने की आज्ञा देने के लिए निवेदन किया।

सत ने तो यह सुनकर वह स्थान ही छोड़कर अन्यत्र जाने का उपक्रम किया, किन्तु मन्त्री के बहुत अनुनय-विनय करने पर अपना विचार स्थगित करके राजा को एक बार आने की अनुमति दी।

इस पर राजा एक दिन अपने परिवार सहित महात्माजी के दर्शनार्थ आए। सत की सौम्य-मुद्रा एव त्याग-तपस्या से प्रभावित होकर उन्होंने सत से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन शहर मे पधारे और राजमहल के बगीचे मे ही ठहरकर स्वय अपनी साधना करते हुए औरो को भी लाभान्वित करें।

पहले तो यह बात सुनकर सत भड़क गये और क्रोधित हुए, किन्तु राजा के बार-बार कहने पर कुछ दिनो के लिए शहर मे आने को अपनी अनिच्छा के बावजूद भी तैयार हुए।

राजा उसी समय उन्हे सादर ले गये और अपने महल के बगीचे मे स्थित एक सुन्दर भवन मे उन्हे ठहराया। भवन बड़ा विशाल एव ऐश्वर्य के सम्पूर्ण साधनो से परिपूर्ण था। अनेक दास एव सुन्दर दासियाँ उनकी सेवा मे नियुक्त की गयी तथा उनके भोजन के लिए राजसी व्यञ्जनो का प्रबन्ध कर दिया गया।

इसके बाद राजा कुछ राज्य कार्यों मे ऐसे व्यस्त हुए कि सत के पास कई दिनो तक पहुंच ही नही पाये। पर एक दिन जब वे पुन उनके पास

देखा कि तपस्या छोड देने के कारण और पौष्टिक पदार्थों के सेवन से उनका शरीर खूब पुष्ट हो गया है और वे बडे आनन्द से मसनद के सहारे लेटे हुए सुन्दर ललनाओ के नृत्य-सगीत का आस्वादन कर रहे है। उनके चित्त मे कोई विक्षोभ नही है तथा वे साधना या तपस्या करते है, इसका भी कोई लक्षण नही है। साथ ही सत ने राजा से वह स्थान छोडकर पुन अपने निर्जन वन मे चले जाने का विचार भी प्रकट नही किया।

यह सब देखकर राजा ने चुपके से मन्त्री से कहा—

"अमात्य ! सत की तो कायापलट हो गई। लगता है कि ये अपनी सम्पूर्ण साधना एव त्याग-तपस्या को छोड बैठे है। ऐसा क्यो हुआ ?"

मन्त्री ने सविनय उत्तर दिया—"महाराज ! यह सब सगति का परिणाम है। मनोहर भवन, भोग-विलास के साधन, सुस्वादु व्यजन एव इन सुन्दर नर्तकियो एव दास-दासियो का सग ही इन्हे निवृत्ति-मार्ग से हटाकर प्रवृत्ति-मार्ग पर ले आया है।"

वस्तुत सगति का असर हुए बिना नही रहता और महान् त्यागी तथा तपस्वी भी अगर दुर्जनो की सगति मे रहने लग जायँ तो विरले महापुरुषो को छोडकर अधिकाश तो प्रभावित हुए बिना नही रह पाते।

इसीलिए कहा जाता है—

> **कामिना कामिनीना च सगात् कामी भवेत् पुमान् ।**
> **देहान्तरे ततः क्रोधी, लोभी, मोही च जायते ॥**
> **कामक्रोधादिससर्गात् अशुद्धं जायते मन. ।**
> **अशुद्धे मनसि तच्च ब्रह्मज्ञान विनश्यति ॥**

कहते है कि—उत्तम पुरुष भी कामी व्यक्तियो और स्त्रियो की सगति से जन्मान्तर मे क्रोधी, लोभी और मोही हो जाता है। साथ ही काम, क्रोध एव मोह आदि विकारो से मन अशुद्ध होता है और अशुद्ध मन हो जाने पर साधारण हानि की तो बात ही क्या है, बडी साधना से प्राप्त हुआ ब्रह्मज्ञान भी सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इसीलिए विवेकी पुरुष श्रद्धाहीन, नास्तिक या विकारग्रस्त व्यक्तियो की सगति का त्याग करते है तथा ज्ञानी, वैरागी एव तपस्वियो की सगति मे रह कर आत्मोन्नति के मार्ग पर बढने का प्रयत्न करते है। ऐसे व्यक्ति अपने मन को प्रेरणा देते हुए सदा यही प्रतिबोध देते है—

तत्त्व चिन्तय सतत चित्ते,
परिहर चिन्ता नश्वरवित्ते।
क्षणमिह सज्जनसगतिरेका,
भवति भवार्णव तरणे नौका ॥

भव्य पुरुष कहते हैं—"रे मन ! तू सदा तत्त्वो का चिन्तन कर, चचल धन की चिन्ता छोड । यह समार अल्पकालीन है और इसमे सज्जनो की सगति ही भवसागर से पार उतारने वाली नौका के सदृश है।"

श्लोक से स्पष्ट है कि प्रत्येक साधु और साधक को सदा सम्यक्श्रद्धायुक्त ज्ञानी पुरुषो की सगति करनी चाहिए तथा मिथ्यात्वी एव अश्रद्धालु पुरुषो की सगति को कुपथ्य के समान मानकर उससे परहेज करना चाहिए, अर्थात् उससे वचना चाहिए। क्योंकि कुसगति से उत्तम पुरुष भी निकृष्ट वन जाता है एव श्रद्धालु साधक मिथ्यात्वी मे परिवर्तित हो सकता है।

कुसगति का परिणाम वताते हुए सत तुकारामजी कहते हैं—

"दुधाचिया अगी मीठाचा शितोडा, नाशतो रोकडा केला असे, कस्तुरीचे पोते हिंगाने नासले, मोल ते तुलं अर्धक्षणे।"

अर्थात्—सेर भर दूध मे अगर दो टुकडे नमक के डाल दिये जॉय तो वे पूरे दूध का सत्यानाश कर देंगे और कस्तूरी के पोते (वोरी) के पास हीग रखदी जाय तो कस्तूरी की खुशबू नष्ट हो जाएगी।

ये वाते गलत नही है। आप किराने के व्यापारियो से जानकारी कर सकते हैं कि जो कुछ मैंने कहा है, वह यथार्थ है। उन व्यापारियो के मुँह से तो आप यह भी जान सकते हैं कि नारियल के थैले के पास अगर चावल का थैला रख दिया जाय तो सारे नारियल खराव हो जाएँगे। भले ही नारियल के ऊपर छाल होती है और उसके नीचे का हिस्सा भी इतना कडा होता है कि उसे विना पत्थर पर पटके या पत्थर से फोडे-टूटता नही।

ठीक यही हाल साधक का होता है। भले ही वह वर्षो तक साधना करके अपने मन और इन्द्रियो को अत्यधिक मजवूत वनाले तथा तपस्या के द्वारा शरीर को कठोर भी कर ले, किन्तु अगर कुछ समय दुर्जनो, नास्तिको एव भोगाभिलाषियो की सगति मे रह जाये तो वहुत सभव है कि वह अपने साधना-मार्ग से च्युत हो जाएगा। इतिहास उठाने पर हमे अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि वडे-वडे ऋषि, महात्मा और सत भी कुसग के कारण अपनी वर्षो की साधना

को छोड बैठे थे । आज भी ऐसे उदाहरणो का अभाव नही है । विरले महापुरुष ही अपने आपको कुसग के प्रभाव से पूर्णतया निर्लिप्त रख पाते है ।

इसलिए बन्धुओ, जैसा कि भगवान ने कहा है—न तो साधु और न ही श्रावक, कभी परलोक पर अविश्वास करे और न अपनी साधना या तपस्या के लिए पश्चात्ताप करते हुए यह विचार करे कि—"मै छला गया हूँ और त्याग-तपस्या आदि किसी भी कार्य से कभी सिद्धि मिलने वाली नही है ।"

ऐसा विचार न करने वाला तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मे विश्वास रखने वाला साधक ही पापो से बचता हुआ सवर के कल्याणकारी मार्ग पर बढ सकता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है ।

○

६

आध्यात्मिक दशहरा मनाओ !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव वहनो !

आज विजयादशमी है। इस नाम का कारण यह है कि आज के दिन मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने महाबली रावण को मारकर उस पर विजय प्राप्त की थी। इस दिन का भारत मे वडा भारी महत्त्व माना जाता है तथा देश के कोने-कोने मे आज का यानी दशहरे का दिन रावण के पुतले को जलाकर वडे धूम-धाम से मनाया जाता है। लोग रावण का विशालकाय पुतला वनाते हैं तथा नकली राम और लक्ष्मण वनाकर उनके द्वारा रावण के पुतले को नष्ट करते हैं और साबित करते हैं कि इसी प्रकार दीर्घकाल पूर्व भी राम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी।

आज के दिन को दशहरा और विजयादशमी दोनो नामो से पुकारा जाता है। अर्थ भी दोनो नामो का एकसा ही ध्वनित होता है। दशहरा नामकरण यह बताता है कि इस दिन दस मस्तको वाले रावण को मारा गया था और विजयादशमी भी यही कहती है कि उस रावण पर विजय प्राप्त की गई थी।

वैसे विजयादशमी का अगर हम आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से अर्थ करे तो यह महसूस होता है कि आज के दिन धर्म ने अधर्म पर, न्याय ने अन्याय पर, शील ने कुशील पर एव स्वाभिमान ने अभिमान पर विजय पाई थी। ध्यान रखने की बात यही है कि दशहरा मनाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आज का दिन केवल यही मानकर नही मनाना चाहिए कि इस दिन एक व्यक्ति ने दूसरे को मारा था और जीत हासिल की थी, अपितु यह विचार कर मनाना चाहिए कि इस दिन पुण्य ने पाप पर विजय पाई थी।

इस विषय पर परमज्ञानी और आगमो के मर्म तक पहुच जाने वाले पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी ने अहमदनगर के समीप वाम्बोरी क्षेत्र मे जब

१९३८ मे चातुर्मास किया था, तब एक कविता बनाई थी। उसी के भाव मैं आज आपके सामने रखूंगा और आप स्वय उन्हे समझकर महाराज श्री की विद्वत्ता और उनकी आगमज्ञान की गभीरता के कायल हो उठेगे।

अभी तो मैं पूज्यश्री अमीऋषि जी महाराज ने उनकी महत्ता बताते हुए जो 'तिलोकाष्टक' लिखा है, उसका एक पद्य आपके सामने रखता हू। महापुरुषो के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते हैं या पद्यो मे उनकी गुण-गरिमा बताई जाती है वह हृदय के गद्‌गद होने पर गद्य अथवा पद्य मे स्वय निर्झरित होती चली जाती है, क्योकि वह बनावटी नही होती। श्रद्धा और भक्ति के आवेग मे लिखने वाला व्यक्ति शब्दो के सुन्दर चयन की परवाह नही करता और रसालकारो की ओर भी ध्यान नही देता। वह केवल अपने भावो की अभिव्यक्ति करता है, भाषा चाहे जटिल हो या सरल।

श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी बडे भाव-भीने शब्दो मे जैनागम के अनुरागी और धर्म को प्रकाशित करने वाले स्वर्गस्थ पूज्य श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज के सबध मे लिखा है—

> व्है गयो जगत जाल पातकते दूर, शूर,
> धर्म दया मूलभेद रसनाते के गयो।
> के गयो अनेक मत आगम के भेद भार,
> अमृत जिन वेन चद आननते चे गयो॥
> चे गयो अमर धाम आतम आराम काम,
> घने भव्य जीवन को ज्ञानदान दे गयो।
> दे गयो सुमत चित्त अमृत अखड सो,
> 'तिलोकरिख' स्वामी गुणनामी एक व्है गयो॥

जगत को आगम का आगम-ज्ञान दान दे जाने वाले उस भव्य महापुरुष की कितनी सहज, सत्य, सुन्दर एव भाव-विभोर कर देने वाली स्तुति कवि ने की है। और आप अभी देखेगे कि यह स्तुति यथार्थ है, इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है। महाकवि श्रद्धेय श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने राम एव रावण की कथा को किस प्रकार आध्यात्मिक विषय मे घटाया है, यह जानकर आप निश्चय ही चमत्कृत हो उठेगे।

तो आप उत्सुक हो रहे होगे अत मैं श्री त्रिलोकऋषिजी महाराज की कविता के भाव आपके समक्ष रख रहा हूँ और बताने का प्रयत्न करता हूँ कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हम किसे राम कह सकते है ? किसे रावण ? और किस प्रकार राम की विजय को धर्म की अधर्म पर विजय कहा जा सकता है ?

महाराजश्री का कथन है कि यह ससार एक विशालकाय या असीम सागर है, जिसमे कर्म-रूपी अथाह जल भरा हुआ है। आप शका करेंगे कि क्या एक व्यक्ति के इतने कर्म होते हैं ? नही, आशय यह है कि ससार मे अनत जीव है और सभी के न्यूनाधिक कर्म है, अत सभी के कर्म मिलकर ससाररूपी सागर बना हुआ है। इसीलिए इसे कर्मो का सागर माना गया है।

यह तो सागर के विषय मे कहा गया। पर आप और हम सभी जानते है कि सागर मे कही-कही द्वीप होते हैं, उन द्वीपो पर प्राणी रहते है और सबसे बडी बात तो यह है कि उसमे जल की भयकर तरगो के द्वारा भँवर पड जाते है, जिनमे फँस जाने पर प्राणी का पुन निकलना असम्भव नही तो कठिनतर अवश्य हो जाता है। ससार-सागर मे यह सब कैसे है, इसके विषय मे भी कवि ने कहा है—

भ्रम-रूपी भँवर

ससार-रूपी समुद्र मे कर्मरूपी जल है और स्थान-स्थान पर उस जल मे मिथ्यात्व, अविश्वास या शकारूपी भँवर पडते है। कल मैंने आपको बताया था कि जहाँ साधक के हृदय मे सन्देह का अकुर पैदा हुआ कि उसकी साधना नष्ट हो जाती है और वह पतन के मार्ग पर गिरता चला जाता है। आज यही बात यहाँ घटाई जा रही है कि ससार-सागर मे कर्मरूपी जल तो होता ही है, और साधक अपनी साधना के द्वारा कर्मो के जल को काटता हुआ उसे तैर कर पार करने का प्रयत्न करता है। किन्तु साधनारूपी तैरने की कला को जानने वाला तैराक या साधक भी अगर शकारूपी भँवर मे फँस जाता है तो उसका पुन उबरना कठिन हो जाता है और वह भँवर मे घूमता हुआ अपना इहलोक तो नष्ट करता ही है, परलोक भी गँवा बैठता है।

शकाशील व्यक्ति कहता है—

> ना कोई देखा आवता, ना कोई देखा जात।
> स्वर्ग, नरक और मोक्ष की गोलमोल है बात ॥

बस, ऐसा विचार जिस साधक के हृदय मे आ जाय, समझना चाहिए कि वह कर्मजल मे पडे हुए महाभयानक भ्रम-रूपी भँवर मे फँस गया है और इस भँवर से निकालना आसान नही है। किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति कभी धर्म के प्रति या पाप-पुण्य एव लोक-परलोक के प्रति स्वप्न मे भी सन्देह नही करता तथा दृढतापूर्वक सवर के मार्ग पर बढता है वह चाहे साधु हो या श्रावक कर्म-जल मे रहकर भी उससे ऊपर कमल के समान निर्लिप्त रहता है।

कहा भी है--

जहा पोम्मं जले जाय, नोव लिप्पइ वारिणा।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २५, गा० २७

अर्थात्—वह भोगोपभोग के साधनो से उसी प्रकार अलग रहता है, जिस प्रकार जल मे जलज यानी कमल।

निश्चय ही ससार से विरक्त रहने वाला व्यक्ति भले ही कर्म-जल मे रहे पर उसमे पडे हुए भ्रम के भँवरो मे वह नही फँसता और धीरे-धीरे अपनी साधना के द्वारा तैरता हुआ पार हो जाता है।

लका नगरी और उसका राजा

आगे कहा गया है—ससार-समुद्र मे मनदण्ड, वचनदण्ड एव कायादण्ड-रूपी त्रिकूट द्वीप है, जिस पर लालचरूपी लका नगरी बसी हुई है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस नगरी का राजा महामोहरूप रत्नश्रवा और रानी क्लेशरूपी कैकसी है। यह स्वाभाविक ही है क्योकि जहाँ मोह होगा वहाँ क्लेश होना अनिवार्य है।

इस ससार मे सहज ही देखा जा सकता है कि व्यक्ति धन, मकान, जमीन एव परिवार आदि के मोह मे पडकर नाना प्रकार के लडाई-झगडे करता है और क्लेशपूर्ण वातावरण अपने चारो ओर बना लेता है। कभी वह धन के लिए अपने भाई-बन्धुओ के प्राण लेता है और कभी स्त्री के मोह मे पडकर अपना सभी कुछ गँवा बैठता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते है--

दारा सुत आदि मोहपाश मे बँधायो मूढ,
करत ममत कूड कपट की खान है।
अष्टादश पाप कर बाँधत करम शठ,
कालमुख जाय मन करे पछतान है।

पद्य का अर्थ स्पष्ट और सरल है कि मूर्ख प्राणी पत्नी पुत्रादि के मोह एव पाश मे बँधकर नाना प्रकार के कपटपूर्ण कृत्य और धोखेबाजी करता हुआ अठारहो प्रकार के पापो का बन्धन करता है तथा अपने क्लेश की सामग्री जुटाता है किन्तु जब मृत्यु का समय आता है तो उसे पश्चात्ताप के अलावा और कोई उपाय दिखाई नही देता।

कहने का अभिप्राय यही है कि जहाँ मोह होता है वहाँ क्लेश भी रहता है। यही बात पूज्य श्री त्रिलोकऋषिजी महाराज ने कही है कि ससाररूपी सागर मे जो त्रिकूट है वहाँ महामोहरूपी राजा रत्नश्रवा और उसकी क्लेशरूपी रानी

कैकमी है । दम्पनि मन्तानविहीन भी नही है । उनके सन्तान है, जिनके विषय मे आगे कहा जा रहा है ।

तीन पुत्र

महामोह और क्लेशरूपी दम्पति के तीन पुत्र हैं । उनमे से प्रथम है—(१) मिथ्यामोहरूपी रावण । इमका अर्थ है—झूठे लालच मे फँसना । मिथ्या-मोह वस्तुत रावण है, क्योकि इसके दस मस्तक और बीस भुजाएँ भी हैं । वे दम मस्तक और मुख तथा बीम भुजाएँ कौनसी हैं ? इम विषय मे जानने की आपको उत्सुकता होगी अत उन्हें भी बताता हूँ ।

आशा है आप दम मिथ्यात्वो के विषय मे जानते होंगे । जीव को अजीव और अजीव को जीव ममझना, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझना तथा धर्म के मार्ग को पाप का मार्ग और पाप के मार्ग को धर्म का मार्ग समझना आदि-आदि जो दस मिथ्यात्व हैं ये मिथ्या, मोहरूपी रावण के दस मुख हैं तथा हिंमा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तीनो योगो को ढीला रखना तथा अयतना-पूर्वक लेना आदि-आदि बीस प्रकार के आश्रव इसकी बीस भुजाएं होती है जिनके द्वारा यह पापो का सचय करता रहता है । पापकर्मो का उपार्जन कपट मे होता है अत कपट-विद्या भी इमने हासिल कर रखी है ।

कपट-विद्या के कारण ही रावण ने राम को ठगना चाहा था तथा स्वर्णमृग के रूप मे मीता का हरण किया था, किन्तु उसका परिणाम क्या निकला ? सीता को तो वह प्राप्त कर नही सका, उल्टे अपना मर्वस्व और प्राण भी गँवाकर आत्मा को कुगति मे ले गया । दूसरे शब्दों मे राम को ठगने गया किन्तु स्वय ही ठगा गया ।

इमीलिए कहते है—

भुवन वञ्चयमाना, वचयति स्वयमेव हि ।

—उपदेश प्रासाद

अर्थात्—जगत को ठगने का प्रयत्न करने वाला कपटी पुरुष वास्तव मे तो अपने आपको ही ठगता है ।

(२) अब आता है मिथ्यामोह रावण के दूसरे भाई यानी महामोहरूपी रत्नश्रवा के दूसरे पुत्र सम्यक्त्वमोहनीय का नम्बर । यह पुत्र सही मार्ग पर चलता है तथा मच्चे को मच्चा और गलत को गलत ही मानता है । विभीषण ऐसा ही था । उसने मीता-हरण को अन्याय समझा था और इमीलिए नाना प्रकार से रावण को ममझाया था कि—'अन्याय मत करो तथा राम की पत्नी

सीता को वापिस कर दो।' पर रावण अगर सरलता से इस बात को मान लेता तो क्यों सदा के लिए अपने माथे पर कलक का टीका लगाकर इस ससार मे जाता ? उसने भाई की बात नही मानी और खिन्न होकर विभीषण ने राम की शरण ली।

एक भजन मे कहा भी है कि विभीषण ने राम से प्रार्थना की—

कुटुम्ब तजि शरण राम, तेरी आयो !
तजि गढ लक महल औ मन्दिर नाम सुनत उठ धायो।

इस पर फिर राम ने क्या किया ?

दीनानाथ दीन के बन्धु मधुर वचन समझायो।
आवत ही लकापति कीन्हो हरि हँस कठ लगायो ॥

इस प्रकार शत्रु के भाई का भी धर्मरूपी राम ने स्वागत किया और उसे 'लकापति' सम्बोधन सहित सहर्ष अपने हृदय से लगाकर सान्त्वना दी।

(३) महामोह का तीसरा पुत्र है मिश्रमोहनीय। यह जिधर जाएगा उधर ही लुढक जाएगा। रावण से कहेगा—'तुम राजा हो, शक्ति-सम्पन्न भी हो, अत अपने बल से अगर सीता को ले आए तो क्या हुआ ?' दूसरी ओर राम से कहेगा—'रावण ने अन्याय किया है, उसका बदला लेना ही चाहिए।'

इस प्रकार रावण के दो भाई हुए और पत्नी मदोदरी। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रपच-माया-कपटी वृत्ति। अपने पति की आज्ञानुसार इसने भी सीता को बहकाने का प्रयत्न किया था, किन्तु अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सकी। महासती सीता ने इसकी तीव्र भर्त्सना करते हुए तथा अपमानित करते हुए भगा दिया।

मिथ्यामोह रावण का प्रथम पुत्र—इन्द्रजीत

रावण की पत्नी मन्दोदरी से उत्पन्न दो पुत्र थे और वे रावण को अत्यन्त प्रिय लगते थे। प्रथम का नाम था इन्द्रजीत और दूसरे का मेघवाहन। आध्यात्मिक दृष्टि मे इन्द्रजीत को विषय-विकार एव मेघवाहन को अभिमान कहा जा सकता है। मिथ्यामोह रावण समझता था कि विषय-वासनारूपी इन्द्रजीत एव अभिमान रूपी मेघवाहन, दोनो ही मुझे अत्यन्त सुख पहुचाने वाले है। किन्तु सच पूछा जाय तो इन दोनो के समान दुखदायी इस ससार मे और कुछ नही है।

प्रथम विषय-विकार को ही लिया जाय तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि

यह शरीर को क्षणिक और झूठा सुख प्रदान करता है तथा आत्मा को पतन की ओर लेजाकर कर्म-बन्धनो मे जकड देता है ।

किसी ने विषय-विकार की बुराई करते हुए कहा भी है—

यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत विगार ।
या के पास न जात है, है जो ठीक होश्यार ॥

विषय-विकारो के लिए कहा गया है कि इनकी प्रबलता मन को पापपूर्ण एव कलुषित बना देती है । अत विवेकी और समझदार व्यक्ति इनके समीप भी नही फटकता । लोगो का विश्वास होता है कि इन विकारो पर विजय प्राप्त करना असभव है । पर उन्हे यह कभी नही भूलना चाहिए कि विकार भले ही कितने भी प्रबल और शक्तिशाली हो, आत्मा की शक्ति से बढकर इनकी शक्ति नही है । आत्मा मे अनन्त शक्ति है और इसे काम मे लाने पर व्यक्ति पूर्णरूप से इनका दमन कर सकता है । आवश्यकता है मन की नकेल अपने हाथो मे रखने की । यद्यपि रावण स्वय विकारो पर काबू नही रख सका इसलिए उसका सर्वस्व तो क्या वश भी निर्मूल हो गया, किन्तु भव्य महामुनि ऐसे भी हुए है जो वेश्या के यहाँ चातुर्मास करके भी मन को उसके सौन्दर्य, नृत्य, सगीत या भोग-विलास के समस्त साधनो से युक्त भवन मे भी सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए पूर्ण आत्मिक शुद्धता सहित बेदाग लौट आये है । उनके शरीर तो क्या, वचन और मन को भी विकार स्पर्श नही कर पाया । अनेक उदाहरण ऐसे रहे हैं, जिनसे साबित होता है कि भले ही दुर्बल मन वाले अपने मन और इन्द्रियो पर काबू न रखने के कारण पतित हो जाते है, किन्तु जिनकी श्रद्धा मजबूत होती है और आत्मा पाप-पुण्य के अन्तर को समझती हुई इनके परिणामो पर सही विचार करती है । वे सासारिक विषयो के कितने ही उग्र एव प्रबल होने पर भी विचलित नही होते ।

द्वितीय पुत्र—मेघवाहन

तो मिथ्यामोहरूपी रावण का पहला पुत्र था विषय-वासनारूपी इन्द्रजीत जिसे रावण अत्यन्त स्नेह करता था और इसी ने परस्त्री हरण करवाकर उसका सर्वनाश किया । अब उसके दूसरे पुत्र के विषय मे बताना है । वह था अभिमान-रूपी मेघवाहन । इस पुत्र ने भी रावण को महान् कष्ट दिया तथा जन्म-जन्मान्तर तक के लिए ससार-सागर के गर्भजल मे गोते लगाने का साधन जुटाया । इसके अलावा इतने कुयश का उपार्जन किया कि युगो से लोग उस पर थूकते चले आ रहे है और ऐसा ही युगो तक करते रहेगे । आज दशहरे के दिन रावण का पुतला बनाकर लोग उसके अभिमान की ही याद करते हैं, उसकी निन्दा करते

हैं और फिर नकली राम-लक्ष्मण के द्वारा उसे नष्ट करवा देते है। छोटे-छोटे बालक भी, जिनको रावण के विषय मे कोई जानकारी नही होती, वे रावण के अभिमान एव कदाचार की कहानी लोगो की जुबान से सुनते है तथा स्वय भी प्रतिवर्ष उसे स्मरण करने लग जाते हैं। इस प्रकार एक पीढी से दूसरी, दूसरी से तीसरी और अब तक जितनी मनुष्य की पीढियाँ हुई है, सभी रावण के विषय मे जानकारी करती हुई उसकी भर्त्सना करती आ रही है और भविष्य मे भी यही क्रम चलता रहेगा। इस सबका मूल कारण उसका अभिमान या अह ही था जिसने उसकी आत्मा को अनन्त काल तक परिभ्रमण करने के लिए बाध्य किया और जगत् मे भी सदा के लिए अपयशी बनाकर छोड़ा। विभीषण या अन्य न्यायी व्यक्तियो के बार-बार समझाने पर भी वह नही झुका और अन्त तक पाषाणवत् बना रहा।

अभिमानी पुरुष के विषय मे श्री स्थानागसूत्र मे कहा गया है—

सेलथभ समाणं माण अणुपविट्ठे जीवे।
काल करेइ णेरइएसु उववज्जति॥

अर्थात्—पत्थर के खभे के समान जीवन मे कभी नही झुकने वाला अहकार जीव को नरकगति की ओर ले जाता है।

बहन सूर्पणखा

मिथ्यामोह रावण की बहन का नाम सूर्पणखा था, जिसे हम निश्चय ही कुमति कह सकते हैं। इस कुमति ने ही रावण को पथ-भ्रष्ट किया था तथा बदले की भावना से भाई को भडकाकर सीता का अपहरण कराया था। यह किस प्रकार हुआ था इसे हम आगे बताएँगे।

सूर्पणखा का विवाह क्रोधरूपी राक्षस खर के साथ हुआ था, जिसके दूषण और त्रिशर नामक दो भाई और थे। दूषण तो दोषो का समूह था ही, त्रिशर को आध्यात्मिक दृष्टि से तीन शर यानी तीन शल्य—मायाशल्य, नियाणशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य कहा गया है।

खर एव सूर्पणखा का एक पुत्र था, शबुककुमार। इसे सज्वलन कहा गया है। क्रोध के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एव सज्वलन, इस प्रकार चार भेद हैं। शबुक को सज्वलन इसलिए कहा गया है कि इसमे क्रोध का अश अत्यल्प मात्रा मे रहता है। जल मे खीची जाने वाली लकीर जिस प्रकार हाथ आगे बढाते-बढाते मिटती जाती है, इसी प्रकार सज्वलन क्रोध भी अधिक नही टिकता। शबुक वस्तुत नरक मे ले जाने वाले क्रोधरूपी खर राक्षस के यहाँ सज्वलन के रूप मे पैदा हुआ था।

कुछ बडा होने पर जब शबुक एक बार अपने मामा रावण के यहाँ गया तो उसने वहाँ एक खड्ग देखी। उसके हृदय मे वैसी ही खड्ग पाने की अभिलाषा हुई अत जब उसके विषय मे जानकारी की तो ज्ञात किया कि इस खड्ग को प्राप्त करने के लिए बडी तपस्या करने की आवश्यकता होती है।

वस्तुत तपस्या के बिना कोई शुभ फल प्राप्त नही किया जा सकता। अग्रेजी मे एक कहावत है—

'No pains, no gains' कष्ट प्राप्त किये बिना कुछ भी नही मिलता।

मनुस्मृति मे भी यही कहा है—

यद् दुस्तर दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्य, तपो हि दुरतिक्रमम्॥

अर्थात्—जिसको तैरना कठिन है, जिसे पाना मुश्किल है, जो दुर्गम है और दुष्कर भी है, वह सब कुछ कठिन कार्य भी तप के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। तप के प्रभाव से ही समस्त कठिनाइयाँ मिट सकती हैं।

तो ज्ञान रूपी सूर्यहस खड्ग पाना भी सरल नही, अपितु महाकठिन कार्य था। किन्तु शबुक ने उसे प्राप्त करने की ठान ली। स्वाभाविक था कि क्रोध रूपी पिता और कुमतिरूपी माता, ज्ञानरूपी खड्ग को प्राप्त करने की आज्ञा कैसे देते? दोनो ने बहुत मना किया पर शबुक माना नही और उपशम रूपी वन मे औंधे मुँह लटककर दृढतापूर्वक साधना करने लगा। दो-चार दिन और कुछ महीने ही नही वरन् बारह वर्ष की घोर साधना हो जाने पर सूर्यहस खड्ग सिद्ध हुआ और उलटे लटके हुए शबुक के समीप आकर उसी झाडी पर टिक गया जिसमे शबुक साधना-लीन था।

अल्पकाल मे ही शबुक उस घोर तपस्या के फलस्वरूप दैविक खड्ग को अपने हाथो मे उठा लेता, किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। वास्तव मे ही विधि के विधान का या जिसे हम होनहार कहते हैं, उसका करिश्मा निराला ही होता है। मनुष्य सोचता है कुछ, और होता है कुछ। बारह वर्ष की तपस्या का फल सूर्यहस खड्ग जब शबुक के समीप आ गया था और वह उसे प्राप्त करने ही वाला था कि कालबली आकर शबुक को उठा ले गया। कोई भी नही कह सकता कि काल का झपट्टा उस पर कब, किस समय और कैसे हो जाएगा।

सुन्दरदासजी ने इस विषय मे एक सुन्दर पद्य लिखा है वह इस प्रकार है—

करत-करत धन्ध, कछु नहि जाने अन्ध,
आवत निकट दिन आगले चपाक दे।
जैसे बाज तीतर कूँ दावत है अचानक,
जैसे बक मछली कूँ लीलत लपाक दे॥
जैसे मक्षिका की घात, मकरी करत आय,
जैसे साँप मूसक कूँ ग्रसत गपाक दे।
चेत रे अचेत नर, सुन्दर सभार राम,
ऐसे तोहि काल आय लेइगो टपाक दे॥

कवि ने मानव को बोध देते हुए कहा है—अरे, अन्धे पुरुष! अपने सामारिक धन्धो मे लगे रहने के कारण तुझे यह भी मालूम नही है कि तेरे अन्तिम दिन नजदीक आ रहे है। जिस प्रकार बाज तीतर को अचानक दबा लेता है, बगुला मछली को चट मे निगल जाता है, तथा जिस तरह मकडी मक्खी पर घात लगाए रहती है और सर्प चूहे को दबोच लेता है, उसी प्रकार काल भी तुझे अचानक ही किसी समय झपट्टा मारकर ले जाएगा। अत अब तू सावधान हो जा और राम का नाम स्मरण कर।

बन्धुओ! प्रसगवश मैंने कवि सुन्दरदासजी का यह पद्य आपके सामने रखा है कि आप भी कालबली की निर्ममता और किसी भी क्षण प्राणी को ले जाने वाली क्षमता को पहचानकर सावधान हो जाँय तथा आज विजयादशमी के पावन दिन से ही कर्मों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू करे।

खेद की बात तो यह है कि अनेक व्यक्ति प्राय यही कहा करते है—"महाराज! क्या करे सारी उम्र तो घर-गृहस्थी के धन्धो मे बीत गई। लडके-लडकियो की शादियाँ की, मकान बनवाया, जमीन खरीदी और व्यापार बढाया। अब तो यह उम्र हो गई है, भला अब हमसे क्या हो सकता है?"

मुझे ऐसे भोले व्यक्तियो पर बडा तरस आता है और उनसे यही कहता हूँ—"भाई! बीते हुए को भूलकर बिना विलम्ब किये आत्मा का कल्याण करने का उपाय प्रारम्भ कर दो। आत्म-मुक्ति या कर्मो से छुटकारा होने के लिए समय का कोई प्रतिबन्ध नही है। महत्त्व केवल भावनाओ का है। अगर भावना उत्कृष्टता को प्राप्त करती जाँय तो बरस, महीने और दिनो की तो बात क्या है, कुछ क्षणो मे ही वे आश्चर्यजनक परिवर्तन ला देगी।"

शास्त्रो मे कहा भी है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च॥

वीतराग प्रभु ने मनोयोग को इतना बलवान बताया है कि भावनाओं की उत्कृष्टता जीव को आधे क्षण मे मोक्ष मे पहुँचा देती है और उनकी निकृष्टता आधे ही क्षण मे सातवें नरक का बन्ध करा देती है।

ऐसी स्थिति मे बीती हुई उम्र के लिए पश्चात्ताप करना कोई बुद्धिमानी की बात नही है। व्यक्ति को जब उसकी आत्मा जाग जाये, तभी सवेरा मानना चाहिए और जितनी उम्र बची हो उसमे अविलम्ब लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि जो समय बीत चुका है, वह तो पुन लौटकर आने वाला है नही, तब बचे हुए को क्यो नष्ट करना ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

> पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र,
> 　　धरा धन धाम है बन्धन जी को,
> बारहि बार विषैफल खात,
> 　　अघात न जात सुधारस फीको।
> आन, औमान तजो अभिमान,
> 　　कही सुन नाम भजो सिय-पी को,
> पाय परम पद हाथ सो जात,
> 　　गई सो गई अब राख रही को ॥

कहने का अभिप्राय यही है कि पुत्र, पौत्र, मित्र, पत्नी, जमीन, मकान एव धन-सम्पत्ति आदि सभी जीव के लिए कर्म-बन्धनो के कारण हैं और इन्ही के कारण उसे जन्म-जन्म मे दुःख उठाने पडते हैं। ये सब ऐसे विषमय फल हैं कि उनका जहर या प्रभाव अनेक जन्मो तक भी नही मिटता और नाना प्रकार के दुःख पहुचाता रहता है। किन्तु फिर भी अज्ञानी प्राणी सासारिक सुखो के लोभ मे आकर या अपनी इन्द्रियो को तृप्त करने के लिए बार-बार इन्हें ग्रहण करते हैं और दुखी होते हैं।

वे भूल जाते हैं कि अनन्त दुःख के सामने इस क्षणिक जीवन का झूठा सुख कितना अल्प है। इसीलिए कवि ने कहा है—'मन मे समझदारी और विवेक लाकर सासारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिमान को छोडकर सीता के पति श्री रामचन्द्र का स्मरण करो और बीती हुई जिन्दगी के लिए पश्चात्ताप न करके जो बची हुई है, उसी को सार्थक बनाओ।' अन्यथा न जाने किस समय काल बली का आक्रमण हो जाएगा और वह तुम्हारी समस्त इच्छाओ, आशाओ और सुख-स्वप्नो को एक क्षण मे मटियामेट करके तुम्हें इस पृथ्वी पर से उठा ले जाएगा।

शबुक के साथ भी काल ने ऐसा ही किया। बारह वर्ष की घोर तपस्या के द्वारा जिस समय सूर्यहस खड्ग उसके समीप आया, वह हाथ बढाकर उसे ले भी नही सका और अपने वर्षों के तीव्र अरमान को मन मे लिए हुए ही काल के द्वारा दबोच लिया गया। विचार करने की बात है कि अत्यल्प समय भी उसे मिलता तो वह एक बार कम से कम अपने वर्षों के तप का सुन्दर फल हाथो मे लेकर सन्तुष्टि प्राप्त करता। किन्तु काल को दया-माया कहाँ है ? उसने बेचारे शबुक को चन्द क्षण भी नही दिये और उठाकर चल दिया। यह कैसे हुआ और काल ने किस बहाने से उसे निर्जीव किया ? यह हम आगे बताएँगे। अभी कुछ समय के लिए हमे अयोध्या की ओर चलना चाहिए।

धर्मरूप राम एवं सत्यरूपी लक्ष्मण

अयोध्या मे उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एव ब्रह्मचर्य आदि दस लक्षणरूपी दशरथ राजा राज्य करते थे। स्वाभाविक ही था कि इन दस लक्षणो का एकत्र होना धर्म को जन्म देता। तो दस लक्षणरूपी राजा दशरथ के यहाँ धर्मरूपी प्रथम पुत्र राम का जन्म हुआ और श्रद्धारूपी रानी सुमित्रा की कुक्षि से सत्यरूपी लक्ष्मण का।

तारीफ की बात तो यह है कि दोनो का स्वभाव भी अपने अनुरूप ही था। धर्म जिस प्रकार गम्भीर, शान्त, सहनशील एव सभी को लेकर चलने वाला होता है वैसे राम थे और सत्य महान् होने पर भी कटु एव तेज होता है, ठीक वैसे ही लक्ष्मण। रामायण के एक-दो प्रसग इन दोनो भाइयो के स्वभाव का सही चित्रण करते है। उन्हे भी मैं सक्षेप मे आपको बताए देता हूँ।

महत्त्व भाषा का नहीं भावनाओ का होता है।

जब राम और लक्ष्मण वन मे जा रहे थे तो एक स्थान पर उन्हे कुछ समय ठहरना पडा। वहाँ पर रहने वाले निषादो के राजा गुह ने जब उन्हे देखा और उनके सम्पर्क मे आया तो वह राम का परम भक्त बन गया और अत्यन्त स्नेह करने लगा।

किन्तु वह भील था और उसने कही शिक्षा प्राप्त नही की थी, अत शिष्टाचार और आदर-सम्मान की भाषा उसे नही आती थी। राम, लक्ष्मण व सीता को किसी प्रकार की तकलीफ न हो, बस उसे यही ध्यान रहता था और उससे जितनी बनती, सेवा करता रहता था।

वह दिन मे कई बार आता और किसी वस्तु की आवश्यकता तो नही है यह पूछता तथा स्नेहपूर्ण सरल भाव से बाते किया करता था। पर मैंने अभी बताया था कि उसे भाषा के शिष्टाचार का ज्ञान नही था, अत वह राम को 'तू' या 'तेरा' आदि सम्बोधनो से पुकारा करता था।

धर्मरूपी राम तो हृदय की भावनाओं के पारखी थे, अतः उसके सम्बोधन पर तनिक भी अप्रसन्न न होते हुए बड़े प्रेम से उसकी बात का उत्तर देते थे और वार्तालाप किया करते थे। उनके हृदय में गुह की बात या रेकारे-तुकारे से तनिक भी फर्क नहीं पड़ता था।

किन्तु जैसा कि सत्य कटु यानी कठोर होता है, लक्ष्मण भीलराज के राम के प्रति किये जाने वाले सम्बोधनों को ओछे एवं असभ्यतापूर्ण समझते थे तथा मन ही मन तीव्र क्रोध से भर जाया करते थे। वे सोचते थे—"मेरे जिस भाई की संसार पूजा करता है, उन्हीं को यह चाण्डाल तू-तड़ाक से सम्बोधित करता है।"

बहुत दिन तक तो भाई के लिहाज से वे सब्र करते रहे किन्तु जब सब्र का घड़ा भर गया तो एक दिन वे आग-बबूला होकर निषादराज को जान से ही मार देने के लिए उठे। पर राम जो कि धर्म का साक्षात् अवतार थे, उन्होंने हँसते हुए अपने भाई का हाथ पकड़कर उसे ऐसा अप्रिय कार्य करने से रोक दिया तथा प्यार से बन्धु को समझाते हुए बोले—"लक्ष्मण! यह क्या करते हो? क्या तुम इस सरल और भोले भक्त के शब्दों को ही सब कुछ समझते हो? इन शब्दों के पीछे रही हुई भावनाओं को नहीं देखते? यह मुझे [illegible] सम्बोधन करने पर इसके हृदय में मेरे और तुम्हारे प्रति प्यार का [illegible] है। [illegible] पहचानो और उसकी कद्र करो। शब्दों का महत्त्व नहीं [illegible] महत्त्व तो भावनाओं का होता है।"

भाई के वचन सुनकर लक्ष्मण लज्जित हुए और उन्होंने [illegible] का विचार छोड़ दिया।

माता के द्वारा [illegible]

दूसरी एक और इसी प्रकार की [illegible] एक बार ऋषियों के आश्रमों [illegible] ऋषियों को जब यह ज्ञात हुआ [illegible] के स्वागतार्थ सभी ने यथा[illegible] गये और तीव्र [illegible]

आश्रमों के [illegible] भगवान राम की [illegible] किया करती थी [illegible] है तो [illegible]

गई। शबरी विचार करने लगी—"सभी ऋषियो और मुनियो ने भगवान के स्वागत की अनेक प्रकार से तैयारियाँ की हैं, पर मैं क्या करूँ ?" उसका कार्य तो जगल के बेरो को तोडकर लाना और उन्हे बेचना ही था। अत उसने उन्ही से राम का स्वागत करने का निश्चय किया।

सर्वप्रथम तो अपनी झोपडी के आसपास की सारी जगह उसने झाड-बुहार कर स्वच्छ की, उस पर जल छिडका और फिर फटी-टूटी बोरियाँ राम के लिए बिछाकर बेरो की टोकरी भर लाई।

ऋषियो ने भी उसके कार्य-कलाप को देखा। पर उपहास करते हुए आपस मे बोले—"इस मूर्ख शबरी को तो देखो ! यह तो ऐसी तैयारी कर रही है, जैसे हमारे सभी सुन्दर आश्रमो को छोडकर राम इसी के यहाँ आकर इन फटी-पुरानी बोरियो पर बैठेगे तथा ब्राह्मण महर्षियो को छोडकर इस भीलनी का आतिथ्य ग्रहण करेगे।"

शबरी सबकी बातो को सुन रही थी, किन्तु उसे किसी की परवाह नही थी। अचानक उसे खयाल आया कि—'मेरे राम इन बेरो को खाएँगे तो सही, पर अगर कोई खट्टा बेर उनके मुँह मे चला गया तो ?' यह विचार आते ही उसने बेर चखना शुरू कर दिया और एक टोकरी मे चखे हुए मीठे-मीठे बेर और दूसरी मे खट्टे बेरो को डालना शुरू किया। यह देखकर तो वहाँ के निवासी उसे पागल समझकर और भी हँसने लगे।

इतने मे ही शोर मच गया कि "भगवान राम पधार गये।" आश्रमो मे स्थित सभी ऋषि-मुनि उनके स्वागत के लिए दौड पडे। शबरी भी राम का आगमन सुनकर भागी और सत-महात्माओ के पीछे जाकर सकुचित होती हुई एक ओर खडी हो गई। भाव-विह्वलता के कारण उसके नेत्रो से आनन्दाश्रु बह चले और वह उन्हे प्रणाम करना भी भूल गई, जबकि बाकी सब दडवत् नमस्कार कर रहे थे।

राम ने सभी को देखा पर धीरे-धीरे शबरी के साथ हो लिये। सजग होकर शबरी अपार हर्षसहित उन्हे अपनी झोपडी मे लिवा गई और बैठने के लिए बोरियाँ बिछाई। राम-लक्ष्मण के चरण जल की अपेक्षा आनन्दाश्रुओ से अधिक धोये और बेर की टोकरी सामने रखकर कुछ चखे हुए और साथ ही कुछ चखकर मीठे-मीठे छांटते हुए उन्हे देने लगी। शबरी चख-चख कर जूठे पर मीठे बेर खिला रही थी और राम प्रसन्नतापूर्वक उन्हे खाते जा रहे थे।

पर लक्ष्मण ने जब यह देखा तो वे मन ही मन दाँत पीसने लगे। उनकी क्रोधाग्नि भडक उठी और कह उठे—"भैया ! यह आप क्या कर रहे है ?

जाति की भीलनी और ऊपर से उसके जूठे बेर आप निस्संकोच खाये जा रहे हैं ?"

राम शांतिपूर्वक बोले—"लक्ष्मण ! माता कौशल्या के खिलाये हुए पकवानों से भी अधिक स्वादिष्ट आज मुझे ये बेर लग रहे हैं। क्या तुम देख नहीं रहे हो इसकी अनन्य भक्ति और प्रेम को ? इस अनुपम स्नेह के सामने जाति और कुल क्या चीज है ?"

उधर बड़े-बड़े सभी ऋषि-मुनि भी मुँहबाये यह दृश्य देख रहे थे और भीलनी के भाग्य की सराहना कर रहे थे। किसी भक्त ने ठीक ही कहा है —

> कुल रो कारण सता ! है नहीं सुमरे ज्यांरा है साई।
> सहस अठोत्तर मुनि तप तपे एकज वन रे माहीं,
> ज्यां बिच तपे एक भीलनी तासूं अन्तर नाहीं।
> कुल रो कारण सता ! है नहीं • • ।

वस्तुतः भगवान की भक्ति में जाति या कुल कभी बाधक नहीं बनते। आवश्यकता है एकनिष्ठ भक्ति अथवा साधना की। मुनि हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनकी दृढ़ साधना एवं घोर तप ने उन्हें कर्म-बन्धनों से मुक्त कर दिया। उसमें कुल और जाति कहाँ बाधा डाल सकी ? कहीं नहीं, वह इसीलिए कि आत्मा की कोई जाति और कुल नहीं है। अगर वह कर्मों से जकड़ जाय तो निकृष्टता को प्राप्त होती है और कर्मों से मुक्त होने पर उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच जाती है।

तो बंधुओ, मैं आपको बता तो यह रहा था कि दसलक्षणरूपी दशरथ के प्रथम पुत्र धर्मरूप राम और द्वितीय पुत्र सत्यरूपी लक्ष्मण थे। दोनों अपने नामों के सर्वथा अनुरूप भी थे यह मैंने रामायण से दिये हुए निषादों के राजा गुह और शबरी भीलनी के प्रसंगों द्वारा बताया है। धर्म शांत, ममत्वपूर्ण, सहानुभूतिमय एवं सबको लेकर चलता है, अतः राम ऐसे ही थे तथा सत्य शुद्ध होते हुए भी तनिक कटु और कठोर होता है, जैसे कि लक्ष्मण थे।

ध्यान में रखने की बात है कि धर्म और सत्य कभी एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते, जैसे राम और लक्ष्मण कभी अलग नहीं रहे। राम वन गए तो लक्ष्मण भी उनके साथ छाया की भाँति बने रहे।

धर्मरूपी राम का विवाह सुमतिरूपी सीता के साथ बड़े ठाट-बाट से हुआ था और उसके पश्चात् राज्याभिषेक का समय आया। किन्तु 'करमगति टारी नाहिं टरे'। इस उक्ति के अनुसार ठीक राज्याभिषेक के समय ही कैकयी

ने दो वर माँगकर जहाँ अयोध्या मे आनद का सागर उमड रहा था, शोक का विष घोल दिया। वे दो वर कौनसे थे, यह आप सब जानते ही है—(१) राम के बदले भरत को राज्य देना और (२) राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास कराना।

दशरथ पर तो इन वरो के माँगते ही मानो वज्रपात हो गया, किन्तु करते क्या ? वचन-भग करना भी असभव था। कहा भी है—

> रघुकुल रीति सदा चलि आई।
> प्राण जाँय पर वचन न जाई।

तो एक ओर पुत्र-वियोग और दूसरी ओर वचन का उल्लघन। दशरथ शोक-सागर मे डूब गए। पर स्वय राम ने आकर उन्हे अपने कर्तव्य पर डट रहने का साहस बँधाया। उन्होने परम हर्षपूर्वक सविनय कहा—"पिताजी ! आपको दोनो वर मेरी माता को प्रसन्नतापूर्वक देने चाहिए, क्योकि आपने वचन दिया था। इसके अलावा इसमे क्या फर्क पडेगा चाहे मैं अयोध्या मे रहूँ या वन मे ? दोनो जगह मेरी वही स्थिति रहेगी। उलटे मुझे इस बात का हर्ष होगा कि मैंने अपने पिता को वचन-भग नही करने दिया। पुत्र तो होना ही ऐसा चाहिए जो पिता का व अपने कुल का मान एव गौरव बढाये।"

यह कहकर राम ने दशरथ को शाति प्रदान की तथा अपने आपको सुपुत्र साबित किया। वास्तव मे ही पुत्र अगर सदाचारी, सुशील एव आज्ञापालक होता है तो पिता को अनेकानेक चिताओ से एव दु खो से बचा सकता है।

श्री स्थानागसूत्र मे चार प्रकार के पुत्र बताए गये है—

> **चत्तारि सुता—**
> **अतिजाते, अणुजाते, अवजाते, कुलिगाले।**

अर्थात्—पुत्र चार प्रकार के होते है—कुछ पुत्र गुणो की दृष्टि से अपने पिता से बढकर होते है, कुछ पिता के समान होते है, कुछ पिता से हीन और कुछ तो कुल का सर्वनाश करने वाले कुलागार पैदा होते है।

राम गुणो मे अपने पिता से भी बढकर थे और रावण कुल का सर्वनाश करने वाला कुलागार। इसी प्रकार पाडव अपने पिता और कुल का गौरव बढाने वाले थे, तथा दुर्योधन एव दु शासन आदि कुल को कलकित और नष्ट करने वाले कुलागार। ऐसे पुत्रो से तो पुत्र का न होना ही अच्छा होता है।

तो बधुओ, राम तो धर्म का अवतार ही थे, अत उनके सुपुत्र होने मे कोई बडी बात नही थी । पिता के वचन की मर्यादा और उसके पालन किये जाने मे सहायक बनकर वे वनगमन के लिए तैयार हो गये । पर जैसा कि मैंने कहा था, धर्म और सत्य एक-दूसरे से अलग नही रहते, लक्ष्मण ने भी उनके साथ जाने का निश्चय कर लिया और फिर सुमतिरूपी सीता ही कैसे पीछे रहती ? जहाँ धर्म और सत्य रहेगा, वहाँ सुमति का होना तो अनिवार्य है । अत धर्म, सत्य एव सुमति तीनो ही सयमरूपी वन की ओर प्रस्थान कर गये ।

वन मे यत्र-तत्र विचरण करते हुए वे एक स्थान पर पर्णकुटी बनाकर ठहरे । लक्ष्मण का वहाँ मुख्य कार्य अपने भाई एव भाभी की सेवा और रक्षा करना था, पर एक बार घूमते-घामते वे उस ओर निकल गये जहाँ झाडी मे कुमति रूपी शूर्पणखा का पुत्र शबुक तपस्या कर रहा था ।

सयोग की बात थी कि जिस समय लक्ष्मण वहाँ पहुँचे, उसी समय सूर्यहस खड्ग शबुक की तपस्या से सिद्ध होकर आया हुआ पडा था । खड्ग वहाँ था पर उसका स्वामी लक्ष्मण को दिखाई नही दिया क्योकि वह घनी झाडी मे ओंधे मुह लटका हुआ तपस्या-रत था । तो उस घोर जगल मे खड्ग के स्वामी के न होने से लक्ष्मण ने उत्सुकता एव कौतुकवश खड्ग का आह्वान किया और मात्र आह्वान पर ही खड्ग उनके हाथ मे आ गया । खड्ग की परीक्षा उसकी धार से ही हो सकती है, अत ज्यो ही खड्ग लक्ष्मण के हाथ मे आया, त्यो ही उन्होंने उसकी धार की परीक्षा करने के लिए उसी समीपस्थ झाडी पर उसे चला दिया, जिसमे शबुक तपस्या कर रहा था । खड्ग का चलना था कि झाडी तो क्षणमात्र मे कटी ही, साथ ही शबुक का मस्तक भी कट गया ।

रक्त की धार बह चली और ज्यो ही लक्ष्मण की दृष्टि उस ओर गई वह भौचक्के होकर झाडी की ओर दौडे । अन्दर झाँककर देखा तो दुख और आश्चर्य के मारे इस प्रकार जडवत् खडे रह गये कि काटो तो खून की एक बूँद भी न निकले । अन्दर एक व्यक्ति उनके खड्ग के प्रहार से कटा हुआ पडा था ।

घोर दुख, ग्लानि और मारे पश्चात्ताप के वे माथा पकडकर वही बैठ गये । सोचने लगे—"अनजान मे ही सही, पर मुझसे कैसा अनर्थ और पाप हो गया । हाय ! अब मैं क्या करूँ ?" बिगडी को बनाने का उनके पास कोई उपाय नही था । बात यथार्थ भी थी । क्योकि स्थिति मरणातक भी होती तो वे कुछ न कुछ प्रयत्न करते पर मरण के पश्चात् क्या किया जा सकता था ? शबुक का मस्तक एक ओर तथा धड दूसरी ओर पडा था ।

बहुत समय पश्चात् कोई भी उपाय न देखकर और मरने वाले की पहचान

भी न होने के कारण वे उठे और थके-थके कदमों से अपनी झोंपडी की ओर चले। वहाँ आकर उन्होंने अपने भाई राम से अपने भूल से हो जाने वाले पाप के विषय में बताया। पर उसके बाद ही कैसी आश्चर्यजनक घटना घटी, यह भी आपको बताता हूँ।

जब लक्ष्मण शम्बुक की लाश के पास से हटकर अपने निवास की ओर चल दिये, उसके कुछ समय पश्चात् ही सूर्पणखा पुत्र के लिए प्रतिदिन के समान खाना लेकर आई। पर ज्योंही उसने वहाँ पर अपने पुत्र को मरा हुआ देखा, त्यों ही थाल एक ओर पटककर छाती पीटती हुई रोने लगी। पर रोने से क्या हो सकता था अतः उसने उठकर मारने वाले की खोज करना चाहा और लक्ष्मण के पैरों के चिह्नों के आधार पर उसी ओर चल दी।

पद-चिह्न देखती हुई वह राम-लक्ष्मण की पर्णकुटी की ओर बढी तथा वहाँ पहुँच गई। कुटिया में रामचन्द्रजी बैठे हुए थे। उन्हें देखकर वह अवाक् रह गई। इस पृथ्वी पर अपने जीवन में उसने किसी भी पुरुष में ऐसा सौन्दर्य और आकर्षण नहीं देखा था। कुमति का रूप तो वह थी ही, अतः पुत्र-शोक को भूल गई और राम के सहवास की इच्छा कर बैठी। राम से उसने प्रार्थना की—"कृपा करके मुझे स्वीकार करो।"

राम हैरान रह गये। प्रथम बार और अल्प क्षणों के लिए जिससे सम्पर्क हुआ वह स्त्री इस प्रकार अचानक ही भोग का निमंत्रण दे, यह आश्चर्यजनक ही था। पर वे जान गये कि—

कामातुराणाम् न भयं न लज्जा।

अर्थात्—कामी व्यक्तियों को न किसी प्रकार का भय होता है और न दृष्टि में लज्जा ही रह जाती है।

विषय-विकारों का आकर्षण ऐसा ही प्रबल होता है। वह मनुष्य को पल-मात्र में विवेकहीन एवं हिताहित के ज्ञान से शून्य बना देता है। ऐसे व्यक्ति भूल जाते हैं कि हमारी ऐसी चित्त-वृत्ति हमें न इस लोक में चैन लेने देगी और न परलोक में ही सुगति प्राप्त करने देगी।

तो सूर्पणखा अपनी कुमति के कारण पुत्र की मृत्यु के दुःख को भी क्षण मात्र में भूलकर राम से सहवास की प्रार्थना करने लगी। किन्तु साक्षात् धर्म के अवतार राम क्या उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके अपने शीलधर्म से विचलित हो सकते थे? नहीं, वे चरित्रवान् एवं इन्द्रिय-विजयी शूरवीर पुरुष थे।

इस विषय में शंकराचार्य जी ने एक श्लोक में कहा है—

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा ?
मनोज-बाणैर्व्यथितो न यस्तु ।
प्राज्ञोऽतिधीरश्च समोऽस्ति को वा ?
प्राप्तो न मोहं ललना-कटाक्षैः ॥

यह श्लोक 'प्रश्नोत्तरमाला' पुस्तक में से लिया गया है, अतः इसमें प्रश्न भी है और उत्तर भी वे इस प्रकार हैं—संसार में सबसे बड़ा शूरवीर कौन है ? जो काम-बाणों से पीड़ित नहीं होता । प्राज्ञ, धीर और समदर्शी कौन है ? जो स्त्रियों के कटाक्षों से मोहित नहीं होता ।

राम भी ऐसे ही शूरवीर, प्राज्ञ, धीर और समदर्शी थे । यद्यपि किसी अपरिचिता स्त्री के इस प्रकार प्रणय-निवेदन से क्रोध आना स्वाभाविक था किन्तु उनमें धीरता का महान् गुण था । अतः उन्होंने बात को केवल हँसी में ही टाल देने के लिए सूर्पणखा से कहा—

"देवी ! मेरा तो ब्याह हो चुका है और यह देखो, मेरी पत्नी सीता भी मेरे साथ ही है । पर मेरा भाई लक्ष्मण अभी अविवाहित और अपार सौन्दर्यशाली है । तुम उसके पास जाओ तो शायद तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाय ।"

रामचन्द्रजी की बात सुनकर सूर्पणखा लक्ष्मण की ओर चल दी, जो कि कुटिया से कुछ ही दूर विचारमग्न बैठे थे । अपने भाई और सूर्पणखा के बीच होने वाले वार्तालाप को कुछ सुनकर और कुछ संकेत से उन्होंने समझ लिया था ।

सूर्पणखा ने लक्ष्मण से भी प्रणय-निवेदन किया, जैसा कि राम से किया था । आप जानते ही हैं कि लक्ष्मण क्रोधी थे, अपने भाई के समान उनमें धैर्य एवं सहनशीलता नहीं थी । इसलिए सूर्पणखा के लज्जाहीन निवेदन पर वे भड़क उठे और आग-बबूला होकर बोले—"तुझे शर्म आनी चाहिए अपनी विकारग्रस्त भावना के लिए, प्रथम तो तू मेरे बड़े भाई के पास प्रेम की याचना करने गई थी, अतः मेरी भाभी के समान हो गई । दूसरे मैं तुझ जैसी चारित्रहीना को स्वप्न में भी नहीं अपना सकता । अन्य रामायणों में तो सम्भवतः यह भी कहा गया है कि लक्ष्मण ने अत्यन्त कुपित होकर सूर्पणखा की नाक ही काट डाली थी । खैर, कुछ भी हो, बात यही है कि पहले वह राम के द्वारा टाल दी गई और तत्पश्चात् लक्ष्मण की तीव्र भर्त्सना का शिकार बनाई जाकर वहाँ से भी निकाल दी गई ।

सूर्पणखा की मनःस्थिति के विषय में क्या कहा जाय ? उसके समुद्र में उठने वाली तरंगों के समान बदले । पहले पुत्र की मृत्यु

शोक-ग्रस्त हुई, फिर राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखकर काम-वासना से भर गई और अब उसके पूरी न होने पर असह्य क्रोध की ज्वाला मे जलती हुई बदला लेने के लिए पागल हो उठी।

पुत्र की लाश के यहाँ से जो पद-चिह्न राम की पर्णकुटी की ओर गये थे, उससे सूर्पणखा यह तो जान ही गई थी कि इन्ही दोनो मे से किसी ने मेरे पुत्र को मारा है। अत तब, जबकि उसका प्रणय-निवेदन भी दोनो ने अस्वीकार कर दिया तथा तिरस्कृत करते हुए वहाँ से निकाल दिया तो अब वह रोती-पीटती हुई अपने क्रोधरूपी पति खर के पास पहुँची और अपनी काम-पिपासा के प्रसग को छिपाकर पुत्र की हत्या के विषय मे और हत्यारे के विषय मे जानकारी देकर बोली—"मेरे पुत्र की हत्या का बदला लो।"

पुत्र की हत्या हो जाने पर और उसके हत्यारो का पता भी लग जाने पर फिर क्रोधी बाप कैसे चुप बैठा रहता? वह अपने दूषण एव त्रिशर, दोनो भाइयो को लेकर राम व लक्ष्मण को मार डालने के लिए जगल मे पहुच गया। पर बलदेव राम और वासुदेव लक्ष्मण के ऊपर उनका क्या जोर चलने वाला था। केवल लक्ष्मण ने ही उनका खात्मा कर दिया।

सूर्पणखा की दशा अब और भी बुरी हो गई। पति और देवरो के मारे जाने पर उसका क्रोध हजार गुना बढ गया। खूब सोच-विचार कर वह अपने भाई मिथ्यामोहरूपी रावण के पास पहुची। रावण को भडकाने के लिए उसने दो अस्त्र तैयार कर लिये थे कि एक काम नही आएगा तो दूसरे का उपयोग करूँगी।

पहले तो उसने अपने पुत्र शबुक की हत्या के विषय मे बताते हुए कहा कि उसकी सजा हत्यारो को देने जाने पर मेरे पति और देवरो को भी लक्ष्मण ने मार डाला है। दूसरे यह भी कहा—"तुम इतनी बडी सोने की लका के राजा हो और तुम्हारे महल मे हजारो रानियाँ है, किन्तु राम की पत्नी सीता के पैरो की धोवन के समान भी कोई नही है। अर्थात् सीता अतुल सौन्दर्य की प्रतिमा है, और ऐसी स्त्री तुम्हारे रनिवास मे नही आई तो फिर तुम्हारे इतने शक्तिशाली होने और बीस भुजाएँ रखने से क्या लाभ है?"

बहन के द्वारा सीता के सौन्दर्य का वर्णन करने पर रावण विकारो के वशीभूत हो गया और साधु का वेश बनाकर छलपूर्वक सीता का हरण कर लाया। यद्यपि उस समय राम-लक्ष्मण कुटी मे नही थे और रावण के द्वारा रचाए गये स्वर्ण-मृग के पीछे जा चुके थे। किन्तु फिर भी लक्ष्मण कुटी के चारो ओर एक रेखा खींच गये थे कि कोई भी अगर इसका उल्लघन करेगा तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित होगी और उस प्राणी को भस्म कर देगी।

शक्तिशाली रावण भी जब साधु के वेश में सीता से भिक्षा की याचना करने गया तो उस रेखा का उल्लंघन नहीं कर सका और बोला—

"देवी ! साधु बँधी हुई भिक्षा नहीं लेता। अगर देना है तो इस रेखा से बाहर आकर दो।'

सीता भोली और सरल थी। उसने यह बात सत्य समझी और साधु कहीं बिना भिक्षा के न लौट जाय इस डर से तुरन्त 'लक्ष्मण-रेखा' से बाहर आ गई। ठीक उसी समय रावण ने बलपूर्वक उसे उठाया और लंका में ले आया।

जब राम और लक्ष्मण लौटकर आए, तो देखा कि कुटिया खाली है, वहाँ सीता नहीं है। राम अत्यन्त दुखी हुए और इधर-उधर सीता को खोजने लगे। पर वहाँ आसपास सीता कहाँ थी? वह तो समुद्र पार लंका में पहुँच चुकी थी। इतना अवश्य था कि रावण का एक नियम था—'किसी स्त्री की इच्छा के बिना उससे बलात्कार नहीं करना।" और इस नियम के कारण उसने सीता को अशोक-वाटिका में रख दिया तथा उसे समझाने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ किये। स्वयं तो बार-बार आकर अपने ऐश्वर्य के अनेक प्रलोभन देकर उसे समझाता ही, अपनी रानी मन्दोदरी को भी उसने इस कार्य के लिए दबाव डाला। पर सीता महासती थी, वह कहाँ रावण की ओर देखने वाली थी? वह तो अपने शीलधर्म पर अडिग बनी रही।

इधर सीता की खोज में सन्तोष रूपी सुग्रीव ने, पाँचों यमरूपी जाम्बवान ने और सुमन जिसे कहा जा सकता है उस हनुमान ने राम की सहायता की। सु-मन ही सुमति को पा सकता है अतः हनुमान सीता की खोज में सफल हो गये और लंका में आग लगाकर अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाते हुए लौट आए। पर आकर बोले—"भगवन् ! माता सीता का पता तो लगाकर आया हूँ, पर वह रावण की कैद में है जो कि अत्यन्त बलवान है।"

यह जानकर राम ने दान, शील, तप एवं भावरूपी चतुरंगिणी सेना तैयार की और अपनी सेना के आगे नीति-रूपी पताका फहराती हुई रखी। सेना लेकर वे रावण पर विजय प्राप्त करके सीता को लाने के लिए रवाना हुए। सेना में जयजयकार का गम्भीर घोष हो रहा था।

इधर जब रावण को राम के सेना सहित आने के समाचार मिले तो वह भी शक्ति में कम नहीं था अतः उसने भी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाई
क्रोध, मान, माया और लोभ को मिलाकर बनायी गयी थी। सेना
की कुविचार रूपी कुध्यान और अपकीर्तिरूपी नगाड़ा बजाया
स्वयं मिथ्यामोहरूपी रावण कुशील के रथ में बैठा था।

रूपी शस्त्र धारण किये हुए था। राग-द्वेष रूप बड़े-बड़े राक्षस उसके अंगरक्षक थे। अपनी सेना को लेकर वह भी राम-लक्ष्मण का मुकाबला करने आ गया।

रावण के सामने आने पर, शील रूपी रथ पर बैठकर धीरज रूपी धनुष सत्यरूपी लक्ष्मण ने अपने हाथ में लिया और अपने बड़े भाई राम से बोले—

"भैया! पहले मुझे ही रावण से निबटने की आज्ञा दें। अगर जरूरत होगी तो आपको कष्ट दूंगा, अन्यथा नहीं।" यह कहते हुए लक्ष्मण रावण का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़े।

रावण ने सामने लक्ष्मण को देखकर अज्ञान-रूपी शक्ति-चक्र लक्ष्मण को मारने के लिए भेजा, पर लक्ष्मण वासुदेव थे और वासुदेव किसी के मारने से नहीं मरते अतः चक्र उनकी प्रदक्षिणा करके उन्हीं के हाथ में आ गया। अब लक्ष्मण ने उसी चक्र को ज्ञान-चक्र में परिवर्तित करके रावण पर चलाया और उससे रावण का अन्त हो गया।

आप जानते ही हैं कि सेनाएँ लड़ती हैं पर विजयश्री राजा का वरण करती है, अर्थात् विजय राजा की ही कहलाती है। धर्मरूपी राम के प्रति अटूट निष्ठा रखते हुए और परोक्ष रूप से उन्हीं का स्मरण करते हुए सत्यरूप लक्ष्मण ने रावण को मारा और उनकी सेना राम एवं लक्ष्मण की विजय-घोषणा करती हुई लौटी। होना ही यही था क्योंकि धर्मशास्त्र कहते हैं—'सत्यमेव जयते' सत्य की सदा जय होती है।

तो दस मुँह, बीस भुजाएँ एवं अपार शक्ति रखने वाला महाबली रावण हार गया क्योंकि उसके दस मिथ्यात्व रूपी मुँह एवं बीस आश्रव रूपी भुजाएँ थीं, विषय-वासना एवं अभिमान रूपी इन्द्रजीत तथा मेघवाहन पुत्र थे और चार कषाय रूपी चतुरंगिणी सेना थी। और थी कुमतिरूपी बहन सूर्पणखा, जिसके भड़काने में उसने सीता का हरण किया था। इस प्रकार सम्पूर्ण दुर्गुणों को धारण करने वाला तथा ऐसा ही परिवार एवं अपनी सेना रखने वाला रावण देह से कितना भी शक्तिशाली होने पर भी साक्षात् धर्म रूप राम एवं सत्य रूपी लक्ष्मण के समक्ष कैसे टिक सकता था?

शास्त्र भी हमें बताते हैं —

धम्मम्मि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ वीरो य।
ण हु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि॥

—सूत्र० नि० ६०

अर्थात्—जो व्यक्ति धर्म में दृढ़निष्ठा रखता है, वस्तुतः वही बलवान है और जो धर्म में उत्साहहीन है, वह वीर एवं बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है।

राम धर्म से ओतप्रोत या उसमें अनन्य थे इसीलिए रावण पर विजय पा सके और रावण धर्म को भुला बैठा था तथा अपनी शारीरिक एवं भौतिक शक्तियों के घमंड में चूर हो गया था अतः निर्बल साबित हुआ। वस्तुतः धर्म की महत्ता के विषय में शब्दों के द्वारा कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसका महत्त्व अवर्णनीय होता है।

धर्मग्रन्थ भी यही कहते हैं कि—

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्य चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्य, फल धर्मादवाप्यते॥

—आत्मानुशासन २२

अर्थात्—कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिन्त्य फल मिलता है।

इसलिए बंधुओ! हमें धर्म को जीवनसात् करके आज विजयादशमी के दिन से ही अधर्म पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए। पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपनी कविता के अंत में कहा है—धर्म रूप राम अपने बंधु भरत एवं पत्नी सुमति को साथ लेकर निर्वाण पद रूपी अयोध्या में आए जहाँ किसी प्रकार का भय, दुःख या शोक नहीं था। आज भी आप लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ पहले राम-राज्य था पर अब वह नहीं है। राम-राज्य से अभिप्राय देश में अनीति, अधर्म, छल, बेईमानी और किसी भी प्रकार के दुःख, शोक या भय का न होना है। तो, राम की अयोध्या को कवि ने निर्वाणपुरी के सदृश बताया है तथा राम की कथा को बड़े सुन्दर ढंग से आध्यात्मिक विषय पर घटाते हुए मनुष्य को धर्म के द्वारा अधर्म पर विजय प्राप्त करने की सत्प्रेरणा दी है।

जो भव्य पुरुष ऐसा करेगा यानी राम के समान अपने मन, वचन एवं कर्म से धर्म की रक्षा करेगा वह निश्चय ही निःशल्य एवं [illegible] रूपी रावण पर विजय प्राप्त करता हुआ एक दिन निर्वाण की प्राप्ति करेगा।

○

७

इहलोक मीठा, परलोक कोणे दिठा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल विजयादशमी थी अत हमने विचार किया था कि इसे कैसे मनाना चाहिए ? कल के दिन राम की रावण पर विजय हुई थी या यह भी कहा जा सकता है कि धर्म की अधर्म पर विजय हुई थी। धर्म की अधर्म पर विजय क्यो और कैसे हुई थी ? इस सम्बन्ध मे मैंने पूज्यपाद, पडितरत्न कविश्री त्रिलोकऋषि जी महाराज की एक कविता के आधार पर आपको वताया था। कविश्री ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक एव वडे ही सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी ढग से आध्यात्मिक दृष्टिकोण सामने रखते हुए धर्मरूपी राम एव अधर्मरूपी रावण की कथा या धर्म की अधर्म पर विजय की कहानी जिस प्रकार लिखी थी, वह मैंने आपके समक्ष रखने का प्रयत्न किया था।

आशा है उस आध्यात्मिक कथा को सुनकर आपके हृदय मे भी दृढ विचार उत्पन्न हुआ होगा कि अगर हम भी अपनी आत्मा के स्वाभाविक धर्म को जागृत करें तो अधर्म को नष्ट करते हुए अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक कर सकते है। मेरी भी यही कामना है कि प्रत्येक मुमुक्षु आध्यात्मिक दशहरा मनाए तथा राम नामक एक व्यक्ति और रावण नामक दूसरे व्यक्ति की ही यह कथा न मानकर धर्म की अधर्म पर विजय कैसे हुई इसका रहस्य समझे तथा अपने जीवन को धर्ममय वनाकर सवर-मार्ग पर चलते हुए समस्त मिथ्यात्व एव आश्रवो पर पूर्ण विजय प्राप्त करे।

अव हम अपने वहुत दिनो से चले आ रहे मूल विपय सवर पर आते है। सवर के सत्तावन भेदो मे से तीसवे भेद या बाईसवे और अन्तिम परिषह की एक गाथा पर हमने विवेचन किया था। इकत्तीसवाँ है—'दर्शन परिषह'।

इस परिषह को जीत न सकने वाले साधु या श्रावक अश्रद्धा के कारण यह चिन्तन करते हैं कि "परलोक है ही नहीं और इतने दिन तक त्याग-तपादि का अनुष्ठान करके मैंने भूल की है, अथवा मैं ठगा गया हूँ।" इस प्रकार के विचार वे ही अस्थिर मन वाले करते हैं जिनकी श्रद्धा डावाँडोल है। उनका कथन यही होता है—"परलोक एक युक्ति शून्य कल्पना-मात्र है और उसको स्वीकार करने वाले भ्रम में पड़कर इस लोक के सुखों से भी वंचित हो जाते हैं।"

'इहलोक मीठा परलोक कोणे दिठा ?'

यह एक गुजराती की कहावत है और विचलित श्रद्धा वाले नास्तिकों के द्वारा कही गई है। इसमें यही कहा गया है कि परलोक देखा ही किसने है? किसी ने भी तो वहाँ से आकर उसके विषय में कभी कुछ नहीं बताया। इसलिए जो दृष्टिगोचर ही नहीं है, उस मिथ्या कल्पना के प्रपंच में पड़कर इस जीवन को भी निरर्थक खोना कहाँ की बुद्धिमानी है? सर्वोत्तम तो यही है कि केवल कल्पना के परलोक में सुखों की प्राप्ति कर लेने की आशा का त्याग करके इस लोक में अधिक से अधिक सुख प्राप्त किया जाय। कहा भी है—

लोकायता वदन्त्येव, नास्ति देवो न निर्वृत्ति।
धर्माधर्मौ न विद्येते, न फलं पुण्य-पापयोः॥
पञ्चभूतात्मकं वस्तु, प्रत्यक्षं च प्रमाणकम्।
नास्तिकानां मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम्॥

अर्थात्—नास्तिकों की यह मान्यता है कि न कोई परमात्मा है, न मुक्ति है, न धर्म है, न अधर्म है और न ही पुण्य या पाप का फल कहीं भोगना पड़ता है। यह सम्पूर्ण जगत्—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित है। इसके अतिरिक्त और कहीं कोई वस्तु नहीं है। इसके अलावा आगम या अनुमान कोई प्रमाण नहीं है केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। निश्चय ही परलोक में जाने वाली कोई आत्मा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के अलावा सब अप्रामाणिक है।

इस बात को सुनकर या पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है कि नास्तिक व्यक्ति दृष्टिगोचर पदार्थ का ही अस्तित्व मानते हुए यह कैसे कहते हैं?—चक्षुर्वै सत्यम् यानी आँखों से दिखाई देने वाली वस्तु ही है, इसके अलावा कहीं और कुछ नहीं है।

अमेरिका को पहले किसी ने देखा नहीं था तो क्या वह देश था ही नहीं? [illegible] उसकी खोज हुई। [illegible] लोग अपनी नाम

पीढियो के पुरखो को भी नही देखते, तो क्या वे थे नही ? दूर क्यो जायँ ? अपनी पीठ ही हमे दिखाई नही देती, पर क्या यह है नही ? अवश्य है और यही सब बाते साबित करती है कि आँखो से दिखाई नही देता तो भी परलोक है और पाप या पुण्य के अनुसार आत्मा उत्तम या निम्न गति मे जाती है।

राजा प्रदेशी

इस विषय मे 'राजप्रश्नीय सूत्र' मे राजा प्रदेशी का विस्तृत प्रसग दिया गया है। प्रदेशी राजा पूर्णतया नास्तिक था। वह न ईश्वर को मानता था, न स्वर्ग-नर्क को, न पुण्य-पाप को और न ही परलोक मे विश्वास करता था। और तो क्या अपने माता-पिता के प्रति भी उसमे विनय या आदर का भाव नही था। उसका कथन था—'जो राजा है, वही ईश्वर है तथा ससार का सुख ही स्वर्ग और दुख ही नरक है।'

अपने अज्ञान के कारण वह 'कूप-मडूक' के समान विचार रखता था। कूप-मडूक की कहानी आपने अनेक बार सुनी होगी। अत उसे कहने की मैं आवश्यकता नही समझता। केवल यही कहना चाहता हूँ कि कुएँ मे रहने वाला वह मेढक उसे ही सम्पूर्ण ससार समझता था तथा कुए से बाहर सागर या अन्य और भी कुछ है, इस पर विश्वास नही करता था। क्योकि उस कुए से बाहर उसकी दृष्टि नही जाती थी। पर उसके दृष्टिगोचर न होने से क्या यह कहा जा सकता था कि कुए से बाहर का इतना विशाल जगत् है ही नही, या लह-राते हुए समुद्र भी कही नहीं है ? नही, ऐसा नही कहा जा सकता। मेढक के न देख पाने से सम्पूर्ण जगत् के अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता था।

राजा प्रदेशी भी यह नही जानता था कि इस पृथ्वी पर जो है, वह केवल सैम्पल या नमूना मात्र है। कोई व्यापारी ग्राहक के आने पर गेहूँ या चावल का थोडा सा नमूना मुट्ठी मे लाकर बताता है, पर उससे यह साबित नही हो जाता कि माल बस उतना ही है। ग्राहक नमूने को देखकर यह कैसे जान सकता है कि व्यापारी के गोदाम मे कितना माल है ? पर बिना देखे भी वह यह विश्वास रखता है कि व्यापारी के पास भडार है।

इसी प्रकार इस ससार मे सुख और दुख का नमूना मात्र देख लेने से यह कैसे कहा जा सकता है कि यहाँ से अधिक सुख वाला स्वर्ग नही है और यहाँ के दुखो से अधिक दुख पहुँचाने वाला नरक भी नही हो सकता। कर्मो के अनुसार आत्मा को आगे जाकर भी सुख या दुख प्राप्त होते है। आप बम्बई से माल खरीदते है तो वहाँ जकात देनी पडती है और जब अपने गांव मे लाते है तो वहाँ की नगरपालिका को भी जकात या कर देना पडता है। क्या उस समय

आप यह कहते हैं कि हमने तो जवान एक स्थान पर चुका दी अब नहीं देंगे ? ऐसा आप नहीं कह सकते । इसी प्रकार पूर्व के कर्मों को लेकर जब आत्मा इस पृथ्वी पर आती है तो उनके अनुसार उसे सुख या दुःखरूपी फल भोगकर कर्ज चुकाना पड़ता है और जब यहाँ से जाती है तो जितने शुभ या अशुभ कर्म वह भार के रूप में साथ ले चलती है, आगे जाकर उनका भुगतान भी करना पड़ता है । और यह नहीं कहना कि कर्मों का सारा कर्ज हम पृथ्वी पर ही चुका आये हैं ।

परिणाम भिन्न-भिन्न क्यों ?

ध्यानपूर्वक विचारने की बात तो यह है कि अगर पंचभूतों के मेल से ही देह और चेतना का निर्माण हो जाता है तो फिर संसार में सभी प्राणी एक ही से क्यों नहीं होते ? सारे के सारे पशु या सभी मनुष्य ही क्यों नहीं बनते ? हम देखते हैं कि किसान या माली जो अनाज बोता है, उसी का पौधा उगता है तथा जिस फूल की कलम लगाई जाती है, उसमें वही फूल खिलता है, गेहूँ बोने पर मक्का या गुलाब लगाने पर मोगरा नहीं उगता । इसी प्रकार सुनते हैं कि वैज्ञानिक लोग जब अनुसंधान करते हैं तो उनके प्रयोगों में जब वस्तुएँ एक दूसरी में मिलाई जाती हैं तो उनका परिणाम या मेल सदा एकसा ही होता है, कभी अलग नहीं हुआ करता ।

तो बंधुओ, पंचभूतों के मेल से भी प्राणी एक-सी देह क्यों नहीं पाता ? जब पाँच द्रव्य वही हैं तो एक प्राणी विशालकाय हाथी जैसे बन जाता है और दूसरा सुई की नोक से भी छोटा प्राणी क्यों बनता है ? क्यों संसार में पशु ही पशु, मनुष्य ही मनुष्य अथवा और किसी प्रकार के एक जैसे ही जीव नहीं होते ? दूसरे, मनुष्यों को ही अगर हम लें तो वे भी क्या एक-सरीखे होते हैं ? नहीं, किसी में तो इतनी तीव्र बुद्धि होती है कि वह महाविद्वान बन जाता है और किसी के दिमाग में मानो भूसा ही भरा रहता है । कोई असाधारण सौन्दर्य का धनी होता है और कोई जन्म से ही भद्दा, काला या कुरूप । इसी प्रकार कोई दिन-रात परिश्रम करके भी पेटभर अन्न नहीं जुटा पाता और कोई जन्म से ही लक्ष्मी की गोद में खेलता है । यह सब क्यों ?

यह इसीलिए कि प्राणी पाँच भूतों से ही निर्मित न होकर अपने पूर्व में कृत शुभाशुभ कर्मों का बोझ अदृश्य आत्मा के साथ लेकर आता है और उसी के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की देह और सुख अथवा दुःख पाता है । जो व्यक्ति इस बात को समझ लेता है वह आगे के लिए सचेत या सावधान हो जाता है तथा अपने जीवन को धर्ममय, सद्गुण सम्पन्न और त्याग-तप युक्त बनाकर परलोक के साथ ले जाने के लिए शुभ कर्मों का संचय करने लगता है ।

नास्तिकों के कुतर्क

नास्तिक या श्रद्धाविहीन व्यक्ति अपने अशुभ कर्म-भार को और भी अधिक बढा लेता है, क्योकि वह परलोक की परवाह नही करता, अत कहता है—"परलोक जब है ही नही तो फिर प्रत्यक्ष मे मिली हुई इस जिंदगी का आनन्द क्यो न उठाया जाय ? परलोक के काल्पनिक सुखो की आशा मे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सुखो को त्याग कर तप, सयम और त्यागादि से शरीर को कष्ट क्यो देना चाहिए ।" ऐसे व्यक्ति तो तप, त्याग, सयम, शील और साधना आदि का उपहास करते हुए यह भी निस्सकोच कहते हैं कि—

> अशक्तस्तु भवेत्साधुः, कुरूपा च पतिव्रता ।
> व्याधितो देवभक्तश्च, निर्धनाः ब्रह्मचारिण. ।।

यानी—जो व्यक्ति कमाई करके उदरपूर्ति करने मे असमर्थ है वह साधु बने । जिसे कोई पुरुष नही चाहता हो, ऐसी कुरूप स्त्री पतिव्रता रहे । इसी प्रकार रोगी व्यक्ति जो कि विषय-भोगो को भोगने मे असमर्थ हो वह भगवान की भक्ति करता रहे और धन न होने के कारण जिसे स्त्री न मिल सकती हो वह भले ही ब्रह्मचारी बन जाय ।

खेद की बात है कि इस प्रकार की बाते करने वाले व्यक्तियो की ससार मे कमी नही है और ऐसे विचार वाले अज्ञानी पुरुष सासारिक सुखो को ही सुख मानते हुए विषय-वासना के कीचड मे पडे रहते है और विषयासक्ति के कारण विविध व्यक्तियो के शिकार बनकर जीवन की अन्तिम वेला मे पश्चात्ताप करते हैं । उस समय वे सोचते है कि हमने जीवन मे जो घोर पाप किये है, न जाने उनका क्या परिणाम होगा ? पर उस समय, जबकि मृत्यु चील के समान मस्तक पर मँडराने लगती है और मौत के चगुल मे फँसे उस प्राणी को काम-भोगो की असारता समझ मे आती है, तब फिर क्या हो सकता है ?

इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति को समय रहते ही चेत जाना चाहिए तथा शास्त्रकारो की बातो पर विश्वास करते हुए समझ लेना चाहिए कि—

> सुट्ठुवि मग्गिज्जतो, कत्थवि केलीइ नत्थि जहसारो ।
> इदियविसएसु तया, नत्थि सुह सुट्ठुवि गविट्ठ ।।
>
> —भक्त परिज्ञा, गा० १४४

अर्थात्—बहुत खोज करने पर भी जैसे कदली मे कही भी सार नही मिलता, इसी प्रकार इन्द्रिय विषयो मे भी तत्त्वज्ञो ने खूब खोज करके भी कही सुख नही देखा ।

जो भव्य प्राणी शास्त्रों के इन वचनों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, वे कभी सच्चे देव, गुरु और धर्म पर अश्रद्धा नहीं रखते और हिंसा, चोरी, असत्य, कुशील, परिग्रह आदि दुर्गुणों को जीवन में उभरने नहीं देते। अपनी आत्मा और मन को विकारों से रहित बनाते हुए वे सांसारिक आसक्ति, लोलुपता तथा रागद्वेषादि से परे रहते हैं एवं मिथ्याज्ञान या विपरीत श्रद्धान् का आश्रय लेकर जीवन को पतित नहीं होने देते।

अश्रद्धा का दुष्परिणाम

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

> एतां दृष्टिमवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय ।
> प्रभवन्त्युग्रकर्माण, क्षयाय जगतोहिता ॥
> काममाश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विता ।
> मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रता ॥

कहा गया है—मिथ्याज्ञान के अवलम्बन से जिनका आत्म-स्वभाव नष्ट हो गया है और बुद्धि मन्द पड़ गई है वे सबका अपकार करने वाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

ऐसे व मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी भी प्रकार से पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेते हुए अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके आचारभ्रष्ट होकर प्रवृत्ति करते हैं।

वस्तुतः परलोक को न मानने वाले व्यक्ति हिंसक बन जाते हैं और क्रूर से क्रूर पाप करने में भी परहेज नहीं करते। राजा प्रदेशी भी ऐसा ही व्यक्ति था। वह न परलोक को मानता था और न आत्मा को, अतः उसके हृदय में दया या करुणा नाम की भावना ही नहीं थी। वह जीवों की हत्या करके देखा करता था कि इनमें कहाँ आत्मा रहती है। दूसरे शब्दों में उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे।

उसकी प्रजा की दशा भी इससे बड़ी प्रभावित थी और कुछ जो धर्म-अधर्म, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि को मानने वाले व्यक्ति थे, वे भी राजा के भय से प्रत्यक्ष में धर्माचरण नहीं करते थे। राजा के [illegible] प्रजा को भी [illegible] होता ही था। [illegible] व्यक्ति [illegible] थे [illegible] होते हैं वे ही [illegible] होते हैं [illegible]।

[illegible] निश्चय ही [illegible]

मे जहाँ बाधा पडती हो और धर्म के नाम पर अशाति का वातावरण बनता हो, उस क्षेत्र मे विचरण नही करते। इसके अलावा जब वे चातुर्मास करते है तब भी सोलह बातो का ध्यान रखते हुए करते है। उन सभी को बताने की यहाँ आवश्यकता नही है, पर उनमे से कुछ बाते है—जहाँ का राजा न्यायी हो, श्रावक सुलभ हो, पाखड मत न हो या कम हो, निरवद्य मकान मिलता हो, भिक्षा निर्दोष मिल सकती हो और ज्ञान-ध्यान आदि की सुविधा हो ऐसे स्थानो पर ही सत वर्षाकाल व्यतीत करने की भावना रखते है।

तो, श्वेताविका नगरी का राजा प्रदेशी स्वय ही अश्रद्धालु, अधर्मी और क्रूर था। अत सतो का आगमन वहाँ कठिन था। जब राजा ही अन्यायी होगा तो बाकी सभी बाते सतो के अनुकूल किस प्रकार हो सकेगी ?

चित्त बदल गया

सयोग की बात थी कि उस नास्तिक राजा का नास्तिक मन्त्री 'चित्त' एक बार श्रावस्ती नगरी के राजा जितशत्रु की सेवा मे नजराना लेकर गया। वहाँ उस समय मुनि श्री केशी स्वामीजी महाराज विराज रहे थे। चित्त प्रधान को उनके उपदेश सुनने का मौका मिला और उन उपदेशो का चित्तमन्त्री पर इतना असर हुआ कि उसकी धर्म पर श्रद्धा हो गई और उसने श्रावक के व्रतो को भी ग्रहण कर लिया।

पर बन्धुओ ! प्रदेशी राजा के चित्त प्रधान ने जब धर्म का महत्त्व समझ लिया तथा उस पर दृढ आस्था रखते हुए सच्चा श्रावक भी बन गया तो अब उसके हृदय मे उथल-पुथल मच गई और वह विचार करने लगा कि अपने राजा प्रदेशी को किस प्रकार धर्म के मार्ग पर लाऊँ ?

वस्तुत सज्जन पुरुष औरो को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न म लगे रहते है। क्योकि—

'दट्ठूण अण्णदोस, सप्पुरिसो लज्जिओसय होइ'।

—भगवती आराधना ३७२

—सत्पुरुष दूसरो के दोष देखकर स्वय मे लज्जा का अनुभव करता है।

गाथा मे कितनी सुन्दर और यथार्थ बात कही गई है ? वास्तव मे ही साधु-पुरुष औरो के दोषो को देखकर लज्जा का अनुभव तो करते ही है, करुणा से भी उनका हृदय भर जाता है। आप विचार करेंगे कि चित्त मन्त्री को भला राजा के लिए करुणा और दया मन मे लाने का क्या कारण था ? दया तो निर्धन, रोगी, अपाहिज एव दुखी मनुष्यो पर आती है। प्रदेशी तो स्वय राजा

ही इसका महत्त्व समझ पाते है ? नही, वे केवल इसी जन्म के दु खो या सुखो पर दृष्टिपात करते हैं और परलोक को न मानने वाले नास्तिक व्यक्ति तो स्व-दया को परिहास का विषय मानते है। इसीलिए हमारे शास्त्र दया की गम्भीर और यथार्थ विवेचना करते हुए प्रत्येक मानव को प्रतिबोध देते है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नही है कि अपनी या पर की आत्मा की दया को ही व्यक्ति देखे और सासारिक दृष्टि से जैसा कि अभी मैंने बताया था, अपाहिज, रोगी, निर्धन या शोकग्रस्त व्यक्तियो के प्रति दया या करुणा की भावना ही न रखे और उनके दु खो को मिटाने का प्रयत्न न करे। व्यक्ति को ऐसे मनुष्यो के दु खो और कष्टो को मिटाने का प्रयत्न तो सबसे पहले करना चाहिए, क्योकि ये सभी शुभ-कर्म पुण्य का सचय करते है तथा उच्चगति मे ले जाते है। पर इन प्रयत्नो के साथ ही व्रत, नियम, त्याग, सयम एव तप आदि की आराधना करके मुमुक्षु आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का क्षय भी अवश्य करता चले जो कि आत्म-दया का मुख्य लक्षण है।

यह सत्य है कि पुण्य सचय करने पर स्वर्ग हासिल हो सकता है, लेकिन आत्मा कर्म-मुक्त नही होती। कर्मो से सर्वथा मुक्त होने के लिए तो स्वर्ग-सुख रूपी सोने की बेडियो को भी तोडना ही पडेगा।

शास्त्रकार कहते भी हैं—

हेम वा आयस वावि, बधण दुक्ख कारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्ख संपदा ॥

—ऋषिभाषितानि, ४५।५

—बन्धन चाहे सोने का हो या लोहे का, बन्धन तो आखिर बन्धन ही है। बहुत मूल्यवान डण्डे का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है।

गाथा के वचन यथार्थ है। पुण्य-सचय करके भले ही जीव स्वर्ग की प्राप्ति कर ले और बहुत काल तक अपार सुखो का अनुभव करे, किन्तु वह लोक भी अन्त मे छोडना पडता है और उससे जीव को असीम दु ख का अनुभव होता है। अत सर्वोत्तम यही है कि मुमुक्षु प्राणी अधिकाधिक कर्मो की निर्जरा करने का प्रयत्न करे और पापरूपी लोहे की बेडियो को ही बेडियाँ न समझकर पुण्यरूपी सोने की बेडियो को भी बेडियाँ ही समझे और दोनो से बचने के लिए सच्ची भावना करे। तभी वह स्व-दया का पारखी समझा जा सकता है और 'स्व' पर यानी अपनी आत्मा पर दया करते हुए उसे सदा के लिए कर्ममुक्त कर शाश्वत सुख की प्राप्ति करा सकता है।

तो बन्धुओ, प्रसगवश दया को लेकर हम अपनी मूल बात से कुछ दूर

"महाराज ! राजा से आपको क्या अपेक्षा है ? श्वेताम्बिका नगरी मे प्रथम तो मैं आपका अनुयायी शिष्य हूँ, दूसरे और भी अनेक धार्मिक व्यक्ति है। हम सब को तो आपकी सेवा का लाभ मिल सकेगा। इसके अलावा आपके पदार्पण से वह अनार्य देश भी आर्य बन जायेगा।"

केशी स्वामी ने तब उत्तर दिया—"ठीक है द्रव्य, काल एव भाव की अनुकूलता होने पर उधर आने का अवसर देखेंगे।"

चित्त मत्री को केशी स्वामी के उत्तर से आशा बँध गई और उनके हृदय मे अपार प्रसन्नता हुई। लौटते समय उन्होने मार्ग मे सभी गाँवो के व्यक्तियो को बताया कि सभवत केशी स्वामी इधर पधारेगे। इस सूचना के साथ ही उन्होने सतो के ठहरने लायक स्थान के विषय मे, विशुद्ध आहार एव जल के विषय मे भी समझाया कि सत किस प्रकार आहार-जल ग्रहण करते है ? इसी प्रकार अपने नगर के बाहर बगीचे के वनपाल को भी सभी प्रकार की हिदायते देते हुए आज्ञा दी कि 'अपने शिष्यो सहित जब महाराज केशी स्वामी पधारे तो मुझे तुरन्त सूचना देना।'

हुआ भी ऐसा ही। महाराज अपने पाँच सौ शिष्यो के समुदाय सहित श्रावस्ती से श्वेताम्बिका नगर की ओर पधारे। मार्ग मे आये हुए सभी ग्रामो को अपनी चरण-धूलि से पवित्र करते हुए तथा लोगो को कल्याणकारी उपदेश देते हुए वे श्वेताम्बिका नगर के बाहर बगीचे मे आकर ठहरे।

वनपालक ने चित्त मत्री के आदेशानुसार सतो को ठहरने का प्रबन्ध कर दिया और अविलम्ब जाकर प्रधानजी को स्वामीजी महाराज के आने की सूचना दी। चित्त मत्री यह सूचना पाकर हर्ष के मारे फूले न समाये और शहर के सभी लोगो से कहा—

"नगर के बाहर महामुनि केशी श्रमण अपने पाँच सौ शिष्यो सहित पधारे है, अत आप सब लोग उनके दर्शन, सेवा-भक्ति एव सदुपदेशो का लाभ ले। कोई इस प्रकार का भय मत रखो कि हमारे महाराज नास्तिक है, अत हमे सजा देंगे। मैं आप सबके साथ हूँ।"

मत्री के इस प्रकार कहने पर नगर के लोगो के हृदयो मे प्रसन्नता की लहर दौड गई और सब प्रमुदित मन से केशी स्वामी के दर्शन व उपदेशो का लाभ लेने के लिए निस्सकोच जाने लगे। पर प्रधानजी को तो राजा को सुधारने की चिंता थी, अत सुयोग पाकर उन्होने स्वामी जी महाराज से प्रार्थना की—

"भगवन् ! आपके यहाँ पधारने से लोगो को अपार प्रसन्नता हो रही है और सभी यथाशक्य लाभ उठा रहे है, किन्तु सबसे बडा लाभ तो आपके अनु-

नजराने मे आये है ? रुकने का नाम ही नही लेते । अब जल्दी लौट चलो, मैं परेशान हो गया हूँ ।"

मत्री ने रथ को पुन राज्य की ओर मोड दिया और वहाँ मे भी सरपट लाते हुए ठीक राज्य के बगीचे पर घोडो को रोकते हुए कहा—"महाराज ! आप बहुत थक गये है अत अपने बगीचे मे कुछ समय विश्राम कर लीजिये, तत्पश्चात् हम महल को लौट चलेगे ।"

राजा ने इसे स्वीकार कर लिया और रथ से उतरकर बगीचे मे प्रवेश किया । पर वह यह देखकर चौक पडा कि बगीचे मे बिलकुल सामने ही कोई साधु ऊँचे आसन पर बैठे है तथा उनकी प्रजा के बहुत सारे व्यक्ति सामने बैठे हुए सत के द्वारा दिया गया उपदेश दत्तचित्त होकर सुन रहे है ।

राजा ने तुरन्त मत्री से पूछा—"ये सत कौन है और क्या उपदेश दे रहे है ?"

चित्त मत्री मन मे बहुत प्रसन्न था । अपने बनाये हुए प्रोग्राम के अनुसार वह राजा को ठीक प्रवचन के समय केशी श्रमण के यहाँ ले आया था । यही वह चाहता था कि राजा सत की प्रवचन सभा के समय ही वहाँ पहुँचे और उनके हृदय मे प्रवचन के लिए कौतूहल जागृत हो । हुआ भी वही । राजा ने पूछ लिया—"ये क्या उपदेश दे रहे है ।"

मत्री ने मन की प्रसन्नता को मन मे ही छिपाते हुए शातभाव से उत्तर दिया "मैं ठीक तो बता नही सकता महाराज, पर सुनते हैं कि ये सत बड़े महान् एव ज्ञानी होते है तथा लोक-परलोक, पुण्य-पाप आदि के विषय मे बताते है तथा यह भी बताते है कि शरीर और आत्मा निश्चय ही भिन्न-भिन्न है ।"

"ऐसा कभी नही हो सकता," महाराज ने कहा ।

"क्या पता हुजूर ? पर ये तो ऐसा ही कहते है तथा इसी बात को समझाते हैं ।"

यह सुनकर राजा को कौतूहल हुआ कि किस प्रकार ये साधु आत्मा को शरीर से अलग बताते है, अत उन्होने कहा—"क्या मैं इनसे कुछ प्रश्न पूछ सकता हूँ ?"

अधे को क्या चाहिए ? दो आँखे । मत्री यही तो चाहता था, अत तुरन्त बोला—"क्यो नही पूछ सकते, महाराज ? अवश्य पधारिये । सत तो प्रत्येक समस्या का समाधान करते ही हैं ।" ऐसा कहकर वह राजा को उपदेश-स्थल पर केशी मुनि के समक्ष ले आया ।

अरोइ अत्थ कहिये विलावो,
असम्पहारे कहिये विलावो।
विक्खित्तचित्ते कहिये विलावो,
बहुकुसीसे कहिये विलावो॥

श्लोक मे बताया गया है कि चार प्रकार के व्यक्तियो को उपदेश देना विलाप या प्रलाप है, अर्थात् ऐसे व्यक्तियो को उपदेश नही देना चाहिए, क्योकि वह निरर्थक चला जाता है।

ऐसे व्यक्तियो मे प्रथम वे आते है, जिनकी उपदेश सुनने मे रुचि ही नही होती। अरुचि रखने वाले व्यक्तियो को उपदेश देना भैस के आगे वीणा बजाने के समान व्यर्थ होता है। दूसरी तरह के व्यक्ति वे होते है जो थोडी-बहुत रुचि और कुछ लोक-व्यवहार के कारण उपदेश सुन तो लेते है, किन्तु उसे ग्रहण नही करते तथा इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते है। ऐसे व्यक्तियो को उपदेश देना भी व्यर्थ प्रलाप करना है। तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते है, जिनका चित्त विक्षिप्त होता है। कुछ बुद्धि की जडता, कुछ सस्कारो का अभाव एव कुछ मिथ्याभ्रम और सदेहो को चित्त मे रखने वाले विक्षिप्त लोगो को उपदेश देना भी व्यर्थ तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना होता है। वे उपदेश सुन भी लें तो अपनी सनक के कारण उसका कुछ भी लाभ नही उठा पाते।

अब चौथे प्रकार के व्यक्ति आते है, जिनके सामने भी उपदेश देना व्यर्थ है। श्लोक मे कुशिष्यो को इस प्रकार के व्यक्ति कहा गया है। कहते है—बहुत सारे अयोग्य शिष्य एकत्र हो जायँ, तब भी गुरु का उपदेश देना चिकने घड़े पर पानी डालने के समान हो जाता है। यद्यपि कुशिष्य तो एक भी हो तो वह उनके लिए परेशानी और उपाधि का कारण बन जाता है अगर वैसे ही बहुत से हो, तब तो फिर कहना ही क्या है ? उन सबसे माथा-पच्ची करने मे ही गुरु का समय नष्ट हो जाएगा तो वे अपनी सयम-साधना कब करेंगे ?

विनीत या सुयोग्य और अविनीत या कुयोग्य शिष्य को शिक्षा अथवा उपदेश देने पर गुरु किस प्रकार सुख-दुख का अनुभव करते है, इस विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे एक बडी सुन्दर गाथा दृष्टात सहित दी गई है—

रमए पंडिए सास, हयं भद्द व वाहए।
बाल सम्मइ सासतो, गलियस्सं व वाहए॥

—अध्ययन १, गाथा ३७

८

अपराधी को अल्पकाल के लिए भी छुटकारा नहीं होता

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

हमारे प्रवचनो का मूल विषय तो सवर के सत्तावन भेदो मे से इकत्तीसवाँ भेद 'दर्शन परिपह' चल रहा है और उसे लेकर भगवान ने फरमाया है कि भिक्षु यह चिन्तन कभी न करे कि—'परलोक नही है ।'

भगवान की यह वात केवल भिक्षु या साधु के लिए ही नही है, अपितु श्रावको के लिए भी है । क्योकि श्रावको का और साधुओ का जीवन-लक्ष्य एक ही है और वह है—आस्रव का त्याग करके सवर की आराधना करते हुए कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति हासिल करना । भले ही साधु अगर सम्यक् प्रकार से सयम का पालन करे तो कुछ तीव्र गति से मुक्ति-पथ पर वढ सकता है और श्रावक पूर्णतया व्रतो का पालन न कर पाने के कारण धीमी गति से चले, पर दोनो का मार्ग एक ही है । हमारा इतिहास तो ऐसे कई उदाहरण भी वताता है, जिनसे मालूम होता है कि अनेक श्रावक विना सयम ग्रहण करके भी केवल ज्ञान की प्राप्ति कर चुके थे ।

इसलिए परलोक नही है, ऐसा चिन्तन न साधु को करना चाहिए और न श्रावक को । क्योकि जो भी व्यक्ति ऐसा विचार करेगा, वह पाप से कभी नही डरेगा तथा अपने जीवन को दुर्गुणो से युक्त वनाकर पापो का सचय कर लेगा तथा परलोक मे दुखी वनेगा ।

कल मैंने आपको वताया था कि राजा प्रदेशी पूर्णतया नास्तिक था । वह न परलोक को मानता था और न ही आत्मा का कोई अस्तित्व शरीर से भिन्न समझता था । उलटे, लोगो के मुँह से यह सुनकर कि आतमा शरीर से भिन्न है

देह छोडने के पश्चात् उसकी आत्मा नरक मे जाकर घोर दु ख भोगती है। इसके अलावा जो भव्य प्राणी अपने समस्त शुभाशुभ-कर्मों का क्षय कर लेते है, उनकी आत्मा पूर्णतया कर्म-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है। मोक्ष मे जाने के पश्चात् आत्मा को फिर जन्म-मरण नही करना पडता क्योकि उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है।"

केशी श्रमण की बात सुनकर प्रदेशी ने अपना अगला प्रश्न किया—

"महाराज ! जब आप यह मानते है कि व्यक्ति के शुभ कर्म करने पर उसकी आत्मा स्वर्ग मे और अशुभ कर्म करने पर नरक मे जाती है, तब तो मेरे दादा जी जो कि धर्म-कर्म कुछ मानते ही नही थे और कभी परोपकारादि अच्छे कार्य नही करते थे जिन्हे आप पुण्य का कारण कहते है, वे नरक मे गये होगे ?"

"गये होगे क्या ? निश्चय ही नरक मे गये है।" केशी स्वामी ने अविलम्ब उत्तर दिया।

"पर अगर वे अपने बुरे कार्यों के कारण नरक मे गये है तो उन्होने कभी आकर मुझे क्यो नही कहा कि—

"तुम अन्याय, अनीति या अन्य पापकर्म मत करना अन्यथा मेरी तरह तुम्हे भी घोर दु ख उठाने पडेंगे। मेरे दादाजी का तो मैं बडा प्यारा पौत्र था। वैसे भी ससार मे देखा जाता है कि घर के बुजुर्ग, जिस कार्य से हानि होती है, उसे न करने की बच्चो को सीख अवश्य देते है, पर कभी दादाजी ने आकर मुझे नरक और उसके दु खो के विषय मे बताते हुए यह नही कहा। इसलिए मैं समझता हूँ कि वे नरक मे नही गये है और मेरे विचार मे नरक तो कही है ही नही।"

राजा की यह बात सुनकर केशी श्रमण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले— "राजन् ! तुम्हारी पटरानी सूर्यकाता है न ?"

"हाँ महाराज !" राजा कुछ गर्वपूर्वक बोला। वे सोच रहे थे कि मैं कितना प्रसिद्ध हूँ जो मेरी पटरानी तक के विषय मे सभी लोग, यहाँ तक कि सत-मुनि भी जानते हैं, पर वे यह नही जानते थे कि केशी स्वामी चार ज्ञान के धारक है और दूसरे व्यक्तियो के मन की बात भी जान लेते है। इसके अलावा सत निडर होते है और सत्य कहने मे कभी पीछे नही हटते, चाहे कोई उन्हे मरणान्तक कष्ट भी क्यो न दे ! ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योकि मृत्यु से उन्हे रच मात्र भी भय नही होता। वे मौत का केवल पुराना वस्त्र खोलकर नया

"मैं क्षत्रिय राजकुमार हूँ। कभी वचन-भग नही कर सकता। इच्छा हो तो एक बार परीक्षा करके देख लो।"

उस राक्षस को राजकुमार के दृढ वचन सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ और उसने सोचा—"क्या हर्ज है ? एक बार इसकी परीक्षा ही कर लूं। कदाचित यह लौटकर नही भी आया तो मेरी क्या हानि हो जाएगी ? इस वन मे लोग भूले-भटके आते ही रहते हैं। एक के बदले चार को मार डालूँगा।" यह विचार कर उसने राजकुमार को अपना काम करके लौट आने तक के लिए छोड दिया।

कुछ दिन बाद उसने देखा कि कुरु देश का वही राजकुमार उसे खोजता हुआ उसके सन्मुख आ खडा हुआ है। साथ ही नरभक्षी ने देखा कि राजकुमार का चेहरा उस दिन के समान उदास और दुःखी नही है, बल्कि फूल के समान खिला हुआ है और उस पर अपार तृप्ति तथा सतुष्टि के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आश्चर्य के साथ वह पूछ बैठा—

"राजकुमार ! मुझे तुम्हारे लौटने की तनिक भी आशा नही थी। क्या तुम्हे मृत्यु का भय नही है ? मैं तो हमेशा व्यक्तियो को मरते समय रोते-चीखते ही देखता हूँ।"

राजकुमार अपनी उसी प्रसन्नता और शातिपूर्ण स्निग्धता से बोला—"भाई सचमुच ही मैं मृत्यु से नही डरता, क्योकि अपने अब तक के जीवन मे मैंने कोई भी दुष्कृत्य नही किया है, जिसके कारण मरने पर परलोक मे किसी प्रकार का दुःख उठाना पडे। अब तक का सम्पूर्ण जीवन मैंने सयम एव सदाचार पूर्वक बिताया है, ऐसी स्थिति मे भला मरने से मैं क्यो डरूँगा ? मृत्यु का भय तो केवल उन्ही लोगो को होता है जो पाप-पुण्य एव परलोक मे विश्वास न रखने के कारण जीवन मे सदा पापाचरण करते हैं तथा क्रूरता के कारण भयकर से भयकर कृत्य करने मे भी पीछे नही हटते। परिणाम यही होता है कि उन व्यक्तियो को मरते समय अपने पापो के लिए पश्चात्ताप तो होता ही है, साथ ही यह भय बना रहता है कि जीवन भर किये हुए पापो के कारण पर-लोक मे मुझे न जाने कैसे घोर कष्ट भोगने पडेंगे।"

नर-हत्यारे ने जब राजकुमार के ये शब्द सुने तो उसकी आँखे खुल गईं और उसे महसूस होने लगा कि—'मैंने तो न जाने कितने लोगो की जानें ली हैं तथा असख्य पाप सचय कर लिये हैं। पर अब भी अगर नही चेता तो फिर मेरी परलोक मे क्या दशा होगी ?' यह विचार आते ही उसने राजकुमार को अनेकानेक धन्यवाद देते हुए उसे तो छोड ही दिया साथ ही अपने जीवन को

प्रदेशी राजा आवेशपूर्वक बोला—"कभी नहीं ... एक भी बात सुनूंगा और न ही उसे एक क्षण के लिए ...

केशी श्रमण ने राजा की यह बात सुनकर कहा— ... तुम्हारे दादाजी के साथ भी यही हुआ है। उन्होंने ... पाप किये हैं, उनके फलस्वरूप यमदूतों ने उन्हें ... तुम्हारे दादाजी बहुत चाहते हैं कि तुम्हें यहाँ आकर ... वहाँ मिलने वाले घोर दुःखो के विषय मे बताये तथा ... न करने की प्रेरणा दे, किन्तु उन्हे यमदूत उसी प्रकार ... तुम अपने अपराधी को छोडना नही चाहते और ... कैसे जा सकता है ? तो एक पाप करने वाले के लिए भी ... के विचार रखते हो और क्षणभर के लिए भी ... फिर तुम्हारे दादाजी ने तो जीवन भर मे असख्य पाप किये हैं ... तुम्ही बताओ कि यमदूत उन्हे तुम्हारे पास आने की इजाजत ... हैं ? चाहते हुए भी वे आ नही सकते, और नही आये हैं। ... है यह तुम कैसे मानते हो ?"

वस्तुत. केशी श्रमण का कथन यथार्थ है और उस पर ... विचार करना चाहिए। क्योकि स्वर्ग, नरक अथवा परलोक ... करने वालो की आज भी कमी नही है। अनेक व्यक्ति तो हम ... कर बैठते हैं—"महाराज ! कौन जाने परलोक है या नही और ... कही हैं, इस पर कैसे विश्वास किया जाय ? क्योकि कभी ... स्वर्ग से या नरक से आकर उनके विषय मे हमे नही बताते।" अच्छे-अच्छे साधको के मन मे भी कभी-कभी ऐसी भावना आय ... कि शास्त्रो मे जम्बू क्षेत्र आदि जिन अनेक स्थानो के वर्णन हैं ... हैं, और कौन जाने हैं या नही ?

पर बन्धुओ ! अभी कल ही मैंने आपको बताया था कि ... और पूर्व कर्म नही होते तो पचभूतो से निर्मित सभी जीव समान ... अमीर और कोई गरीब नही होता, कोई पाँचो इन्द्रियो से परिपूर्ण ... धनी और कोई अपग या अपाहिज नही होता तथा कोई पशु, पक्षी, ... या हाथी जैसा विशालकाय और कोई सुई की नोक के समान ... वाला नही होता। सबसे बडी बात तो यही है कि सभी एक ... होते। पशु आदि अन्य अनेकानेक प्रकार के प्राणी क्यो होते ?

जगत मे इन विभिन्नताओ को देखकर भी तो हम ...

भी वदल डाला तथा किये हुए पापो के लिए घोर पश्चात्ताप करते हुए तप एव त्यागमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया।

वन्धुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे कुकृत्य नही करते तथा पाप की छाया भी न पड जाय इस डर से अपने मन, वचन एव शरीर को पूर्णरूप से अपने कावू मे रखते हुए देव, गुरु एव धर्म पर श्रद्धा रखते हैं, वे परलोक से निर्भय रहते हुए वीतराग के वचनो का स्पष्ट एव सत्य रूप से स्वय तो पालन करते हैं, साथ ही औरो के समक्ष भी निडरता पूर्वक यथार्थ को प्रगट कर देते है। ऐसे साधु-पुरुष किसी से डरते नही और सत्य को प्रकट करने के लिए किमी का लिहाज भी नही करते। चाहे उनके सामने रक हो या राजा।

केशी श्रमण भी चार ज्ञान के धारक एव सयमनिष्ठ साधक थे। अत उन्होने राजा प्रदेशी को वोध देने के लिए उनकी रानी सूर्यकान्ता का उदाहरण देते हुए निर्भयतापूर्वक कहा—

"राजन्! अगर किसी व्यभिचारी व्यक्ति को तुम अपनी पटरानी के साथ कुशील सेवन करते हुए देख लो तो क्या करोगे?"

राजा सत की यह वात सुनकर एकदम चौंक पडा। क्या किसी देश के राजा से इस प्रकार की वात कहने का साधारण व्यक्ति मे साहस हो सकता है? नही, राजा के सामने इस प्रकार की वात कहना तो दूर, पूरी होने से पहले ही सभवत उसका सिर धड से अलग कर दिया जाता। पर, साधु को किसका डर? उन्हें प्रदेशी को समझाने के लिए इस प्रकार का उदाहरण देना आवश्यक था अत उन्होंने दिया और राजा ने सत से प्रभावित होते हुए यही उत्तर दिया—

"महाराज, उस व्यक्ति का और क्या किया जाएगा? उसे तो क्षणमात्र का भी विलम्ब किये विना मौत के घाट उतारा जाएगा।"

"पर भाई! अगर वह व्यभिचारी व्यक्ति तुमसे प्रार्थना करता हुआ कहे—'महाराज! मैं अपराधी हूँ और अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसके लिए सजा भोगने को तैयार हूँ। किन्तु आप मुझे एक वार छोड दीजिए ताकि मैं अपने सगे-सम्वन्धियो को सावधान करते हुए कह आऊँ कि तुम लोग मेरे जैसा दुष्कर्म मत करना क्योकि इसी के कारण मेरी फजीहत हुई है और इसका मुझे दड भोगना पडेगा।' तो क्या तुम उस नीच व्यक्ति को कुछ समय के लिए छोड दोगे?"

"मै क्षत्रिय राजकुमार हूँ। कभी वचन-भग नही कर सकता। इच्छा हो तो एक वार परीक्षा करके देख लो।"

उस राक्षस को राजकुमार के दृढ वचन सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ और उसने सोचा—"क्या हर्ज है ? एक वार इसकी परीक्षा ही कर लूँ। कदाचित यह लौटकर नही भी आया तो मेरी क्या हानि हो जाएगी ? इस वन मे लोग भूले-भटके आते ही रहते हैं। एक के वदले चार को मार डालूँगा।" यह विचार कर उसने राजकुमार को अपना काम करके लौट आने तक के लिए छोड दिया।

कुछ दिन वाद उसने देखा कि कुरु देश का वही राजकुमार उसे खोजता हुआ उसके सन्मुख आ खडा हुआ है। साथ ही नरभक्षी ने देखा कि राजकुमार का चेहरा उस दिन के समान उदास और दुखी नही है, वल्कि फूल के समान खिला हुआ है और उस पर अपार तृप्ति तथा सतुष्टि के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आश्चर्य के साथ वह पूछ बैठा—

"राजकुमार ! मुझे तुम्हारे लौटने की तनिक भी आशा नही थी। क्या तुम्हे मृत्यु का भय नही है ? मैं तो हमेशा व्यक्तियो को मरते समय रोते-चीखते ही देखता हूँ।"

राजकुमार अपनी उसी प्रसन्नता और शातिपूर्ण स्निग्धता से बोला—"भाई सचमुच ही मैं मृत्यु से नही डरता, क्योकि अपने अब तक के जीवन मे मैंने कोई भी दुष्कृत्य नही किया है, जिसके कारण मरने पर परलोक मे किसी प्रकार का दुख उठाना पडे। अव तक का सम्पूर्ण जीवन मैंने सयम एव सदाचार पूर्वक बिताया है, ऐसी स्थिति मे भला मरने से मैं क्यो डरूँगा ? मृत्यु का भय तो केवल उन्ही लोगो को होता है जो पाप-पुण्य एव परलोक मे विश्वास न रखने के कारण जीवन मे सदा पापाचरण करते है तथा क्रूरता के कारण भयकर से भयकर कृत्य करने मे भी पीछे नही हटते। परिणाम यही होता है कि उन व्यक्तियो को मरते समय अपने पापो के लिए पश्चात्ताप तो होता ही है, साथ ही यह भय बना रहता है कि जीवन भर किये हुए पापो के कारण पर-लोक मे मुझे न जाने कैसे घोर कष्ट भोगने पडेंगे।"

नर-हत्यारे ने जव राजकुमार के ये शब्द सुने तो उसकी आँखे खुल गईं और उसे महसूस होने लगा कि—'मैंने तो न जाने कितने लोगो की जानें ली हैं तथा असख्य पाप सचय कर लिये हैं। पर अव भी अगर नही चेता तो फिर मेरी परलोक मे क्या दशा होगी ?' यह विचार आते ही उसने राजकुमार को अनेकानेक धन्यवाद देते हुए उसे तो छोड ही दिया साथ ही अपने जीवन को

भी वदल डाला तथा किये हुए पापो के लिए घोर पश्चात्ताप करते हुए तप एव त्यागमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया ।

वन्धुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने जीवन मे कुकृत्य नही करते तथा पाप की छाया भी न पड जाय इस डर से अपने मन, वचन एव शरीर को पूर्णरूप से अपने कावू मे रखते हुए देव, गुरु एव धर्म पर श्रद्धा रखते हैं, वे परलोक से निर्भय रहते हुए वीतराग के वचनो का स्पष्ट एव सत्य रूप से स्वय तो पालन करते है, साथ ही औरो के समक्ष भी निडरता पूर्वक यथार्थ को प्रगट कर देते है । ऐसे साधु-पुरुष किसी से डरते नही और सत्य को प्रकट करने के लिए किमी का लिहाज भी नही करते । चाहे उनके सामने रक हो या राजा ।

केशी श्रमण भी चार ज्ञान के धारक एव सयमनिष्ठ साधक थे । अत उन्होंने राजा प्रदेशी को वोध देने के लिए उनकी रानी सूर्यकान्ता का उदाहरण देते हुए निर्भयतापूर्वक कहा—

"राजन् ! अगर किसी व्यभिचारी व्यक्ति को तुम अपनी पटरानी के साथ कुशील सेवन करते हुए देख लो तो क्या करोगे ?"

राजा सत की यह वात सुनकर एकदम चौंक पडा । क्या किसी देश के राजा से इस प्रकार की वात कहने का साधारण व्यक्ति मे साहस हो सकता है ? नही, राजा के सामने इस प्रकार की वात कहना तो दूर, पूरी होने से पहले ही सभवत उसका सिर धड से अलग कर दिया जाता । पर, साधु को किसका डर ? उन्हें प्रदेशी को समझाने के लिए इस प्रकार का उदाहरण देना आवश्यक था अत उन्होंने दिया और राजा ने सत से प्रभावित होते हुए यही उत्तर दिया—

"महाराज, उस व्यक्ति का और क्या किया जाएगा ? उसे तो क्षणमात्र का भी विलम्ब किये विना मौत के घाट उतारा जाएगा ।"

"पर भाई ! अगर वह व्यभिचारी व्यक्ति तुमसे प्रार्थना करता हुआ कहे—'महाराज ! मैं अपराधी हूँ और अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसके लिए सजा भोगने को तैयार हूँ । किन्तु आप मुझे एक वार छोट दीजिए ताकि मैं अपने सगे-सम्वन्धियो को सावधान करते हुए कह आऊँ कि तुम लोग मेरे जैसा दुष्कर्म मत करना क्योंकि इसी के कारण मेरी फजीहत हुई है और इसका मुझे दड भोगना पडेगा ।' तो क्या तुम उस नीच व्यक्ति को कुछ समय के लिए छोड दोगे ?"

प्रदेशी राजा आवेशपूर्वक बोला—"कभी नही महाराज ! मैं न तो उसकी एक भी बात सुनूंगा और न ही उसे एक क्षण के लिए भी कही जाने दूंगा।"

केशी श्रमण ने राजा की यह बात सुनकर गम्भीरतापूर्वक कहा—"राजन् ! तुम्हारे दादाजी के साथ भी यही हुआ है। उन्होने अपने जीवन मे जो घोर पाप किये है, उनके फलस्वरूप यमदूतो ने उन्हे अपने फन्दे मे जकड रखा है। तुम्हारे दादाजी बहुत चाहते है कि तुम्हे यहाँ आकर नरक के विषय मे और वहाँ मिलने वाले घोर दुःखो के विषय मे बताये तथा तुम्हे भी अशुभ कार्यो को न करने की प्रेरणा दे, किन्तु उन्हे यमदूत उसी प्रकार नही छोडते, जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को छोडना नही चाहते और कहते हो कि पापी को छोडा कैसे जा सकता है ? तो एक पाप करने वाले के लिए भी जब तुम इस प्रकार के विचार रखते हो और क्षणभर के लिए भी छुटकारा देना नही चाहते, फिर तुम्हारे दादाजी ने तो जीवन भर मे असख्य पाप किये है और इस कारण तुम्ही बताओ कि यमदूत उन्हे तुम्हारे पास आने की इजाजत कैसे दे सकते है ? चाहते हुए भी वे आ नही सकते, और नही आये है। इसलिए नरक नही है यह तुम कैसे मानते हो ?"

वस्तुत केशी श्रमण का कथन यथार्थ है और उस पर प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिए। क्योकि स्वर्ग, नरक अथवा परलोक के विषय मे सन्देह करने वालो की आज भी कमी नही है। अनेक व्यक्ति तो हम से आकर प्रश्न कर बैठते है—"महाराज ! कौन जाने परलोक है या नही और स्वर्ग या नरक कही है, इस पर कैसे विश्वास किया जाय ? क्योकि कभी भी तो कोई जीव स्वर्ग से या नरक से आकर उनके विषय मे हमे नही बताते।" और तो क्या अच्छे-अच्छे साधको के मन मे भी कभी-कभी ऐसी भावना आये बिना नही रहती कि शास्त्रो मे जम्बू क्षेत्र आदि जिन अनेक स्थानो के वर्णन है, वे क्षेत्र कहाँ है, और कौन जाने है या नही ?

पर बन्धुओ ! अभी कल ही मैंने आपको बताया था कि अगर पूर्व जन्म और पूर्व कर्म नही होते तो पचभूतो से निर्मित सभी जीव समान होते। कोई अमीर और कोई गरीब नही होता, कोई पाँचो इन्द्रियो से परिपूर्ण सौन्दर्य का धनी और कोई अपग या अपाहिज नही होता तथा कोई पशु, पक्षी, कीट, पतग या हाथी जैसा विशालकाय और कोई सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला नही होता। सबसे बडी बात तो यही है कि सभी एक सरीखे मनुष्य ही होते। पशु आदि अन्य अनेकानेक प्रकार के प्राणी क्यो होते ?

जगत मे इन विभिन्नताओ को देखकर भी तो हमे विश्वास करना चाहिए

कि शुभकर्मों के कारण ही आत्मा इस लोक मे मनुष्य शरीर, पाँचो इन्द्रियाँ परिपूर्ण, उच्च कुल, उच्च गोत्र एव आर्यक्षेत्र मे जन्म लेती है। अत इस जन्म मे भी उत्तम कर्म करके पुण्य सचय करना चाहिए। अगर हम ऐसा नही करते है तो निश्चय ही परलोक मे हमारी आत्मा को अशुभ कर्मों के बोझ को ही लादे हुए जाना पडेगा और उसके परिणामस्वरूप नाना दु खो का अनुभव करना होगा।

आशय यही है कि मनुष्य गति पाकर व्यक्ति को उसे निरर्थक नही जाने देना चाहिए अन्यथा यह सुन्दर सुयोग पुन कब मिलेगा और मिलेगा भी या नही, कुछ कहा नही जा सकता।

एक कवि ने दर्शन या श्रद्धारहित जीव को सम्बोधित करते हुए कहा है—

> हीरे जैसी जिदगानी खो रहा है क्यो ?
> बुरे पाप के बीज जो है, वो रहा है क्यो ?

कवि ने कहा है—"अरे भाई ! इस हीरे के सदृश बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ ही क्यो गँवा रहा है ? श्रद्धा के अभाव मे तू सदा अशुभ एव कुकर्म ही करता रहता है। पर, जानता नही है कि ये सब कुकर्म पाप के जहरीले बीज है जो पनप जाने पर आत्मा को अनन्तकाल तक कष्ट पहुँचाते रहेगे। सर्प या विच्छू का जहर तो यदि अधिक से अधिक हानि पहुँचाए तो केवल एक ही बार के जीवन मे कष्ट पहुँचाता है या उसे नष्ट भी कर सकता है। किन्तु पापो का जहर तो आत्मा को न जाने कितने जन्मो तक कष्ट पहुँचाता रहता है। इसलिए पापो के जहर को सर्प आदि के जहर से भी महा भयकर समझ कर उनसे दूर रहना चाहिए।

आज व्यक्ति को एक माला भी प्रतिदिन फेरने के लिये कहा जाय तो वह कह देता है—'मुझे समय नही मिलता।' और इतना ही नही, वह बडी निश्चिततापूर्वक कहता है—"मुझसे धर्म नही होता है, पर मै पाप भी नही करता हूँ।"

पापकर्मों का आगमन

ऐसे व्यक्तियो से पूछा जाय कि पाप क्या किसी पचेन्द्रिय की हत्या कर देने को ही कहते है ? अरे भाई ! पाप कर्म तो रज-कण के समान इतनी सूक्ष्मता से आकर आत्मा मे चिपकते जाते है, जिनका अदाजा भी नही लगाया जा सकता। मन की भावनाओ का जिस प्रकार क्षण-क्षण मे परिवर्तन होता है, उसी प्रकार आस्रव भी होता चला जाता है। तनिक-सी किसी के प्रति ईर्ष्या

या द्वेष की भावना हुई, कर्म बँध गये, थोडा भी अपने धन-जन का अहकार मन मे आया कि कर्म बँधते चले, व्यापार मे थोडा भी झूठ बोला, धोखा दिया या छोटी-सी वस्तु के लिए बेईमानी की और पाप-कर्म चुपके से आ गये जिनका आपको पता भी नही चला। पता चले भी कैसे ? वे सूचना देकर या ढोल बजाकर तो आते नही, वे तो चोरो की अपेक्षा भी अधिक सावधानीपूर्वक और अदृश्य रूप से आते हैं तथा आत्मा पर चढते चले जाते है। इस पर भी भोले व्यक्ति उनके आगमन से अनजान रहकर कहते हैं—'हम पाप नही करते।'

बधुओ, आप जानते हैं कि बालक विष की पहचान नही कर सकता अत अगर उसे विष की डली दे दी जाय और वह अपनी अज्ञानता के कारण उसे खा ले, तो क्या वह मरेगा नही ? अवश्य मरेगा। इसी प्रकार पापो की बारीकी को न समझने वाला व्यक्ति उन्हे आत्मा पर आच्छादित होते हुए अपनी अज्ञानता के कारण न देख पाए, तो भी उन सबका फल तो भोगना ही पडेगा। इसीलिये आवश्यक है कि पुण्य और पाप के भेद को समझा जाय तथा पापो का सूक्ष्मता से ज्ञान करके उनसे बचा जाय। पापो के उपार्जन मे अज्ञानपने का बहाना नही चल सकता, जिस प्रकार अज्ञानपने से खाया विष मृत्यु को नही रोक पाता। आगे कहा है—

तूने कितनी चीनी खाई, कितनी खा गया मिठाई,
फिर भी जीभ से तू भाई, जहर बिलो रहा है क्यो ?

पद्य मे बडा मनोरजक दृष्टात दिया है। कहा है—'तूने जीवन मे कुछ सेर या कुछ मन ही नही वरन् अब तक तो न जाने कितनी शक्कर और मिठाई खाई होगी, पर क्या इतना मीठा खाने पर भी तेरी जबान पर थोडी भी मिठास नही आई ? जब भी बोलता है, मानो विष ही उगलता है।'

जबान का यही जहर तो नाना प्रकार के झगडो का कारण बनता है तथा भयानक सघर्षों को जन्म देता है। इसलिए सभी मत-मतान्तर और धर्म-ग्रन्थ मधुर भाषण पर जोर देते हे तथा कटु वचनो के द्वारा किसी भी प्राणी का मन दुखाने को पाप मानते हैं। जो विवेकी और बुद्धिमान पुरुष होता है वह प्रथम तो अनावश्यक वचनो का प्रयोग ही नही करता, आवश्यक होने पर ही बोलता है, किन्तु जब भी बोलता है ऐसी वाणी का प्रयोग करता है जिसे सुन-कर श्रोता को तनिक भी खेद न हो, अपमान महसूस न हो और तिरस्कार का भी आभास न हो सके।

वाणी एक प्रकार की कसौटी भी है, जिस पर कसे हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व

की, महानता की तथा कुलीनता और अकुलीनता की परीक्षा होती है। एक श्लोक मे कहा गया है—

न जारजातस्य ललाटश्रृंगम्,
कुल प्रसूते न च पाणिपद्मम्।
यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाणं,
तदा तदा तस्य कुलप्रमाणम् ॥

अर्थात्—जो अकुलीन व्यक्ति होता है उसके सिर पर सीग नही होते और उच्चकुलीन के हाथ मे कमल-पुष्प नही रहते। यानी उत्तम और अधम कुल के व्यक्तियो की आकृति मे तो तनिक भी अन्तर नही होता, किन्तु जव वे वोलते है तव पता चल जाता है कि इनमे से कौन उच्च कुल मे जन्म लेने वाला सस्कारशील व्यक्ति है और कौन निम्न कुल मे उत्पन्न होने वाला मूर्ख।

इस पहचान के अलावा और भी जो सवसे वडी वात है, वह यह है कि मधुर वोलने वाले के सभी मित्र एव हितैषी वन जाते हैं तथा कटु-भाषी निरर्थक ही अनेको को अपना शत्रु वना लेता है।

उर्दू के एक कवि ने भी यही कहा है—

गैर अपने होगे शीरी हो गर अपनी जवा।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी जवा ॥

तो वधुओ, इसीलिये कवि कटु-भाषी व्यक्ति की भर्त्सना करते हुए कहता है कि—"तूने जीवन मे अव तक न जाने कितनी चीनी और मिठाइयाँ अपनी जवान पर रखकर उदर मे पहुँचाई है, पर फिर भी इसमे मिठास न लाकर दु खदायी एव जहरीले शब्दो का प्रयोग क्यो करता है ?"

अच्छी और वुरी भी

कहते है कि हकीम लुकमान वडा विद्वान एव आध्यात्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। एक वार वह एक राजा का इलाज कर रहा था। राजा स्वय भी वडा सरल था। अत वह लुकमान से दवा पी लेता था और कभी-कभी आध्यात्मिक विषयो पर वार्तालाप भी किया करता था।

एक दिन राजा ने लुकमान से कौतूहलवश पूछ लिया—"हकीम जी! हमारे शरीर मे सवसे वुरा और सवसे अच्छा अग कौन-सा है ?"

लुकमान ने छूटते ही उत्तर दिया—"जिह्वा।"

राजा हँस पडे और बोले—"वाह ! जीभ से आपकी औषधि खाता हूँ, इसीलिये वह अच्छी है और न खाऊँ तो बुरी हो जाएगी ?"

लुकमान भी मुस्कराते हुए बोले—"नही महाराज ! औषधि जीभ पर रखी जाती है इसलिए ही वह अच्छी और बुरी नही है। अपितु श्रेष्ठ इसलिये है कि इसके द्वारा हम ससार के व्यक्तियो को सान्त्वना प्रदान कर सकते हैं, तथा सत्य रूपी अमृत का पान भी करा सकते है, और बुरी वह तब हो जाती है, जबकि इसके द्वारा सुनने वाले व्यक्तियो का हृदय दुखता है या कि सत्य एव मिथ्या का विष लोगो मे फैलाया जाता है।

किसी ने ठीक ही कहा है—

जिह्वा मे अमृत बसे, विष भी तिसके पास।
इक बोले तो लाख ले, एके लाख-विनास ॥

वस्तुत वाणी से ही मनुष्य सम्मान और प्रेम का पात्र बनता है तथा वाणी से ही अपमान एव तिरस्कार का भाजन बन जाता है।

अब हम कविता के आगे का पद्य लेते है, वह इस प्रकार है—

तूने मनो दूध पी डाला, तूने दही मनो खा डाला,
फिर भी मन तेरा मटियाला, काला हो रहा है क्यो ?

कवि का कथन है—"अरे भाई तूने मनो शक्कर और मिठाई खाई पर तेरी जबान पर जिस प्रकार तनिक भी मिठास नही आई, उसी प्रकार मनो दूध और दही का सेवन करने पर भी तेरा मन उजला नही हो पाया ऐसा क्यो ?"

वास्तव मे ही जिसके हृदय मे कषायभाव बने रहते है, उसका हृदय काला रहता है। जब तक व्यक्ति का मन मलिन भावनाओ से भरा है, नाना प्रकार की कामनाओ से व्याकुल है तथा लालसाओ की अपूर्णता से पीडित है, वह कभी भी सवर या साधना की शुभ्रता को ग्रहण नही कर पाता। ऐसे व्यक्ति के मन मे क्षुद्र से क्षुद्र घटना भी क्रोध का सचार कर देती है, अत्यधिक धन प्राप्ति के पश्चात् भी लोभ का भूत घर किये रहता है, अपने धन, जन, विद्या, बुद्धि एव प्रभुत्व का मद भरा रहता है तथा पराई उन्नति देखकर ईर्ष्या से काला हो जाता है। परिणाम यह होता है कि आत्मा की उज्ज्वलता एव पवित्रता नष्ट हो जाती है तथा परलोक महान् दुखदायी बन जाता है।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे कषायो के विषय मे कहा भी है—

अहे वयइ कोहेण, माणेण अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय ॥

—अध्ययन ६, गाथा ५४

अर्थात्—क्रोध से आत्मा नीचे गिरती है। मान से अधम गति को प्राप्त करती है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और लोभ से तो इहलोक और परलोक दोनो मे ही कष्टो का भय पैदा हो जाता है।

इसीलिये कवि ने कहा है कि मनो दूध और दही को ग्रहण करके भी तेरे मन मे उनकी उज्ज्वलता क्यो नही आई ? अर्थात् मन कषायो से काला ही क्यो बना रह गया, उसमे वैराग्य एव आध्यात्मिकता की पवित्रता और शुभ्रता क्यो नही आई ? और इस काले हृदय को लेकर भला तू कैसे अपनी आत्मा का भला कर सकेगा या औरो का भी कुछ उपकार करने योग्य बनेगा ? आगे कहा है—

तू ने घी भी काफी खाया, लेकिन दिल चिकना न बनाया,
कर-कर हिंसा पाप कमाया, अब फिर रो रहा है क्यो ?

हमारे धर्म मे अहिंसा का महत्त्व अन्य सभी धर्म-क्रियाओ से सर्वोपरि बताया गया है। आप लोग सदा नारे भी लगाते है—**'अहिंसा परमो धर्म ।'** लेकिन कितने व्यक्ति अहिंसा को जीवन मे उतारते है तथा उसका पालन करते है ? बहुत कम।

कवि ने इसीलिये मानव से कहा है—"तूने जीवन भर घी खाया है जो कि अति स्वादिष्ट और चिकना होता है। किन्तु उसे खाकर भी तेरा दिल चिकना यानी नरम क्यो नही हो पाया ?" हम जानते है कि शरीर की ऊपरी त्वचा अगर रूखी हो तो उसे नरम करने के लिये हथेलियो मे थोडा सा घी लेकर चमडी पर मल देते है और उससे चमडी बहुत नरम हो जाती है। पर उदर मे मनो घी खा डालने पर भी हृदय रूखा क्यो रह जाता है ?

रूखे और हिंसक स्वभाव वाले व्यक्ति के दिल मे अन्य प्राणियो के प्रति तनिक भी दया, करुणा या ममता की भावना नही रहती। परिणाम यह होता है कि वह शरीर से हिंसा करता है, उससे अगर बच जाता है तो वचन से कटु शब्दो का प्रयोग करके औरो का हृदय तोडता है तथा उसका मौका न आए तो मन से ही अन्य व्यक्तियो का अशुभ चिंतन करता हुआ हिंसा का भागी बनता है।

राजा प्रदेशी का दृष्टात आपके सामने रखा जा रहा है कि वह केवल आत्मा को देखने के लिए ही प्राणियो की हत्या करता रहता था तथा निस्सकोच जीवो का वध किया करता था। अगर उसके हृदय मे प्रेम, करुणा एव दया की भावना होती तो वह खेल-खेल मे ही निरपराध प्राणियो को इस प्रकार नही मार सकता था, जिस प्रकार अबोध बालक मिट्टी के खिलौनो को सहज ही तोड दिया करते है।

आज की अधिकाश जनता भी इस लोलुपता के कारण अडे, मछली एव अन्य पशुओ के मास को सहज ही उदरस्थ कर जाती है। उन व्यक्तियो के दिलो मे अन्य प्राणियो के दु ख और दर्द का अनुभव करने की भावना ही नही आती। वे कभी नही सोचते कि हमारे इस भोज्य-पदार्थ के लिए किस प्रकार निरीह प्राणियो को लाख बिलबिलाने पर भी जबरन मौत के घाट उतारा जाता है। तारीफ तो यह है कि वे ही व्यक्ति अगर पैर मे काँटा चुभ जाय या चाकू-सरौते से उँगली कट जाय तो बडे कष्ट का अनुभव करते है, पर यह विचार नही कर सकते कि निरपराध प्राणियो का गला कटने पर उन्हे कितनी वेदना होती होगी। जो ऐसा विचार करते है, वे स्वप्न मे भी मास-भक्षण की कामना नही करते।

जार्ज बर्नार्ड शॉ और पार्टी

कहते है कि एक बार महान् साहित्यकार 'बर्नार्ड शॉ' किसी विशाल पार्टी मे निमन्त्रित किये गये। समय पर वे वहाँ पहुँचे, किन्तु जब उनके सामने खाद्य पदार्थों की प्लेटे आई तो वे स्तब्ध रह गये और उन्होने अपना हाथ खाने के लिए बढाया ही नही।

खाना प्रारम्भ हुआ और सभी व्यक्तियो ने बडे चाव से हाथ मारना शुरू किया। किन्तु जब कुछ लोगो की दृष्टि बर्नार्ड शॉ पर पडी और उन्होने देखा कि वे चुपचाप बैठे हुए है, खाद्य-पदार्थों की ओर नजर भी नही डाल रहे है तो उनसे बडे सम्मानपूर्वक पूछा गया—

"यह क्या ? आप तो भोजन कर ही नही रहे है इसका क्या कारण है ? परोसने वालो से कोई भूल हो गई है ?"

दु खी 'शॉ' ने बडी कठिनाई से उत्तर दिया—"परोसने वालो से तो कोई भूल नही हुई है, पर मैं खा इसलिए नही रहा हूँ कि मेरा तो पेट है, कब्रिस्तान नही।"

लोग समझ गये कि बर्नार्ड शॉ माँस से निर्मित पदार्थों को देखकर दु खी हो

रहे हैं। पार्टी मे उपस्थित सभी अन्य लोगो को अपने मास-भक्षण पर बडी लज्जा महसूस हुई।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी को जो कि स्वय सुख का अनुभव करना चाहता है, किसी भी अन्य प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख नही देना चाहिए। न उसे किसी की हत्या करनी चाहिये, न किसी को बधन मे रखना चाहिये, न मार-पीट करनी चाहिये और न ही कटु शब्दो के द्वारा अथवा मन मे भी किसी का अहित न करना या सोचना चाहिये। दूसरे के मन को दुखाने वाली प्रत्येक क्रिया हिंसा है अत उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। धर्मशास्त्र मे कहा भी है—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया,

सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,

न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा,

न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा

न उद्दवेयव्वा।

इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो

आरियवयणमेय।

—आचाराग सूत्र १।४।२

अर्थात्—किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिये, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिये, न पराधीन बनाना चाहिये, न किसी प्रकार का परिताप देना चाहिये और न ही किसी प्रकार का उपद्रव करके उन्हे सताना चाहिये।

ऐसे अहिंसा धर्म मे किसी तरह का दोष नही है, यह सदा ध्यान मे रखना चाहिये। अहिंसा एक महान् और आर्य सिद्धान्त है।

इसके अलावा ध्यान मे रखने की बात तो यह है कि अन्य भी कोई धर्म हिंसा की प्रेरणा नही देता अपितु समस्त धर्म अहिंसा पर ही जोर देते हैं। हिन्दू धर्म तो हिंसा को महा पाप मानते ही हैं, इस्लाम धर्म का कुरान भी हिंसा को त्याज्य बताते हुए कहता है—

वल्लाहो ला मुहिब्बुल जालमीन।

—सूरत आल इमरान, ६-३

अलाइन्नज्जालमीन फी अजाबिन मुकीम।

—सूरत सूरा,

देखो बन्धुओ, जिन मुसलमानो को आप हिंसा-प्रिय कहते है और जिनके धर्म को नफरत की निगाह से देखते है उन्ही का धर्मग्रन्थ 'कुरान' कहता है—

"अल्लाह जालिमो से कभी प्रेम नही कर सकता। याद रखो कि अत्याचारी व्यक्ति सदा कष्ट सहन करेगे।"

अत्याचार की भर्त्सना करते हुए यथार्थ-स्पष्ट और सच्चे शब्दो मे मुस्लिम धर्म भी हिंसा और हिंसक को ताडित करते हुए यही कह रहा है कि अत्याचारी सदा कष्ट सहन करेंगे, यानी उनकी आत्मा केवल इस लोक या इस जन्म मे ही नही, वरन् परलोक मे भी अनेक जन्मो तक हिंसा के महापापो का परिणाम भोगेगी और घोर कष्टो का अनुभव करेगी।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति को मन, वचन एव शरीर, इन तीनो के द्वारा हिंसा से बचना चाहिए। इन तीनो योगो के द्वारा हुई हिंसा भी पाप है और अविवेक या प्रमादवश हो जाने वाली हिंसा भी पाप कर्मों का बधन अवश्य करती है। अत. मुमुक्षु को बडी सावधानी एव बारीकी से हिंसा के कार्यों से, भावनाओ से और प्रमाद से दूर रहने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा भले ही व्यक्ति अपने मन को सतुष्ट करे कि मैंने हिंसा नही की है, पर हिंसा का पाप उसकी आत्मा को उसके अनजान मे भी आच्छादित कर लेगा।

इस विषय मे दो गाथाएँ है। उन्हे आपके सामने रखता हूँ —

जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोग पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जते नियमा, तेंसि सो हिसओ होइ॥
जे वि न वावज्जतो नियमा तेंसिपि हिसओ सोउ।
सवज्जो उपयोगेण सव्वभावेण सो जम्हा॥

—ओघनिर्युक्ति ७५२—५३

अर्थात्—जो प्रमत्त या प्रमादी व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा मे जो प्राणी मरते है उन सबका हिंसक तो वह व्यक्ति होता ही है, किन्तु जो प्राणी नही मरते है उनका हिंसक भी वह प्रमत्त व्यक्ति होता है क्योकि वह अन्दर मे तो सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सावद्य है—पापात्मा है।

कहने का आशय यही है कि प्रत्येक पाप और यहा जैसा कि हम कह रहे है हिंसा का पाप भी बडे सूक्ष्म तरीके से आत्मा को जकडता है। अत बडी सावधानी से इससे दूर रहना चाहिए तथा अपने मन, वचन, कर्म एव प्रमाद

आदि के रहस्यों को पूर्णतया समझ कर पाप-मुक्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

कवि ने अंत में कहा है —

> तज दे बातों की सफाई, तज दे हाथों की सफाई,
> कर ले अंदर की सफाई, धन मुनि सो रहा है क्यों?

धन मुनि कह रहे हैं—"भाई! सौ बात की बात सिर्फ एक ही है कि तू अपने अंतर की सफाई कर ले और वह तभी हो सकेगी जबकि अपनी बातों की और हाथों की सफाई को छोड़ देगा।"

अनेक व्यक्ति अपने आपको धर्मपरायण साबित करने के लिए नाना प्रकार के तर्क-वितर्क लोगों के सामने रखते हैं। पर वे यह नहीं सोचते कि बातों के भुलावे में लोग भले ही आ जायें पर कर्म कभी नहीं आते। दर्पण के समक्ष खड़े होने पर व्यक्ति की आकृति पूर्णतया स्पष्ट दिखाई दे जाती है और उसके लिए फिर किसी भी प्रकार के तर्क करने की आवश्यकता नहीं रहती कि—"मेरा चेहरा ऐसा नहीं वैसा है या आँख-नाक इस तरह के नहीं अपितु कुछ और तरह के हैं।"

इसी प्रकार पाप भी जब मन, वचन, शरीर आदि से होते है, तब दर्पण में प्रतिभासित चेहरे के समान ठीक वैसे ही कर्म-बंधन होने चले जाते हैं। उनके विषय में किसी के लाख प्रकार से समझाने पर और कुतर्क करने पर भी कोई लाभ नहीं होता। भले ही मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने आपको समझा ले और दूसरों को भी अपनी लच्छेदार बातों से भुलावे में डाल दे, किन्तु कर्म किसी के बहकाने में नहीं आते और अपना कार्य किये जाते हैं। इसलिए जबान से सफाई देने में कोई लाभ नहीं है। अतः इस निरर्थक कार्य का त्याग कर देना चाहिए।

दूसरी बात हाथ की सफाई की है। लोग व्यापार करते हैं और कोई वस्तु तौलते समय तखड़ी (तराजू) की डंडी को हाथ के इशारे से इधर-उधर करते हुए चीज कम तोल देते हैं। कपड़े के व्यापारी गज से कपड़े का नाप करते समय जल्दी-जल्दी हाथ चलाकर दो-चार इंच कपड़ा कम दे देते हैं।

किन्तु इससे क्या लाभ होता है? खरीददार की आँखों में भले ही हाथ की सफाई से चतुर व्यापारी धूल झोंक दे, किन्तु कर्मों की पैनी आँखों से वह नहीं बच सकता। वे तो व्यापारी के बिना जाने ही पाप के खाते में ज्यों की त्यों दर्ज हो जाएँगे।

इसलिए इन सब धोखा देने वाली सफाइयो को छोडकर केवल अन्तर की सफाई का ध्यान रखो, यही कवि ने प्रेरणा दी है। साथ ही यह भी कहा है कि प्रमाद रूपी निद्रा मे भी मत पडे रहो और सजग रहकर इस क्षणिक किन्तु दुर्लभ जीवन का लाभ उठाने के लिए आत्म साधना करो। ऐसा करने पर ही अपने मुक्ति जैसे उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकोगे। अन्यथा लोगो को भुलावे मे डाल कर इस लोक मे झूठे यश और सुख की प्राप्ति कर भी लोगे तो क्या हुआ ? आखिर तो परलोक मे जाना पडेगा और वहाँ फिर तुम्हारी बातो की या हाथो की सफाई क्या काम आएगी ?

तो बधुओ, प्रसगवश एक कविता के आधार पर कुछ आत्मोन्नति की बाते आपके सामने रखी है। अब कल बताया जाएगा कि राजा प्रदेशी और केशी श्रमण मे आगे किस प्रकार का प्रश्नोत्तर होगा ? ओम् शाति।

O

६

सच्ची गवाही किसकी ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एव बहनो !

हमारा विषय 'दर्शन परिषह' चल रहा है। इस परिषह पर विजय प्राप्त करने के लिए भगवान ने आदेश दिया है कि कोई तपस्वी अपनी तपश्चर्या के फलस्वरूप अगर किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नही कर पाए, तो भी मन मे अश्रद्धा लाते हुए यह चिन्तन कभी न करे कि "मैंने इतने काल तक व्यर्थ तपस्या करके धोखा खाया है और परलोक मे सुख-प्राप्ति होगी ऐसा मानकर शरीर को कष्ट दिया है। परलोक तो है ही नही अत मेरा त्याग और तप निरर्थक गया।"

दिखाई न देने से किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मिटता

संस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है —

अतिदूरात् सानिध्यात् इन्द्रियाघात मनोऽनवस्थानात्।

कहते है कि चार कारणो से वस्तु दिखाई नही भी देती है, किन्तु वह लोप नही हो जाती यानी उसके विषय मे यह कदापि नही कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व है ही नही।

श्लोक के इस चरण मे बताया गया है कि वस्तु के दिखाई न देने का प्रथम कारण है उसका बहुत दूर होना। यह कोई बडी गूढ या गभीर बात नही है। सहज ही सबकी समझ मे आ सकती है कि दूर होने पर हमे वस्तु नही दिखती। उदाहरणस्वरूप हिमालय पर्वत की चोटी क्या आपको दिखाई देती है ? नही, इसी प्रकार समुद्र के एक किनारे पर खडे होकर भी आप उसका दूसरा किनारा नही देख पाते। तो क्या हिमालय की चोटी या समुद्र का दूसरा छोर है ही नही ? अवश्य है। कारण दिखाई न देने का केवल यही है कि वह आपकी दृष्टि से बहुत दूर है अत दिखाई नही दे पाते।

दूसरा कारण बताया गया है —वस्तु का अत्यधिक समीप होने के कारण भी उसका दिखाई न देना। इसका अनुभव भी आप सहज ही कर सकते हैं जैसे—अपनी ही आँखो का न दिखना या उसमे डाले हुए अजन का दिखाई न देना। आप कहेगे 'दर्पण मे हम अपनी आँखें देख सकते हैं तथा सुरमा या काजल भी दिखाई देता है।' पर दर्पण तो दूर ही हुआ न! मैं अति सान्निध्य की बात श्लोक के अनुसार कह रहा हूँ। दर्पण की अपेक्षा अधिक समीप तो आपकी अपनी आँखे और उसमे डाला हुआ अजन होता है, इसीलिए आप उसे नही देख सकते।

तीसरा कारण इन्द्रियाघात बताया गया है। यथा—एक व्यक्ति अन्धा है और उसे इस ससार की कोई भी वस्तु दिखाई नही देती। वह आपको या हमको भी नही देख पाता, तो क्या आप और हम नही हैं? हैं तो निश्चय ही, पर अपनी चक्षु इन्द्रिय मे खराबी या दृष्टि न होने के कारण वह हमे नही देख सकता। इसी प्रकार बहरा व्यक्ति हमारी और आपकी बात को या कर्ण-प्रिय मधुर गीतो को भी नही सुनता। किन्तु इसके कारण यह नही कहा जा सकता कि शब्द कोई चीज ही नही है। कारण उसके न सुन पाने का श्रोत्रेन्द्रिय की खराबी है।

अब चौथा कारण आता है मन की चचलता या उसकी उपेक्षा का। अगर मन चचल होता है तो आप सामने रखी हुई वस्तु को भी ठोकर मारकर तेजी से चले जाते हैं। ऐसा क्यो? इसलिए कि आपका मन अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए व्यग्र होता है तथा मन उसी ओर लगा रहता है। इसके अलावा व्यक्ति अन्यमनस्कता के कारण भी सामने पडी हुई चीजो को या सामने बैठे हुए व्यक्तियो को नही देख पाता। हमे स्वय भी इसका अनुभव है कि मन की स्थिति ठीक न होने पर यह मालूम होते हुए भी कि अमुक पृष्ठ पर अमुक श्लोक है, हमे वह नही मिलता। पर श्लोक वहाँ है ही नही क्या यह सभव हो सकता है? नही। श्लोक के न मिलने का कारण हमारे मन की खराब स्थिति होती है, श्लोक का न होना नही।

इसलिए परलोक दिखाई न देने पर भी वह नही है, ऐसा कहना अनुचित है। अनन्त ज्ञानी तीर्थंकरो ने जो कुछ कहा है वह यथार्थ है ऐसी श्रद्धा हमारे मन मे होनी चाहिए।

सच्ची गवाही किसकी?

आप लोग प्राय कचहरी-अदालतो मे जाते है और वहाँ पर प्रत्येक मामले मे गवाही देते हुए लोगो को देखते हैं। भला बताइये कि गवाहों की वहाँ क्या

आवश्यकता है ? यही न, कि जिन लोगो ने अपनी आँखो से घटनास्थल पर हुई घटना को देखा है उसकी साक्षी ये गवाह देते हैं। न्यायाधीश किसी हत्यारे को हत्या करते हुए नही देखता, किन्तु बाजार, सड़क या घर मे जहाँ हत्या हुई हो वहाँ मौजूद रहने वाला व्यक्ति अगर साक्षी देता है कि मैंने इस व्यक्ति को अमुक की हत्या करते देखा है तो विश्वास होने पर मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश हत्यारे को सजा दे देता है। वह यह नही कहता कि मैंने इसे हत्या करते स्वय नही देखा तो हत्या इसने की ही नही या हत्या हुई ही नही।

तो बन्धुओ ! गम्भीरतापूर्वक विचार करने की बात है कि आप लोग और न्यायाधीश आदि सभी व्यक्ति इन व्यक्तियो की गवाही या इनके कथन को तो सत्य मान लेते हैं जो मन मे ईर्ष्या होने के कारण या शत्रुता होने के कारण और उनसे भी बढकर कुछ रुपयो की प्राप्ति के लोभ के कारण झूठी गवाही भी दे देते हैं, पर जो वीतराग एव अनन्तज्ञान के धारक कह गये हैं उनकी बातो को सत्य मानना नही चाहते। आश्चर्य की बात है कि तुच्छ स्वार्थ के लिए जो धर्म की, धर्म-ग्रन्थो की और भगवान तक की सौगन्ध खा जाते हैं, उनकी बात को तो लोग झूठी होने पर भी सत्य समझते हैं किन्तु जिन केवलज्ञान के धारी और सम्पूर्ण राग, द्वेष, लोभ एव स्वार्थ से रहित तथा ससार के प्रत्येक प्राणी का हित चाहने वाले वीतराग प्रभु की पाप-पुण्य, लोक-परलोक एव आत्मा-परमात्मा आदि के लिए दी गई साक्षी या गवाही है उसे असत्य अथवा काल्पनिक मानते हैं। ऐसा क्यो ? इसीलिए कि हमारे ज्ञान-चक्षुओ पर अज्ञान के परदे पड़े हैं तथा विवेक पर मिथ्यात्व का आवरण चढा हुआ है। हमारी आत्माएँ अभी अशुभ कर्मो से जकडी हुई है और उनका ससार-परिभ्रमण बहुत बाकी है।

जिनका ससार कम होता है वे तो घोर पाप मे डूबे हुए और महापातकी होने पर भी उद्बोधन पाते ही चेत जाते हैं, सजग हो जाते है और अविलम्ब कर्मो का क्षय करने मे जुट जाते हैं। अगुलिमाल एव अर्जुनमाली जैसे हत्यारे भी थोडी-सी सत्सगति से बदल गये और जी-जान से ससार-मुक्ति के प्रयत्न मे जुट गये। किन्तु आप लोग जीवन भर बडे-बडे सन्तो के उपदेश सुन लेते हैं पर आध्यात्मिक उन्नति के दृष्टिकोण से वही खडे रहते हैं, जहाँ बरसो पहले थे। उपर से कहते हैं परलोक कहाँ है ? किसने देखा है ? और देखा है तो कभी आकर बताया क्यो नही ?

अरे भाई ! तीर्थंकर महापुरुष जो कह गये है वह आपके लिए बताना नही तो और क्या है ? वे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, पर उनकी बातो को भी आप

नही मानते तो फिर और किसकी मानेगे ? असली बात तो केवल यही है कि आपको धर्माचरण, तप, त्याग एव साधना आदि करके शरीर को कष्ट न देने का बहाना चाहिए और वह बहाना आप अब तक तो पकडे हुए है ही, सम्भवत जीवन भर के लिए भी पकडे रहेगे । पर इसमे आपका क्या लाभ और कितनी हानि होगी यह आप ही विचार करे तो ठीक है क्योकि सन्त तो आपको उप-देश दे-देकर प्रयत्न कर चुके है ।

जिस प्रदेशी राजा का प्रसग आपके सामने चल रहा है, वह भी हठाग्रही था, नास्तिक था और आत्मा के अस्तित्व को तथा परलोक को कतई नही मानता था । किन्तु पहली बार ही केशी श्रमण का उपदेश सुनकर और कुछ प्रश्नोत्तर करके उसने अपने आपको अविलम्ब बदल लिया था तथा आत्म-साधन मे जुट गया था ।

हम अभी उसी विषय को लेकर चल रहे है कि उसने केशी स्वामी से किस प्रकार प्रश्न पूछे और केशी स्वामी किस प्रकार उनका समाधान कर रहे है ? राजा प्रदेशी ने नरक को न मानते हुए प्रश्न किया था कि —"मेरे दादाजी अगर नरक मे गये है तो उन्होने कभी वहाँ से आकर मुझे क्यो नही समझाया कि तुम ऐसे पाप-कार्य मत करना जैसे मैने किये है और जिनका फल मै घोर दुखो के रूप मे भोग रहा हूँ ।"

केशी स्वामी ने इस प्रश्न के उत्तर मे प्रदेशी से कहा था —"जिस प्रकार तुम अपनी पटरानी सूर्यकान्ता से सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यभिचारी पुरुष को उसके घरवालो के पास जाने देने के लिए एक मिनिट को भी नही छोड सकते, उसी प्रकार तुम्हारे दादाजी को भी नरक के यमदूत तुम्हारे पास कुछ काल के लिए भी आने की छुट्टी नही देते ।"

यह सुनकर प्रदेशी राजा क्षणभर स्तब्ध रहा, फिर कुछ विचार कर उसने दूसरा प्रश्न किया—

"महाराज ! सम्भव है आपकी बात सही हो और दादाजी को जीवन भर घोर पाप करने के कारण उन्हे नर्क से मेरे पास आने नही दिया गया हो; किन्तु मेरी दादीजी तो महान् धर्मपरायणा नारी थी । वे सदा सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास, जप-तप एव दीन-दुखियो को दान करती थी, तो जीवन भर धर्म-कार्यो मे रत रहने के कारण वे स्वर्ग मे गई होगी ?"

"निश्चय ही तुम्हारी दादी स्वर्ग मे गयी है, राजन् !" केशी स्वामी ने उत्तर दिया ।

"तो फिर वे क्यो नही मेरे पास कभी आई और मुझे धर्म-कार्य की प्रेरणा दी ? स्वर्ग मे तो नरक के जैसे बन्धन नही हो सकते अत वे आ सकती थी। उनके स्वर्ग मे न आने के कारण मुझे विश्वास नही होता कि स्वर्ग कही है।"

केशी स्वामी बोले—"तुम्हारी दादी के भी स्वर्ग से न आने के कारण स्वर्ग नही है, ऐसा मत सोचो। क्योंकि तुम्हारी दादी स्वर्गीय जीवन बिता रही है और उनके लिए मृत्युलोक अत्यन्त दुर्गन्धमय है। यहाँ की दुर्गन्ध तो पाँच सौ योजन ऊपर तक जाती है।"

"यह कैसी बात है महाराज ? मै तो उनका पौत्र ही हूँ और मुझे वे प्राणो से भी ज्यादा प्यार करती थी, तो क्या वे अपने कुल के रक्त से निर्मित पौत्र के लिए भी आपके कथनानुसार इस दुर्गन्धमय लोक मे नही आ सकती ?"

राजा की बात सुनकर केशी श्रमण कुछ मुस्कुराए और उत्तर मे बोले—"हे राजन् ! प्रथम तो तुम्हारी दादीजी के एक तुम ही इस मृत्युलोक मे सम्बन्धी नही हो, क्योंकि आत्मा अनन्त काल से ससार-परिभ्रमण कर रही है अत उसके सभी जीवो से सभी प्रकार के सम्बन्ध होते रहे है। कहा भी है—

सब जीवो से सब जीवो के सब सम्बन्ध हुए है।
लोक प्रदेश असख्य जीव ने अगणित बार छुए है॥

"तात्पर्य यही है कि तुम्हारी दादी के तुम्हारे समान अनेक पौत्र-प्रपौत्र किसी न किसी जन्म के यहाँ होगे और वे किस-किसको बोध देने के लिए इस दुर्गन्धमय पृथ्वी पर आ सकती है ?

"फिर भी अगर तुम विचार करो कि मै इस पृथ्वी पर उनके इसी जन्म का पौत्र हूँ और उन्हे आना ही चाहिए था भले ही यह लोक कितना भी दुर्गन्धमय क्यो न हो, तो उनके न आने का कारण एक दृष्टान्त से समझो। मुझे यह बताओ कि अगर तुम सुगन्धित उबटनादि से स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण करो तथा उन पर और इत्र आदि छिड़क कर दरबार मे जाने के लिए तैयार होओ। ठीक उसी समय तुम्हारे महल की मेहतरानी विष्टा की टोकरी उठाने के लिए आ जाय, पर उसे उठा न पाने के कारण तुमसे कहे—'महाराज ! जरा यह टोकरी हाथ लगाकर मेरे सिर पर रखवा दीजिये। इसमे आपके और आपके परिवार वालो के द्वारा त्यागी हुई वस्तु ही है, अन्य घर की नही।' तो क्या तुम अपने राजघराने की गन्दगी होने पर भी उस टोकरी मे हाथ लगाओगे ? नही, उलटे उससे दूर भागोगे। बस इसी प्रकार तुम्हारी दादी भी यहाँ की दुर्गन्ध को सहन न कर पाने के कारण तुम्हारे पास नही आती, भले ही तुम उनके पौत्र हो।'

केशी श्रमण के उपदेशपूर्ण उत्तरो को सुनकर राजा प्रदेशी की आँखे खुल गईं और उन्हे पूर्ण विश्वास हो गया कि आत्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक एव मोक्ष निश्चय ही है तथा पापो के कारण ससार-भ्रमण बढता है और कर्मो का क्षय हो जाने पर आत्मा सदा के लिए ससार से मुक्त हो जाती है।

यह विचार आते ही उन्होने राज्य-कार्य छोडकर आत्म-कल्याण के मार्ग को अपना लिया। इसी को 'जब जागे तभी सवेरा' कहते हैं। कहाँ तो नित्य जीवो का घात करते हुए वह अपने हाथ खून से सने रखता था और कहाँ केशी स्वामी की अल्प-सगति से ही कर्मो का घात करने मे जुट गया।

जब केशी श्रमण वहाँ से अन्यत्र जाने के लिए तैयार हुए तो राजा प्रदेशी ने बडे भाव-भीने शब्दो मे उन्हे वन्दन-नमस्कार करते हुए अन्तिम उपदेश देने की प्रार्थना की।

केशी स्वामी ने भी अत्यन्त गद्‌गद होकर राजा को केवल यही शब्द कहे—

मा ण तुम पएसी !

पुव्व रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि।

—राजप्रश्नीय सूत्र, ४।८२

अर्थात्—"हे राजन् प्रदेशी! तुम जीवन के पूर्वकाल मे रमणीय होकर उत्तरकाल मे अरमणीय मत बन जाना।"

कितनी सक्षिप्त, सुन्दर एव गूढार्थ से भरी हुई शिक्षा थी। जिसमे यही भाव निहित था कि इस समय तुम अपनी नास्तिकता को, अश्रद्धा को, मिथ्यात्व को एव हिंसक भाव को त्याग कर सयमी बन गये हो अत सबके अत्यन्त प्रिय पात्र हो। किन्तु कुछ समय पश्चात् शका-सन्देहो से घिरकर कल्याणकारी धर्म के मार्ग को पुन छोडकर सबके मन को अप्रिय लगने वाले मत बन जाना।

राजा प्रदेशी भव्य प्राणी था। यद्यपि उसने जीवन मे हत्या जैसे पापो का ढेर जमा कर लिया था, किन्तु अन्तिम चालीस दिनो मे ही ऐसी उत्कृष्ट साधना की कि उसके फलस्वरूप समस्त पाप-कर्मों को घास के ढेर के समान जलाकर खाक कर दिया।

दुर्भाग्यवश उसकी सूर्यकान्ता रानी, जिसे वह प्राणो से भी अधिक प्यार करता था, उसी ने उपवास के पारणे मे जहर दे दिया। किन्तु प्रदेशी के मन मे इतनी समत्व की भावना आ गई थी कि रानी ने जहर दिया है यह जान लेने पर भी और मरणातक कष्ट का अनुभव होने पर भी उसने रानी पर क्रोध नही किया तथा रच मात्र भी द्वेष नही आने दिया। उलटे उसे, अपना उपकारी माना

कि मेरे कर्मों की निर्जरा में रानी सहायक बनी है। शरीर का क्या, उसे तो आज नहीं कल, और कल नही तो किसी दिन छोडना ही था।

वस्तुत यह संसार बडा विचित्र है। मानव जिन सम्बन्धियो को अपना समझता है और उनके लिए नाना प्रकार के पाप करने से भी पीछे नही हटता, वे ही सगे-सम्बन्धी और प्राणो से अधिक प्यार करने का दावा करने वाली स्त्री भी किस दिन बदल जाएगी यह नहीं कहा जा सकता। जब तक अपनी स्वार्थ-पूर्ति होती है, तभी तक सम्बन्धी प्रेम और मित्रता का दावा करते है, किन्तु जिस क्षण उनकी स्वार्थ-पूर्ति मे कमी आ जाती है, तुरन्त कबूतर के समान आँखें फेर लेते है।

इसीलिए सुन्दरदासजी ने कहा है—

> वैरी घर माँहि तेरे जानत सनेही मेरे,
>
> दारा, सुतवित्त तेरे खोसी-खोसि खायेंगे।
>
> औरहु कुटुम्बी लोग लूटे चहुँ ओर ही ते,
>
> मीठी-मीठी बात कहि तोसूं लपटायेंगे॥
>
> सकट परेगो जब कोई नही तेरो तब,
>
> अन्त ही कठिन, बाकी बेर उठि जायेंगे।
>
> सुन्दर कहत, तामे झूठो ही प्रपच सब,
>
> सपने की नाई यह देखत विलायेंगे॥

कहते है—"अरे भोले व्यक्ति! जिनको तू अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन एव मित्र-स्नेही समझता है, वे सब तो तेरे ही घर मे रहने वाले तेरे शत्रु है, केवल मोह के कारण वे तुझे अपने हितैषी लगते है।

"जब तक तेरे पास धन रहेगा और तू इन सभी के स्वार्थो की पूर्ति करता रहेगा, तब तक सब मीठी-मीठी बाते करते हुए तुझसे लिपटेंगे, प्यार करेंगे तथा तेरा धन छीन-छीन कर मौज करते हुए खाएँगे।

"किन्तु याद रख, जब भी तुझ पर कोई सकट आएगा या तू इनकी इच्छाओ की पूर्ति नही कर सकेगा, तब इन सब मे से एक भी तेरा साथ नही देगा और मृत्यु के समय तो सब पास से भी उठ-उठकर चले जाएँगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि ससार का सब प्रपच मिथ्या है और मरने पर तो स्वप्न की तरह विला जाएगा।"

जो बुद्धिमान पुरुष इस बात को समझ लेते है वे फिर ससार मे रहते हुए

भी ससार से नाता नही रखते तथा आत्मा को ही अपनी मानकर उसके कल्याण का प्रयत्न करते है—

उर्दू भाषा के प्रसिद्ध शायर जौक ने भी कहा है—

जिस इन्साँ को सगे दुनिया न पाया।
फरिश्ता उसका हमसाया न पाया॥

यानी—जो मानव ससार का दास नही होता अर्थात् सासारिक सम्बन्धियो मे या सासारिक वस्तुओ मे आसक्ति नही रखता वह देवताओ से भी महान् है। वास्तव मे देवता भले ही स्वर्ग मे कुछ काल तक अपार सुख का अनुभव करलें, किन्तु वहाँ का जीवन समाप्त करने के पश्चात् पुन उन्हे जन्म-मरण करना पडता है क्योकि वहाँ के सुखो मे गृद्ध रहने के कारण वे रचमात्र भी आत्म-साधना नही करते।

किन्तु जो मनुष्य सासारिक सुखो से विरक्त रहकर उत्कृष्ट आत्म-साधना मे जुट जाता है वह पुन जन्म-मरण न करता हुआ देवताओ से भी ऊँची पाँचवी गति, यानी मोक्ष, मे जा सकता है। आवश्यकता है—सच्ची साधना की, साधना के दिखावे की नही।

राजा प्रदेशी ने हत्यारा होते हुए भी जिस समय केशी स्वामी के सपर्क से अपने आपको बदला तो अन्दर और बाहर से सचमुच ही बदल गया। बदलने का दिखावा नही किया और दिखावे की साधना नही की। परिणाम यह हुआ कि जीवन भर के पापो की केवल चालीस दिन मे ही निर्जरा कर डाली। अगर उसने अपने-आप को सचमुच मे न बदला होता तो क्या जानते-बूझते हुए भी अपनी रानी के द्वारा पिलाया हुआ जहर पी लेता ? नही, उसके पास शक्ति थी। जिससे वह रानी को सजा देता और अपार धन था जिससे हकीमो या वैद्यो का घर भर कर जहर का असर समाप्त करवा लेता।

किन्तु उसके हृदय मे ससार से सच्ची विरक्ति हो गई थी, राग-द्वेप कम हो गये थे और शरीर के प्रति अनासक्ति का भाव आ गया था। यानी शरीर रहे तो क्या और न रहे तो क्या, ऐसी भावना हो गई थी। अन्यथा अपने ध्यान से रचमात्र भी डिगे बिना गजसुकुमाल मुनि ने जिस प्रकार सोमिल ब्राह्मण के द्वारा अपने मस्तक पर धधकते हुए अगारे रखवा लिये थे उसी प्रकार प्रदेशी राजा भी विष-पान कैसे करते।

गजसुकुमाल मुनि ने मस्तक पर अगारो का रखा जाना अपने कर्मों की निर्जरा मे सहायक माना था, उसी प्रकार प्रदेशी ने भी विप-पान करना कर्मों

से मुक्त होने का साधन मान लिया तथा विष को अमृत अर्थात् अमरत्व प्राप्त करने में सहायक समझा था।

किसी कवि ने साधक को प्रेरणा देते हुए कहा है कि—"अगर तुझे शिव-पुर की प्राप्ति के लिए सच्ची साधना करनी है तो चाहे अमृत मिले या विष, उसे समान भाव से ग्रहण कर।" कविता के कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

> अमृत अगर मिले तो अमृत ही पिये जा!
> विष को भी परिणत अमृत में किये जा!
> कड़वी भी घूंटें समय की पिये जा! विष को भी....।

साधना-मार्ग के सच्चे पथिक को उद्बोधन देते हुए कहा गया है—"भाई! साधना का पथ आराम पहुँचाने वाला नहीं है, यह कांटों का मार्ग है। किन्तु अगर तुझे संसार से मुक्त होने की आत्मिक चाह है तो इस मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं से घबरा मत तथा हृदय को कषाय भाव से सर्वथा मुक्त रखते हुए अगर अमृत मिलता है तो उसका पान करले और विष मिलता है तो उसे भी अमृत मानकर ग्रहण करता चल! मानव-जीवन में मिला हुआ यह दुर्लभ समय अनन्त पुण्यों के योग से प्राप्त हुआ है और निरर्थक चला गया तो फिर कब मिलेगा या मिलेगा ही नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः इस समय मीठी या कड़वी घूंटें जो भी लेनी पड़े पूर्ण समभाव से कण्ठ के नीचे उतारता चल।"

वस्तुतः चातक के लिए प्रथम तो स्वाति नक्षत्र का योग मिलना कठिन है और उससे भी कठिन है उसी समय वर्षा की बूंद का प्राप्त होना। महा मुश्किल से उसे ये दोनों सुयोग मिलते हैं और वह अपनी पिपासा को शांत कर पाता है। ठीक इसी प्रकार जीव को प्रथम तो मानव-जीवन मिलना ही दुर्लभ है, और उससे भी दुर्लभ है मन का ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, स्वार्थ, लोभ, अहंकार एवं मोह-ममता आदि से दूर होकर परमार्थ साधन में लगना।

एक प्रसिद्ध विचारक ने 'बारह भावना' नामक पुस्तक में लिखा है—

> मानव भव पाकर भी कितने मनुज दुखी होते हैं,
> विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं।
> अंगोपांग विकल हो अथवा पागल होकर अपना—
> जीवन हाय बिताते, कब हो पूरा मन का सपना?

कितनी यथार्थ एव मर्मस्पर्शी भावना है ? वस्तुत इस ससार मे मानव-शरीर तो करोडो व्यक्तियो को मिला हुआ है, किन्तु उनमे से कितने व्यक्ति इस जीवन की दुर्लभता को समझ पाते है और इससे सच्चा लाभ उठाते है ?

लाखो व्यक्ति तो लूले-लँगडे, गूंगे-बहरे व्याधिग्रस्त या अन्य प्रकार से अपग होकर सतत् आर्त-ध्यान करते हुए हाय-हाय करके यह जीवन समाप्त करते है और जो पाँचो इन्द्रियो से परिपूर्ण एव व्याधि रहित शरीर की प्राप्ति कर लेते है वे धन के अभाव से, पुत्रहीनता से या पारिवारिक जनो की अयोग्यता से सदा दुखी रहते हुए कर्मो का बन्धन करते है। इसके अलावा जिन व्यक्तियो को ये दुख नही होते वे दूसरो की उन्नति से ईर्ष्या करते हुए, अपने काफी धन से भी सतुष्ट न होकर धन-कुबेर बनने की लालसा रखते हुए, अत्यधिक मान-प्रतिष्ठा के लिए व्याकुल रहते हुए तथा अधिक से अधिक भोगो को भोगने की तमन्ना रखते हुए बावले बने रहते है। उनकी वर्तमान स्थिति कितनी भी अच्छी क्यो न हो, वे कभी सतोष और सुख का अनुभव नही करते।

ऐसी स्थिति मे भला वे अपने चिन्तामणि के सदृश जीवन का भी लाभ कैसे उठा सकते है ? वे केवल विषयभोगो को और शरीर की रक्षा को ही जीवन का उद्देश्य समझते है। यह नही समझ पाते कि यह शरीर नाशवान् है और भोगो के सुख क्षणिक है। सच्चा सुख तो आत्मा को कर्मों से मुक्त करके जन्म-मरण से सदा के लिए छूट जाने मे है। जब तक ऐसी भावना उनके हृदय मे नही आती तब तक उनका सुख-प्राप्ति का स्वप्न पूरा कैसे हो सकता है ? यानी कभी नही हो सकता।

तो बन्धुओ, मानव-शरीर पाकर भी विरले ही व्यक्ति होते है जो आत्मा को शरीर से भिन्न समझ कर उसके कल्याण मे सलग्न हो जाते है तथा जीवन को पूर्ण रूप से संयमित करके पूर्ण निरासक्त, निस्पृह या निर्ममत्व भाव से केवल कर्म-निर्जरा को ही अपना लक्ष्य मानते है और जब वे उस लक्ष्य की प्राप्ति मे लग जाते है तो चाहे कोई सुख दे या दुख, अमृत पिलाये या विष सभी समान मानकर अपने मार्ग से च्युत नही होते। कवि ने आगे कहा है—

यह तो मजा जिन्दगी का है प्यारे,
बिगड़े हुए को जो फिर से सुधारे
ताकत जो हो साथ सबको लिये जा। विष को भी ।

जिन्दगी का आनन्द व्यक्ति तभी उठा सकता है, जबकि वह बिगडे हुए को भी बना ले। इसीलिए कवि कह रहा है—"प्यारे भाई! जिन्दगी का मजा तभी आएगा, जबकि तू अपने भविष्य को तो बनाएगा ही, पर उससे पहले जो भूतकाल में हानि हो चुकी है उस क्षति की भी पूर्ति कर लेगा साथ ही अपनी शक्ति के द्वारा जो अज्ञानी व्यक्ति है, उन्हे भी अपने साथ साधना के मार्ग पर बढाता चलेगा।"

राजा प्रदेशी ने जीवन का लाभ या आनन्द इसी प्रकार उठाया था। उसने महामुनि केशी स्वामी के ससर्ग से अपनी शकाओ का समाधान करते हुए अपने भावी जीवन को तो सुधारा ही, साथ ही भूतकाल मे किये हुए हत्याओ जैसे घोर पापो को भी भस्म कर लिया। इस प्रकार उन्होने यथार्थ मे बिगडी हुई को बनाया। अगर पूर्व कर्मो को वे नष्ट नही करते तो उनका परिणाम कभी न कभी भोगना ही पडता। अत परलोक मे दृढ विश्वास करके उन्होने परिणामो की इतनी उत्कृष्टता प्राप्त कर ली कि समग्र पूर्व कर्मो को नष्ट करके आगे के लिए भी मार्ग प्रशस्त बना लिया।

इस उदाहरणो से जो भव्य प्राणी शिक्षा लेंगे तथा अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे वे निश्चय ही परलोक मे सुखी बनेंगे तथा आत्मा को अनेकानेक कष्टो से बचा सकेंगे। पर यह तभी होगा, जबकि व्यक्ति वीतराग के वचनो पर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ सवर के मार्ग पर बढ़ेगा और कर्मो का क्षय करता चलेगा।

○

१०

का वर्षा जब कृषि सुखानी

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

बड़े हर्ष की बात है कि स्थानकवासी जैन समाज सगठित हो, इसके लिए हमारे अग्रगण्य महानुभावो ने एक अधिवेशन करने की योजना बनाई है। सगठन का महत्त्व परिवार, समाज और देश के लिए अत्यधिक ही नही, अनिवार्य है, क्योकि इसके अभाव मे न तो परिवार का, न समाज का और न ही देश का कोई कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है। असगठित रूप से काम करने मे अत्यन्त कठिनाई होती है और कभी-कभी तो काम हो भी नही पाता, किन्तु वही कार्य सगठित रूप से किये जाने पर सहज ही पूरा हो जाता है।

इसीलिये समाज के अग्रणी व्यक्तियो ने सगठन की जो योजना बनाई थी उसका यह प्रथम अधिवेशन होना तय हुआ है। अधिवेशन का आयोजन करने से सबसे बडा लाभ यह होता है कि सहज ही लोगो के विचारो का पता लग जाता है तथा किस विषय मे लोगो का बहुमत है यह जान लिया जाता है। अधिवेशन का उद्देश्य समाज का, धर्म का और देश का हित हो वह उपाय करना होता है।

जैसे-जैसे समय बदलता है, देश और समाज की परिस्थितियाँ तथा व्यक्तियो की विचारधाराएँ भी परिवर्तित होती जाती है। ऐसी स्थिति मे नीति एव धर्म की मर्यादाओ को सुरक्षित रखते हुए किस प्रकार समाज की व देश की उन्नति होती रहे, यही सगठन और उसके लिए किये जाने वाले अधिवेशनो का उद्देश्य होता है। धर्म एव नीति को ध्यान मे रखते हुए समाज का व्यवहार चले तभी वह यशस्वी बन सकता है और इसके सदस्यो का यानी व्यक्तियो का जीवन उत्तम बनता है। अत धर्म तथा नीति की भावनाओ को समाज का प्रत्येक सदस्य अपनाए और उनकी मर्यादाओ का उल्लघन न करता हुआ अपने जीवन

व्यवहार को निर्दोष बनाये तभी अधिवेशनो का तथा संगठन के प्रयत्नो का होना सफल माना जा सकता है ।

उच्च जीवन के मूल आधार

जीवन उन्नत कैसे बने ? इस प्रश्न का उत्तर बिना हिचकिचाहट के यही दिया जा सकता है कि सत्य, अहिंसा एवं अपरिग्रह को जीवन मे उतारा जाय जब तक ये तीनो बातें जीवन-सात् नही होगी, व्यक्ति का जीवन निःस्वार्थी, निर्लोभी, निरहकारी, या एक ही शब्द मे निर्दोषी नही बन सकेगा । जीवन के साथ इन तीनो महत्त्वपूर्ण गुणो को न जोडने से व्यक्ति के जीवन मे और जीवन मे रहने से समाज मे भी अनेकानेक विषमताएँ उठ खडी होगी। पर इन विषमताओ का जन्म ही न हो, इसके लिए संगठन की और अधिवेशनो की आवश्यकता मानी जाती है । इस आवश्यकता को महसूस करने के कारण ही समाज के नेता प्रयत्न करते है और वे जब एकत्रित होकर विचार-विमर्श करते है तब उनकी निर्धारित कार्य-प्रणाली पर व्यक्ति चलता है ।

धर्म और राज्य—प्रसन्नता की बात है कि संगठन के लिए आयोजित इस अधिवेशन मे लोकप्रिय मुख्यमंत्री भी भाग ले रहे है । ऐसा होना भी चाहिए, क्योकि राज्य के शासन की बागडोर जिन व्यक्तियो के हाथ मे है उन्हे अपनी कार्यप्रणाली मे धर्म और नीति को प्रथम स्थान देना चाहिए । धर्म और राज्य अन्योन्याश्रित है । दोनो को ही एक-दूसरे की सहायता की आवश्यकता है और दोनो एक-दूसरे के बिना टिक नही सकते ।

हमारा इतिहास बताता है कि प्राचीनकाल मे भी राजा धर्मानुसार शासन करते थे और धर्म भी राज्याश्रय से अपने गौरव को यथाविधि प्राप्त करता था । परिणाम यह होता था कि जो राज्य धर्मानुसार चलता था, वहाँ व्यक्ति पूर्ण सुख और शान्ति का अनुभव करते थे, पर इसके विपरीत जो राज्य अधर्म की नीव पर खडे रहने की कोशिश करते थे, वे नष्ट हो जाते थे । कौरवो का राज्य, कंस का राज्य, रावण का राज्य और हिरण्यकश्यप जैसे अधर्मी राजाओ के राज्यो के उदाहरण आप लोगो के सम्मुख अनेक बार आ ही चुके है कि वे किस प्रकार जड़ से नष्ट हुए थे ।

कौरवो ने पाण्डवो को धोखा दिया था, रावण ने अहंकार और कुशील को अपनाया था, कंस ने हिंसात्मक कार्य किये थे और हिरण्यकश्यप तो धर्म या भगवान को ही नही मानता था । इस प्रकार धोखेबाजी, अहंकार कुशील, हिंसा आदि ये सब धर्म के विरुद्ध है और जिन्होंने इन्हे अपनाया वे राजा आज भी इतिहास के पन्नो पर कलंक स्वरूप लिखे जाते है । ऐसे राजाओ के नामो

को तो अशुभ समझकर लोग अपने बालको के लिए भी उपयोग मे नही लाते। इस बात की यथार्थता को आप समझते ही होगे। क्या कभी किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम रावण, कस या दुर्योधन रखा है ? नही, वह इसीलिए कि इन नामो वाले व्यक्ति अधर्मी थे।

तो मैं आपको बता तो यह रहा था कि धर्म ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए मगलमय है अत प्राचीनकाल मे श्रेष्ठ राजा अपने धर्म गुरुओ से उपदेश ग्रहण करके तथा धर्म के मर्म को समझ करके ही अपनी शासन-प्रणाली निर्धारित करते थे।

भगवान महावीर के समय मे राजा श्रेणिक मगध पर राज्य करते थे। वे भगवान महावीर के अनन्य उपासक थे तथा उनके मार्ग-दर्शन से ही राज्य चलाते थे। भगवान पर उनकी अविचलित श्रद्धा थी और वे केवल यही विचार करते थे कि महावीर प्रभु का उपदेश कभी भी राजा या राज्य के लिए अहितकर नही हो सकता।

यह बात सत्य भी है, जैसा कि कहा गया है—

देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थंकराः।

—उत्त० चूर्णि २३

अर्थात्—तीर्थंकर देश और काल के अनुरूप ही धर्म का उपदेश करते हैं।

तो श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशानुसार चलते थे और श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि जो कि बाईसवें तीर्थंकर थे, उनके द्वारा उद्बोधन प्राप्त करते थे। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठ ऋषि के धर्म-बोध को हृदयगम किया था तथा ग्यारहवी सदी मे राजा कुमारपाल को श्री हेमचन्द्राचार्य ने धर्म एव नीति की शिक्षा दी थी। इसके पश्चात् करीब तीन सौ वर्ष पूर्व ही छत्रपति शिवाजी भी जो कि इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं उन्होने अपने गुरु समर्थ रामदास स्वामी के उपदेशानुसार शासन किया था।

कानून और धर्म

कहने का अभिप्राय यही है कि पुरातन समय से ही राज्य का अगर उत्तम सचालन हुआ है तो वह तभी हो सका है, जबकि वह धर्ममय बना। आप स्वय अनुभव कर सकते हैं कि प्राचीनकाल से आजतक भी राज्य के जो कायदे-कानून होते हैं वह धर्म के आधार पर ही निर्मित होते है। चोरो को सजा देने का जो नियम है वह इसलिए कि चोरी करना पाप है, हत्यारो को दण्ड देने का नियम इसलिए है कि किसी की हत्या करना हिंसा है और वह महापाप है। धोखेबाजी मे किसी की जमीन-जायदाद हडप लेने पर जो कारावास

शास्त्रो मे भी सच्चे साधु के लक्षण बताते हुए केवल यही कहा है—

> इह लोगणिरावेक्खो,
> अप्पडिवद्धो परम्मि लोयम्हि।
> जुत्ताहार विहारो,
> रहिदकसाओ हवे समणो ॥
>
> —प्रवचनसार, ३–२६

अर्थात्—जो इस लोक मे निरपेक्ष ह, परलोक मे भी अप्रतिवद्ध यानी अनासक्त है, विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है तथा कषाय रहित है, वही सच्चा श्रमण है।

तात्पर्य यही है कि धर्म जाति पर आधारित नही है, अपितु कर्म पर है। अगर व्यक्ति निम्न कुल मे जन्म लेकर उत्तम कार्य करता है तो कोई कारण नही है कि उसे उच्च कुल मे जन्म लेने वाले की अपेक्षा नीचा समझा जाय। वल्कि निम्न कुल मे जन्म लेकर उच्च कार्य करने वाले की अपेक्षा उच्च कुल मे जन्म लेकर निकृष्ट कर्म करने वाला ही हीन समझा जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान महावीर ने पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही अछूओ को अछूत या निम्न कुल मे जन्म लेने वाले को सदा निम्न ही न समझने वाला कानून बना दिया था। उन्होने स्पष्ट कहा है—

> कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
> कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा ॥

अर्थात्—व्यक्ति जन्म से ही नही वरन् अपने कार्यों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है।

स्पष्ट है कि धर्म के उदार क्षेत्र मे व्यक्ति-व्यक्ति मे किसी भी प्रकार का भेदभाव नही होता। जिस प्रकार समस्त नदियाँ सागर मे मिलकर समान हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति, कुल या गोत्र का व्यक्ति धर्म के पवित्र प्रागण मे प्रवेश करके समान धर्म का अधिकारी बन जाता है। धर्म ही मनुष्य-मनुष्य के बीच समत्वभाव की स्थापना करता है। इसीलिए धर्म का मर्म समझने वाले महापुरुष भगवान महावीर के पश्चात् भी सदा यही प्रयत्न करते आये है कि प्रत्येक मानव दूसरे मानव को पूर्णतया अपने समान समझे। आज के युग मे गाँधीजी भी अपने जीवनकाल मे यही कहते और मानते रहे है। वे सदा ही हरिजनोद्धार के प्रयत्न मे लगे रहे।

मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि राज्य-शासन और धर्म अलग-अलग नही अपितु एक ही हैं। धर्म के आधार पर ही राज्य के कानून बनते है और तभी

के मनुष्यों के लिए माननीय होते हैं। ऐसा जब नहीं किया जाता है तो वैर-विरोध बढ़ता है तथा शासन भी खतरे में पड़ जाता है।

हमारे भारत को प्राचीनकाल में आर्यावर्त ही कहा जाता था क्योंकि यहाँ आर्य निवास करते थे। आर्य वे ही व्यक्ति कहे जाते हैं जो हेय कार्यों से परे रहकर धर्म का आचरण करें तथा शिष्ट एवं संस्कारशील बनें। ध्यान में रखने की बात है कि धर्मपरायण, शिष्ट एवं उत्तम संस्कारों से युक्त व्यक्ति ही अपने समाज एवं देश को गौरवान्वित कर सकते हैं, इसलिए समाज के नेताओं को और राष्ट्र के कर्णधारों को भी यही प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे देश व समाज के व्यक्ति पुनः सच्चे आर्य बनें। इस प्रयास में दोनों का संगठित होकर कार्य करना आवश्यक है। अगर समाज के व्यक्ति राज्य शासन की अवहेलना करें और राजनीतिक नेता समाज की उपेक्षा करने लग जायें तो समाज और देश दोनों ही समान रूप से अपयश के भागी बनेंगे तथा आर्यावर्त जैसी उत्तम उपाधि रसातल को चली जायगी।

यहाँ पर जो अधिवेशन हो रहा है, उसका उद्देश्य यही है कि अग्रणी लोग संगठित होकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे समाज का हर व्यक्ति सभ्य, सुसंस्कारी एवं धर्म-परायण हो। तभी समाज का और देश का कल्याण हो सकेगा। व्यक्तियों से समाज बनता है और समाज मिलकर राष्ट्र। अगर प्रत्येक समाज का प्रत्येक व्यक्ति विवेकी और संस्कारी बन जाय तो राष्ट्र या देश स्वयं ही उन्नत बन जायेगा।

इसलिए बन्धुओ, उपस्थित [illegible] मुख्यमन्त्री को और आप जैसे समाज के प्रमुख व्यक्तियों को संगठित होकर बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना है तथा मानव-मानव में जो भेद-भाव हो गया है उसका जड़ से उन्मूलन करना है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि आप प्राणपण से इस कार्य में जुट जायें। अगर अब भी आप जागरूक नहीं होंगे तो फिर कब यह कार्य हो सकेगा?

भूखे भगति न होई गोपाला!

आप जानते हैं कि पूर्व काल में लोगों की मनोवृत्ति धर्म-प्रधान थी। अतः उस समय भारतीय जीवन बड़ा सुखमय एवं शान्तिमय था। उस समय मनुष्यों के हृदयों में आज के समान अशान्ति, व्याकुलता एवं धन के लिए हाय-हाय नहीं थी। क्योंकि धर्म उनकी तृष्णा पर अंकुश रखता था तथा सन्तोष, शान्ति एवं सबकी [illegible] की प्रेरणा दिया करता था। इसी कारण उस समय [illegible] जीवन सरल और पवित्र बना रहता था। लोग एक-दूसरे के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं [illegible] थे, [illegible] परिवार के, समाज के और भिन्न-भिन्न लोगों

के व्यक्ति भी एक-दूसरे को अपना आत्मीय एव कुटुम्बी समझते थे। कोई भी दूसरे को ठगने की, धोखा देने की या किसी की सम्पत्ति को हडपने की चेष्टा नही करता था, जैसी चेष्टा आज प्रत्येक व्यक्ति करता रहता है। कारण उस समय यही था कि धर्म के प्रभाव मे प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक भावना भी बडी जबर्दस्त थी।

किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया है, लोगो की विचारधाराएँ भी बदलती गई है। दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियो का शासन बरसो रहा, जिनमे न धर्म की गम्भीरता थी और न ही भारत जैसा अध्यात्मवाद था। उनका सिद्धान्त केवल 'जीवन का सुख प्राप्त करो तथा मौज से रहो' यही था। भोग-लिप्सा, फैशनपरस्ती तथा अनात्मवाद की लहरो मे बहने वाले उन विदेशियो का प्रभाव भारत के व्यक्तियो पर भी पडा और वे भी धर्म से उदासीन हो गये। परिणाम यही हुआ कि धर्म-भावना के अभाव मे नैतिकता का लोप होने लगा तथा नास्तिकता के कारण परलोक से डरने वाले भारतीय भी एक दूसरे को ठगने मे, नीचा दिखाने मे, धोखा देने मे और परिग्रह को असाधारण रूप से बढाने मे लग गये। यही कारण है कि आज चारो तरफ अशान्ति का एव व्याकुलता का वातावरण छाया हुआ है। चन्द व्यक्ति, जिन्होने खूब धन एकत्र कर लिया है वे तो गुलछर्रे उडाते हैं, किन्तु बाकी सारी जनता त्राहि-त्राहि कर रही है।

यह सब धर्म एव नैतिकता की कमी के कारण ही हुआ है। खेद की बात तो यह है कि विरले महापुरुषो को छोडकर आज कोई भी अपनी स्थिति से सतुष्ट नही है और सबसे बडी बात यह है कि आत्म-कल्याण की भावना का तो मानो लोप ही हो गया है। धनी लोग भोग-विलास मे डूबे रहकर आत्मा का भान भूल गये हैं और दरिद्र व्यक्ति धन के अभाव मे आर्त-ध्यान करते रहते हैं। कोई भी यह नही सोचता कि हमारा सच्चा आत्मधन क्या है और हमे यह मानव-जीवन पाकर इससे कौनसा लाभ उठाना है। और तो क्या अपने-आपको धर्मात्मा मानने वाले व्यक्ति भी आपस मे वैमनस्य रखते है तथा स्वय को अच्छा और दूसरो को बुरा समझते हैं।

यह सब देखकर मन को बडा क्लेश और दुःख होता है। लगता है कि आज हमारे बीच मे मानो धर्म का सच्चा रूप तो लुप्त ही हो गया है, रह गया है केवल कलेवर। किन्तु उसको पकडे रहने मे क्या होगा? खाली घडा हाथ मे लिये रहने मे जिस प्रकार व्यक्ति की प्यास नही मिटती, उसी प्रकार धर्म का नाम पकडे रहने मात्र मे जीवन की उन्नति या आत्मा का उद्धार कैसे हो सकता है?

भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द की बात को ध्यान से सुना पर कोई उत्तर न देते हुए उन्होने कुछ खाने की वस्तुएँ अपनी झोली मे रखी और उठ खडे हुए। आनन्द चकित हुए पर बोले कुछ नही।

बुद्ध ने कहा—"वत्स ! कहाँ है वह व्यक्ति ? मुझे मार्ग बताओ।" आनन्द चुपचाप अपने गुरु के साथ हो लिए। धीर कदमो से चलते हुए बुद्ध आनन्द सहित उस व्यक्ति के पास पहुँचे और बोले—

"भाई ! उठो, यह थोडा-सा भिक्षान्न है, इसे ग्रहण करो।"

उस व्यक्ति ने आँखे खोली पर विश्वास न होने के कारण कुछ उत्तर नही दिया। किन्तु बुद्ध ने जब अपनी बात पुन दोहराई तब वह उठा और देखा स्वय बुद्ध उसके समीप कुछ खाद्य-पदार्थ झोली से निकाल कर रख रहे है। बडी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से व्यक्ति ने बुद्ध को नमस्कार किया और उनके दिये हुए अन्न को खाने लगा। खाने के पश्चात् जब वह सुस्थिर हुआ तो बोला—"भगवन् ! मुझे भी आत्म-कल्याण का मार्ग सुझाइये।"

बुद्ध ने बडे प्रेम से उसे कुछ बाते समझाई जिन्हे समझते ही वह उनके साथ हो लिया और बोला—"प्रभु ! मैं आज से ही आपका शिष्य बनना चाहता हूँ तथा धर्म की शरण लेना चाहता हूँ।"

लौटते समय जब बुद्ध ने आनन्द की विस्मय-विह्वल दृष्टि को देखा तो स्नेहपूर्वक बोले—"आनन्द, तुम्हे इस पर आश्चर्य हो रहा होगा कि इस व्यक्ति ने तुम्हारा उपदेश क्यो नही सुना ? बात केवल यही थी कि यह व्यक्ति सभवत कई दिनो से निराहार था, और ऐसी स्थिति मे तुम इसे धर्मोपदेश सुनाने जा रहे थे। पर वत्स ! धर्मोपदेश से पहले उसे भोजन की आवश्यकता थी। भूखे पेट भला वह तुम्हारा उपदेश कैसे सुनता ? मनुष्य को सबसे पहले भोजन की आवश्यकता होती है। उसके अभाव मे कभी उसका चित्त धर्म-साधना मे नही लग सकता। अच्छा हुआ, हम समय पर पहुँच गये, अन्यथा सम्भव है उसका बचना ही कठिन हो जाता, धर्मोपदेश तो दूर की बात थी।"

तो बधुओ, आप समझ गये होगे कि प्रत्येक व्यक्ति को सर्वप्रथम अन्न की आवश्यकता होती है, वह मिलने पर ही उसे धर्म-साधना सूझ सकती है। हम और आप भी यह चाहते हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति धर्म को समझे और उसे ग्रहण करके जीवन मे उतारे, किन्तु उससे पहले जो दरिद्र, असहाय एव अनाथ परिवार हैं, उन्हें उदर-पूर्ति के लिए अन्न तथा लज्जा ढकने के लिए वस्त्र मिलना कितना आवश्यक है ?

कितनी मर्मस्पर्शी सीख है ? कवि कहता है—"हे बादल ! जहाँ असह्य गर्मी है और चातक के नन्हे-नन्हे बच्चे बहुत दिनो से प्यासे है, वहाँ तुरन्त जल प्रदान करो। अन्यथा अगर तेज हवा चलनी प्रारम्भ हो जाएगी तो फिर कहाँ तुम होगे ? कहाँ पानी रहेगा और कहाँ ये चातक रह जाएँगे ?

बधुओ, इस यथार्थ उक्ति से आप सभी को निश्चय रूप से जान लेना चाहिए कि धनिको का धन बादलो मे भरे हुए जल के समान ही होता है और अगर समय पर इसका सदुपयोग न किया जाय तो निरर्थक चला जाता है। खेती सूख जाने पर वर्षा का क्या उपयोग है ? का वर्षा जब कृषि सुखानी ? इस बात को हमे गभीरतापूर्वक समझना चाहिए कि धनाढ्य व्यक्ति बादल के समान है, धन जल के समान और मारुत अर्थात् पवन मृत्यु रूपी झोंके के समान।

इस प्रकार धनाढ्य व्यक्ति अगर जरूरत के समय अपना जल रूपी धन चातक रूपी अभावग्रस्त प्राणियो के लिए काम मे नही लेंगे तो न जाने किस समय पवन रूपी काल आकर उन्हे इस लोक से हटाकर ले जाएगा और परिणाम यही होगा कि दु खी और अनाथ व्यक्ति कही रह जाएँगे, धन न जाने किसके हाथ जा पडेगा और स्वय भी कौन जाने किस सुदूर की ओर प्रयाण कर जाएँगे। अत यही सर्वोत्तम है कि समय रहते, काल रूपी पवन के आने से पहले ही चातक के समान पिपासाकुल यानी दीन-दरिद्रो की कष्ट एव दु ख रूपी पिपासा को मिटा दिया जाय।

पर कितने लोग ऐसे है जो जीवन की क्षणभगुरता को समझ कर अपने मन, वचन, शरीर एव धन का अपने जीवन-काल मे ही सदुपयोग करके उससे लाभ उठाते है ? बहुत ही थोड़े। अधिकाश व्यक्ति तो चाँदी-सोने की चमक के सामने अपनी आत्मा की चमक का ख्याल ही नही करते। फल यही होता है वे सोना-चाँदी, जमीन-मकान आदि की वृद्धि मे लगे रहकर आत्म-कल्याण को भविष्य के लिए स्थगित कर देते है, और इसी बीच काल आकर उन्हे स्थानान्तरित कर देता है।

कवि श्री 'भारिल्ल' जी ने भी अपनी अनित्य-भावना मे मानव की तृष्णा, आसक्ति और मूर्खता देखते हुए लिखा है—

> अमर मानकर निज जीवन को परभव हाय भुलाया,
> चाँदी-सोने के टुकडो मे फूला नही समाया।
> देख मूढता यह मानव की उधर काल मुस्काया,
> अगले पल ले चला यहाँ पर नाम निशान न पाया।

शास्त्रो मे कहा गया है —

अत्थि सत्थ परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—आचारागसूत्र ११३।४

अर्थात्—शस्त्र (हिंसा) एक से एक बढकर है, किन्तु अनस्त्र (अहिंसा) एक से एक बढकर नही है । अर्थात् अहिंसा से बढकर कोई शस्त्र नही है ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आप लोग सगठन के जिस उच्च उद्देश्य को लेकर यह अधिवेशन करने जा रहे है, उसके पीछे आपकी भावना नि स्वार्थ एव यशप्राप्ति की कामना से रहित होगी तो आपका उद्देश्य अवश्य सफल होगा । क्योकि काम करने के पीछे अगर किसी प्रकार का स्वार्थ हो, प्रसिद्धि की कामना हो या उच्च पद की लालसा हो तो भावनाएँ पवित्र नही रहती तथा उनके साथ किया हुआ परिश्रम भी अपना सुफल प्रदान नही करता । पर इसके विपरीत अगर शुद्ध भावनाओ के साथ धर्म की सहायता से जो प्रयत्न किया जाता है, वह निश्चय ही फल-प्रद बनता है ।

मै आशा करता हूँ कि आप सगठन के लिए तथा समाज की बिखरी हुई शक्तियो को एकत्रित करने के लिए जो प्रयत्न करने जा रहे है, उसमे समाज की बाह्य तथा आतरिक, दोनो ही स्थितियाँ सुधर सकेंगी, साथ ही आपको आत्मिक-सन्तोष का लाभ हासिल होगा । क्योकि इस ससार मे सुखी कम हैं और दु खी अधिक । अत दुखियो का दु ख मिटाने से आतरिक खुशी हासिल होती है ।

उर्दू-कवि जौक ने भी कहा है—

राहतो रज जमाने मे हैं दोनो, लेकिन—
यॉ अगर एक को राहत है तो है चार को रज ।

वस्तुत इस ससार मे सुख और दु ख दोनो ही है, पर अधिकता दु ख की ही है, क्योकि चार दुखियो पर मुश्किल से एक सुखी मिलता है ।

अन्त मे, मैं एक बार पुन आपके अधिवेशन एव सगठन के प्रयत्नो की सराहना करता हुआ इनकी सफलता के लिए शुभकामना करता हूँ तथा आशा ही नही अपितु विश्वास रखता हूँ कि आप लोगो के प्रयास का फल आपको अवश्य मिलेगा । भले ही वह तुरन्त न मिल पाए, किन्तु धीरे-धीरे उसका परिणाम अवश्य निकलेगा । आपको भी धैर्य और लगन के साथ कार्य करते जाना चाहिए ताकि हमारा समाज एव धर्म दोनो ही अपने गौरव को प्राप्त कर सके । ○

इस प्रकार अन्धा व्यक्ति देखने वाले को भी अन्धा वनाता है, पर क्या वह व्यक्ति वास्तव मे अन्धा होता है या उसे कुछ दिखता नही है ? नही, उसे दिखता है पर अन्धे को कुछ दिखाई नही देता अत वह दूसरे को भी अन्धा समझता है ।

अपनी श्रद्धा कायम रखना चाहिए

ऋद्धियो की प्राप्ति के विषय मे भी यही वात है कि जो इन्हे पाने के लायक तप नही कर पाता और ऋद्धि-सिद्धि हासिल नही कर पाता वह यही कहता है कि ऋद्धियाँ या चमत्कार होते ही नही । किन्तु हमे ऐसा कहने वाले अश्रद्धालु व्यक्तियो की वात सुनकर अपने विश्वास को नही डोलने देना है । अन्धे को न दिखाई देने पर भी जिस प्रकार ससार की समस्त वस्तुओ का अस्तित्व कायम है, उसी प्रकार ऋद्धि प्राप्त न कर सक पाने पर भी ऋद्धियो का प्राप्त होना अवश्य ही सत्य है । प्राप्त वे उन्हे ही होती है जो उन्हे प्राप्त करने लायक तपश्चर्या और साधना करते है ।

वीतराग और केवलज्ञानियो ने जो कहा है अपने अनुभवो के आधार पर ही कहा है और उनके वचन हमे शास्त्रो मे मिलते है । प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्रो पर विश्वास रखते हुए अपनी साधना और तपश्चर्या यथाशक्ति जारी रखनी चाहिए । कहा भी है—'**जाए सद्धाए निक्खन्ते तमेव अणुपालेज्जा ।**' यानी जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, उसी श्रद्धा के साथ सयम का पालन करना चाहिए ।

इस ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते है । एक तो गुणग्राही और दूसरे गुणनिदक । गुणग्राही व्यक्ति तो जहाँ से और जिससे भी आत्मोन्नति के गुण प्राप्त होते है, उन्हे ले लेता है और वाकी सब छोड देता है, किन्तु निदक व्यक्ति न तो स्वय गुण ग्रहण करता है और न ही दूसरो को गुणी वनने देता है । हमे ऐसे निदको से वचना चाहिए तथा अपने सद्गुणो को सुरक्षित रखना चाहिए । प्राय देखा जाता है कि दान देने वाला दानी तो देता है, पर निदक व्यक्ति कहता है—"मूर्ख घर गँवा रहा है अपने आगे की नही सोचता ।" इसी प्रकार तपस्वी तप करता है पर इर्ष्यालु कह देता है—"शरीर को विगाड रहा है, अरे जान है तो जहान है ।"

इस प्रकार जो मिथ्यात्वी या अश्रद्धालु होते ह, वे प्रत्येक सद्गुण को वुरा वताये विना नहीं रहते । किन्तु उनके वुरा वताने से क्या सद्गुण अवगुण हो सकते है ? नही । सोना जिस प्रकार सदा चमकता रहता है, गुण भी कभी

इस प्रकार अन्धा व्यक्ति देखने वाले को भी अन्धा बनाता है, पर क्या वह व्यक्ति वास्तव मे अन्धा होता है या उसे कुछ दिखता नही है ? नही, उसे दिखता है पर अन्धे को कुछ दिखाई नही देता अत वह दूसरे को भी अन्धा समझता है ।

अपनी श्रद्धा कायम रखना चाहिए

ऋद्धियो की प्राप्ति के विषय मे भी यही बात है कि जो इन्हे पाने के लायक तप नही कर पाता और ऋद्धि-सिद्धि हासिल नही कर पाता वह यही कहता है कि ऋद्धियाँ या चमत्कार होते ही नही । किन्तु हमे ऐसा कहने वाले अश्रद्धालु व्यक्तियो की बात सुनकर अपने विश्वास को नही डोलने देना है । अन्धे को न दिखाई देने पर भी जिस प्रकार ससार की समस्त वस्तुओ का अस्तित्व कायम है, उसी प्रकार ऋद्धि प्राप्त न कर मक पाने पर भी ऋद्धियो का प्राप्त होना अवश्य ही सत्य है । प्राप्त वे उन्हे ही होती है जो उन्हे प्राप्त करने लायक तपश्चर्या और माधना करते है ।

वीतराग और केवलज्ञानियो ने जो कहा है अपने अनुभवो के आधार पर ही कहा है और उनके वचन हमे शास्त्रो मे मिलते है । प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्रो पर विश्वास रखते हुए अपनी साधना और तपश्चर्या यथाशक्ति जारी रखनी चाहिए । कहा भी है—**'जाए सद्धाए निक्खन्ते तमेव अणुपालेज्जा ।'** यानी जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, उसी श्रद्धा के साथ सयम का पालन करना चाहिए ।

इस ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते है । एक तो गुणग्राही और दूसरे गुणनिदक । गुणग्राही व्यक्ति तो जहाँ से और जिससे भी आत्मोन्नति के गुण प्राप्त होते है, उन्हे ले लेता है और बाकी सब छोड देता है, किन्तु निंदक व्यक्ति न तो स्वय गुण ग्रहण करता है और न ही दूसरो को गुणी बनने देता है । हमे ऐसे निंदको से बचना चाहिए तथा अपने सद्‌गुणो को सुरक्षित रखना चाहिए । प्राय देखा जाता है कि दान देने वाला दानी तो देता है, पर निंदक व्यक्ति कहता है—"मूर्ख घर गँवा रहा है अपने आगे की नही सोचता ।" इसी प्रकार तपस्वी तप करता है पर इर्ष्यालु कह देता है—"शरीर को बिगाड रहा है, अरे जान है तो जहान है ।"

इस प्रकार जो मिथ्यात्वी या अश्रद्धालु होते ह, वे प्रत्येक मद्‌गुण को बुरा बताये बिना नही रहते । किन्तु उनके बुरा बताने से क्या सद्‌गुण अवगुण हो मकते है ? नही । मोना जिस प्रकार सदा चमकता रहता है, गुण भी कभी

मलीन या बुरे नही हो सकते अपितु आत्मा के लिए कल्याणप्रद बनते हैं। कहा भी है—

> गुण सुट्ठियस्स वयण, घयपरिसित्तुव्व पावओभाइ।
> गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो॥
>
> —बृहत्कल्पभाष्य २८५

अर्थात्—गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन तेलरहित दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति सदा गुण ग्रहण करने की होनी चाहिए भले ही वे किसी साधारण प्राणी मे ही क्यो न हो? अभी मैंने आपको कहा है कि दुर्गुणी और निंदक व्यक्ति तो दान देने और तपस्या करने को भी मूर्खता कहते हैं, जिसके कारण धन कम होता है और शरीर क्षीण हो जाता है।

किन्तु हमे यह विचार करना है कि धन तो क्षणभगुर है ही, अगर अपने हाथ से दिया जायेगा तो पुण्य के रूप मे अनेक गुना बढकर परलोक को सुखद बनायेगा। और इसी प्रकार यह शरीर है, चाहे कितनी भी सावधानी क्यो न रखो, एक दिन नष्ट हो जायेगा पर अगर इसके द्वारा तपस्या की जायेगी तो न जाने कितने पूर्व सचित कर्मो का क्षय होगा। ऐसा ही सभी सद्‌गुणो के विषय मे कहा जा सकता है और पूर्णतया यथार्थ भी है। इसलिए श्रद्धाविहीन व्यक्तियो के कथनमात्र से ही हमे सद्‌गुणो को दुर्गुण और शुभ-क्रियाओ को अशुभ नही मान लेना चाहिए।

गुणहीन व्यक्ति जैसा कहेगा और करेगा, उसका परिणाम वह स्वय ही भोगेगा।

शास्त्र मे बताया भी है—

> **चउहि ठाणेहि सते गुणे नासेज्जा—**
> **कोहेण, पडिनिवेसेण, अकयण्णुयाए**
> **मिच्छत्ताभिणिवेसेण।**
>
> —स्थानागसूत्र ४।४

अर्थात्—क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या-आग्रह इन चार दुर्गुणो के कारण मनुष्य के वर्तमान गुण भी नष्ट हो जाते है।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होगे कि जो व्यक्ति अपने हृदय मे अभी-अभी बताये गये चार अवगुणो को स्थान देता है वह औरो का बुरा तो नही भी कर सके, किन्तु अपना बुरा तो कर ही बैठता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति

को न तो किसी के अवगुणो पर दृष्टिपात करना चाहिए और न ही उसके बहकावे मे आकर आत्म-धन रूपी अपनी सद्‌गुणो को खोना चाहिए।

शास्त्रो के अनुसार अभी बताये गये क्रोध, ईर्ष्या, मान आदि सभी दुर्गुण कषाय मे आते हैं और कषाय पापो को जन्म देती है। जो व्यक्ति इनके वशीभूत हो जाते है वे पशुओ से भी गये-बीते होते है।

कहा जाता है कि एक बार भगवान के परम भक्त हुसेन से समीप बैठे हुए किसी दुष्ट व्यक्ति ने कुत्ते की ओर इशारा करते हुए पूछा—"हुसेन साहब ! आप मे और उस कुत्ते मे क्या अन्तर है ?"

हुसेन ने सहज भाव से अविलम्ब उत्तर दे दिया—

"भाई ! जब मैं भगवान की भक्ति और धर्म-साधना मे लगा रहता हूँ तो मैं कुत्ते से श्रेष्ठ साबित होता हूँ तथा जब पापाचरण करता हूँ तो कुत्ता मुझ से श्रेष्ठ होता है।"

वस्तुत जब मानव अमानवता को अपना लेता है तथा अपने आत्म-गुणो को भूलकर पाप-कार्यों मे सलग्न हो जाता है तब वह पशु से भी निम्न स्तर पर पहुँच जाता है। पशु तो पाप-कार्य करने पर भी क्षम्य हो सकता है क्योंकि उसमे बौद्धिक बल नही होता, किन्तु मनुष्य जिसे ईश्वर ने इतनी बुद्धि दी है कि वह चाहे तो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करले, फिर भी अगर वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग न करके पाप-कार्यों मे दुरुपयोग करता है तो वह कदापि क्षम्य नही है और इसीलिए पशु से भी गया-बीता माना जाता है।

इसलिए वीतराग के वचनो पर विश्वास एव अटल श्रद्धा रखते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को शुभ-कर्मों मे तथा तप एव साधना मे यथाशक्य सलग्न रहना चाहिए। उसे कभी यह विचार नही करना चाहिए कि—"इतने काल तक मैंने व्यर्थ ही साधना की या तप किया। इनके फलस्वरूप मुझे ऋद्धि-सिद्धि तो प्राप्त हुई ही नही, अत निश्चय ही इनका अस्तित्व न कभी रहा है और न ही भविष्य मे होगा।"

शास्त्रो मे कभी मिथ्या बातें नही होती। हमारे यहाँ अट्ठाईस प्रकार की लब्धियाँ होती है, ऐसा वे बताते हैं। पर हमे वे हासिल नही होती तो इसका एकमात्र यही कारण है कि हम उत्तम साधना नही कर पाते और उत्कृष्ट तप भी हमसे नही हो पाता। पर इसके लिए दुख, खेद या मन मे अश्रद्धा क्यो लाना चाहिए ? क्या हम इतने मे सतुष्ट नही रह सकते कि शुभ कार्य करने पर या यथाशक्य तप-साधना करने पर जबकि इस लोक मे लोग हमे बुरा नही कहते और स्वय हमारा मन भी सतुष्टि एव प्रसन्नता से परिपूर्ण रहता है तो परलोक

मे भी इनके कारण कष्ट तो निश्चय ही नही मिलेगा, मिलेगा तो कुछ न कुछ अच्छा फल ही। एक छोटा-सा उदाहरण है—

उलटी गंगा वह गई

किसी वादशाह के यहाँ एक व्यक्ति नौकरी करता था। यद्यपि उसे कार्यानुसार वेतन मिलता था, पर तनिक भी असावधानी होने पर या गलती हो जाने पर कभी-कभी उच्च-पदस्थ व्यक्तियो की और कभी-कभी स्वय वादशाह की डाँट-फटकार खानी पडती थी।

इस कारण धीरे-धीरे उसका मन सासारिक पचडो से विरक्त हो गया और वह वादशाह की नौकरी छोडकर फकीर वन गया। फकीर वन जाने पर उसे वडा सतोष और आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई। उसे लगा कि थोडी जमीन और छोटे से राज्य के मालिक की नौकरी करने से सृष्टि के मालिक की भक्ति करना सर्वोत्तम है।

अव वह फकीर दिन-रात खुदा की इवादत करता और जव कभी मन आता तव जो कुछ मिलता उसे खाकर पुन अपनी साधना-तपस्या मे लग जाता। इस जीवन मे न कोई उसकी भर्त्सना करने वाला था, न डाँटने-फटकारने वाला और न ही किसी कार्य मे भूल हो जाने पर सजा देने वाला। अत निश्चिन्त होकर वह अपने अल्लाह की प्रार्थना करता तथा अपनी मौज के अनुसार वैठता उठता, खाता या इवादत करता। फकीरावस्था मे न वह किसी का गुलाम था और न घन्टो किसी के द्वार पर खडे रहकर मालिक के दर्शन करने और उनसे किसी कार्य की आज्ञा लेने की आवश्यकता थी। अपना मालिक वह स्वय था और परम सुखी था।

धीरे-धीरे उसके फकीर वन जाने की वात शहर मे फैल गई और वादशाह के कानो तक भी जा पहुँची। किसी ने उनसे कहा—"आपके यहाँ का ही अमुक नौकर वडा भारी फकीर वन गया है और अव वह किसी की परवाह नही करता। मन होता है तो किसी से वात करता है और नही तो मिलता भी नही।"

वादशाह को यह सुनकर वडा गुस्सा आया कि मेरा ही नौकर मेरे राज्य मे नवाव वना वैठा है और अपनी इच्छा के अनुसार चलता है। उन्होंने अपने एक कर्मचारी से कहा—

"जाओ, उस फकीर को वुला लाओ! कहना वादशाह वुला रहे है।"

कर्मचारी राजाज्ञा होने के कारण तुरत फकीर के पास पहुँचा, और विनय पूर्वक वोला—"आपको वादशाह वुला रहे है।"

"मुझे ममय नही है और न ही मैं बादशाह का नौकर हूँ।" फकीर ने वेफिक्री से उत्तर दे दिया। कर्मचारी ने यही बात बादशाह के समक्ष आकर दोहरा दी।

यह सुनकर प्रथम तो बादशाह आग-बबूला हुआ पर फिर सोचने लगा—"मेरे एक माधारण से नौकर मे मेरी ही अवज्ञा करने की हिम्मत कैसे आ गई ?" वह कुछ समझदार था अत सोचा—"चलकर उसी से पूछूं कि जब मेरे पास रहते थे, तब तो तुम भीगी बिल्ली के समान घटो मेरे भवन के द्वार पर मेरी आज्ञा या मेरे सकेत के लिए खडे रहते थे, पर आज मेरे बुलाने पर भी तुमने आने से इन्कार किस बूते पर किया ?"

राजा या बादशाह उतावले तो होते ही है। उसी वक्त घोडे पर चढकर फकीर के पास जा पहुँचे। देखा कि फकीर बडे आनन्द, सतोष एव निराकुल भाव से अपनी प्रार्थना मे लगा हुआ है। उसके चेहरे पर अखड शाति तथा आत्म-तेज विद्यमान है, जिससे चेहरे की काति फूटी पड रही है।

यह देखकर बादशाह का रहा-सहा क्रोध भी समाप्त हो गया और वह पूछ बैठा—"क्योजी! क्या सोचकर तुमने यह फकीरी धारण की है ? आखिर मेरे यहाँ काम करते थे तो वेतन और उसके अलावा कभी-कभी इनाम भी पाते थे जिससे अच्छा पहनने और अच्छा खाने को मिलता था। पर वह मव छोडकर ये न कुछ से वस्त्र पहनकर और कद-मूल या रूखा-सूखा खाकर रहने से तुम्हे कौन-सा अनोखा लाभ हो रहा है ?"

फकीर ने आँखे खोलकर मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

"बादशाह! खुदा की शरण मे आने से मवसे पहला लाभ तो यही हुआ है कि जहाँ मैं घटो आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा मे आपके द्वार पर खडा रहता था और आप परवाह ही नही करते थे, वहाँ आज आप स्वय चलकर मेरी कुटिया के दरवाजे पर मुझसे मिलने आये है। दूसरे, उस समय मुझे हर समय यह चिन्ता रहती थी कि मेरे किसी कार्य से आप नाराज न हो जायँ और मुझे दड न भुगतना पडे, उसके बजाय अब मैं पूर्ण निराकुलता और निश्चिन्तता-पूर्वक रहता हूँ। जब इच्छा होती है सोता हूँ, जब इच्छा होती है उठता हूँ और अल्लाह की इबादत मे लग जाता हूँ।"

"यह तो अल्पकाल मे ही प्राप्त होने वाला प्रत्यक्ष लाभ है और अब, जबकि मैं एक मनुष्य की गुलामी करके खाने-पहनने को पाता था तो ससार के मालिक की गुलामी करके परलोक मे निश्चय ही कुछ ऐसा प्राप्त करूँगा जिसके सामने खाना-पहनना तुच्छ बात है अपितु वह ऐसा होगा जिसके सामने खाने-

पहनने की आश्यकता ही नही पडेगी। यानी मुझे फिर खाने-पीने और जन्म लेकर मरने की जरूरत नहीं होगी, मैं स्थायी सुख की प्राप्ति कर लूंगा।"

बादशाह फकीर की यह बात सुनकर बहुत चकित हुआ, किन्तु उसकी समझ मे आ गया कि फकीर ने मेरी नौकरी छोडकर जो खुदा की बन्दगी स्वीकार की है, वह मेरी नौकरी की तुलना मे अनेकानेक गुनी श्रेष्ठ है।

श्री भर्तृहरि ने भी कहा है —

> नाय ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि-
> स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषा वच ।
> चेतस्तानपहाय याहि भवन देवस्य विश्वेशितु-
> निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुप नि.सीमशर्मप्रदम् ॥

श्लोक मे मन को सबोधित करके कहा गया है—"रे मन ! जिनके द्वार पर यह सुनने को मिलता है कि 'मालिक से मिलने का यह समय नही है, वे इस समय एकान्त चाहते हैं, इस समय सो रहे है, अगर तुम्हे खडा देखेंगे तो कुपित होंगे, तो ऐसे मालिक का त्याग कर तू उन विश्वेश की शरण मे चल, जिनके द्वार पर रोकने वाला कोई दरवान नही हैं जहाँ निर्दय एव कठोर वचन कभी सुनने नही पडते। उलटे वे ईश्वर अनन्त एव शाश्वत सुख प्रदान करते है।"

वस्तुत सच्ची भावना एव निस्वार्थ तपस्या मे ऐसी ही अदभुत शक्ति होती है, पर आवश्यकता है उसके साथ सम्यक् श्रद्धा की। अगर व्यक्ति तप एव साधना करता भी चले, किन्तु उसके मन मे अपनी तपस्या के फल की सतत कामना बनी रहे और फल-प्राप्ति न होने पर सन्देह एव शकाओ के भूत मन मे ताडव करते रहे तो साधना एव तप मे शक्ति कहाँ रहेगी और कैसे इस लोक मे या परलोक मे उनका उत्तम फल प्राप्त होगा ?

दिखावे से लक्ष्य सिद्धि नहीं होगी !

आप जानते ही हैं कि दिखावे के कार्यों से उनका लाभ नही उठाया जा सकता। भले ही लोग इस लोक मे यश-प्राप्ति की कामना से पूजा-पाठ, जप-तप या भक्ति करलें, तथा मनुष्यो की आँखो मे धूल झोककर महात्मा कहलाने लग जायँ, किन्तु कर्मों की आँखो मे धूल झोककर परलोक मे सुख प्राप्त नही किया जा सकेगा। वहाँ तो वही फल मिलेगा जैसी यहाँ भावना रहेगी। कार्यों के अनुसार ही अगर भावना शुद्ध रहेगी तो परलोक मे उत्तम फल मिलेगा और उसे कोई भी रोकने मे समर्थ नही होगा। कहा भी है—

णेम चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ ।

—दशाश्रुतस्कन्ध ५।२

अर्थात्—निर्मल चित्त वाला साधक ससार मे पुन जन्म नही लेता ।

ध्यान मे रखने की बात है कि गाथा मे साधक के लिए निर्मल चित्त वाला होना आवश्यक बताया गया है। चित्त की निर्मलता को ही दूसरे शब्दो मे भावना की विशुद्धता कहा जाता है । अत जिस साधक की भावनाएँ निर्मल यानी शका, मिथ्यात्व या नास्तिकता के मल से रहित होगी वही अपनी साधना एव तपस्या का सही फल भी प्राप्त कर सकेगा ।

अब मैं 'दर्शन परिषह' के विषय मे कही गई दूसरी गाथा को आपके सामने रखता हूँ । वह इस प्रकार है—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।
मुस ते एवमाहसु, इइ भिक्खू न चिन्तए ।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २, गाथा ४५

भगवान ने फरमाया है कि भिक्षु कभी यह न सोचे कि जो लोग कहते है, जिन हुए, जिन है और जिन होगे, वे झूठ बोलते है ।

मैंने आपको बताया था कि जिस प्रकार अधा ससार की वस्तुओ को नही देख पाता तो भी वे होती है और जिन्हे दिखाई देता है वे उन वस्तुओ को देख लेते है । इसी प्रकार हम जिन बातो को अपने अज्ञानाधकार के कारण अथवा अत्यल्प ज्ञान के कारण नही जान पाते, उन्हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अथवा जिन्हे हम तीर्थंकर या जिन कहते है वे जान चुके है, देख चुके है । उन जिनो के वचनो को आप्तवचन कहा गया है, वही संगृहीत होकर जैनागम कहलाते है ।

खेद की बात है कि अश्रद्धालु श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी भी, जिन हुए है, जिन है और जिन होंगे, इस बात को असत्य समझ बैठते हैं । जैसा कि मैंने पूर्व मे बताया था, व्यक्ति अपने पूर्वजो को भी देख नही पाता पर वे हुए अवश्य थे, इसी प्रकार हमारे देख न पाने पर भी जिन हुए हैं यह अनुमान आदि प्रमाणो से स्वत सिद्ध है। अत इसमे सदेह या शका की बात ही नही है ।

भूतकाल मे राग-द्वेष को जीतने वाले केवली, अरिहन्त, सर्वज्ञ या जिन कह ले, वे हुए है और वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे 'बीस विहरमान' विद्यमान है जो वर्तमान के तीर्थंकर है, तथा भविष्य मे भी तीर्थंकर होगे । 'समवायाग' सूत्र के मूल पाठ मे भविष्य मे होने वाले चौबीसो तीर्थंकरो के नाम भी निर्देश कर दिये गये है जो कि अपने भरतक्षेत्र मे होने वाले है ।

नास्तिक इन यथार्थ बातो को गलत कहते हैं, किन्तु आस्तिक नही। मुनियो को भी नास्तिको के समान चिंतन नही करना चाहिए अन्यथा उनकी श्रद्धा लोप हो जायेगी और पतित होकर वे कही के भी नही रहेगे। हमारे आगम चौदह गुणस्थानो के विषय मे बताते है और कहते हैं कि परिणामो की धारा ज्यो-ज्यो उत्कृष्ट होती जायेगी त्यो-त्यो आत्मा प्रथम गुणस्थान से क्रमश ऊँची उठती चली जायेगी, यानी ऊपर-ऊपर के गुणस्थानो को प्राप्त करती जायेगी।

किन्तु अगर भावनाओ मे या परिणामो मे अश्रद्धा आ गई तो आत्मा कहाँ जाकर गिरेगी यह कहा नही जा सकता। गुणस्थानो की दो श्रेणियाँ होती है—(१) क्षपक एव (२) उपशम। उपशम श्रेणी वाले बाह्यरूप मे तो शात होते है, किन्तु आतरिक रूप से दोषपूर्ण बने रहते है। परिणाम यह होता है कि इस श्रेणी वाले व्यक्ति किसी तरह बारहवें गुणस्थान तक तो पहुँच जाते हैं, किन्तु वहाँ से सीधे नीचे तक आ गिरते है। उदाहरणस्वरूप, हम मकान मे दूसरी मजिल पर जाने के लिए सीढियाँ चढना प्रारम्भ करे और दस सीढियाँ चढ भी जायें, किन्तु उसके बाद ही असावधानी से पैर फिसल जाय तो दसो सीढियो पर से लुढकते हुए फर्श पर आ गिरते है। यह आवश्यक नही है कि दस सीढियो तक अगर हम चढ गए हैं तो अब नीचे तक आ ही नही सकते। इसी प्रकार उपशम श्रेणी वाले व्यक्ति भी दस गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं किन्तु जब भावना मे विकृति उत्पन्न होती है तो पुन सबसे नीचे आकर गिर जाते है।

किन्तु क्षपक श्रेणी वाली अन्य आत्माएँ सदा बाहर और अन्दर से शात एव समाधि-पूर्ण रहती है। इसके फलस्वरूप वे प्रत्येक गुणस्थान को पार करती हुई चढती चली जाती है, कभी गिरती नही। वे आत्माएँ निरतर कर्मों का क्षय करती हुई अन्त मे उनसे पूर्ण मुक्त हो जाती है।

पर ऐसा होता कब है? तभी, जबकि व्यक्ति अपनी श्रद्धा को अविचलित रखे तथा विषय-कषाय से परे रहे। आपको याद होगा एक उदाहरण मे मैंने बताया था कि जिनपाल और जिनरक्षित से यक्ष ने कहा था—"मैं तुम्हे ले चलता हूँ पर रयणा देवी तुम्हे फुसलाने का प्रयत्न करेगी। उस स्थिति मे अगर तुम्हारे मन मे फर्क आया तो मैं तुम्हे गिरा दूँगा।"

विषय-कषाय भी ऐसे ही मानव के मन को फुसलाया करते है तथा अपनी ओर आकर्षित करने के प्रयत्न मे रहते है। परिणाम यह होता है कि जो साधक जिस श्रेणी पर होता है, वही से नीचे आ जाता है। यहाँ गम्भीरता से सोचने की बात तो यह है कि व्यक्ति थोडा चढकर वहाँ से गिरेगा तो चोट कम

लगेगी, किन्तु अधिक ऊँचाई पर चढकर गिरेगा तो हाथ-पैर टूट जाएँगे तथा चोट भी अधिक आएगी।

साधु के लिए भी यही बात है। अरे भाई! तुमने गृह त्याग कर साधु का बाना पहना है तथा पच महाव्रत धारण करके उच्च पद को प्राप्त किया है, तो उस पद के अनुसार ही उत्तम साधना करो तथा अपनी भावनाओ को निर्मल रखो। अन्यथा गुणस्थान की उपशम श्रेणी के कारण बहुत ऊँचे चढकर नीचे गिरोगे तो तुम्हारी अधिक हानि होगी। अर्थात् तुम्हारी की हुई बहुत-सी साधना एव तपस्याएँ निरर्थक चली जायेंगी।

कहने का अभिप्राय भगवान का यही है कि साधु को सच्चे अर्थों मे साधुत्व का पालन करते हुए गुणस्थान की क्षपक श्रेणी को ही प्राप्त करना चाहिए। उपशम श्रेणी उस गदे पानी के समान होती है, जिसमे ऊपर से तो स्वच्छ जल दिखाई देता है, किन्तु नीचे कचरा, रेत या अन्य मलिनता जमी रहती है। इसके कारण तनिक-सी हिलोर आते ही पुन सारा पानी गदा हो जाता है और उससे वस्त्र, शरीर आदि किसी भी वस्तु की शुद्धि नही होती और न ही वह पीने के योग्य रहता है।

इसलिए जो साधक उपशम श्रेणी प्राप्त करके रह जाता है, उसके बाह्याचार मे तो शुद्धता दिखाई देती है, किन्तु अतर मे कषायो और विकारो की मलिनता जमी ही रहती है। परिणाम यह होता है कि तनिक से अशुभ सयोग के मिलते ही हृदय मे विकृत भावना की तरग उठ जाती है और अन्दर जमी हुई मलिनता बाह्य शुद्धता एव आचार-विचार को भी दोषपूर्ण बनाकर की हुई सम्पूर्ण साधना को निरर्थक बना देती है।

बडे-बडे ऋषि और मुनि इसी प्रकार विषय-विकारो के आकर्षण से मन की भावनाओ को पुन विकृत बनाकर साधना से च्युत हुए है और पतन के गहरे गर्त मे गिर चुके है।

एक श्लोक मे कहा भी है—

> विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
> स्तेऽपि स्त्रीमुखपकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
> शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा—
> स्तेषामिन्द्रिय निग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरं॥

भर्तृहरि ने इस श्लोक के द्वारा बताया है कि—"विश्वामित्र एव पराशर आदि अनेक बडे-बडे तपस्वी एव ऋषि ऐसे हो चुके है, जिनमे से कोई तो वायु ग्रहण करके रहता था, कोई केवल जल ग्रहण करके ही जीवन-निर्वाह करता था

और कोई वृक्ष के पत्तो पर ही जीवन चलाता था। किन्तु ऐसे घोर तपस्वी भी स्त्री का सुन्दर मुख देखते ही विकार-ग्रस्त होकर अपनी तपस्या या साधना से विचलित हो गये। ऐसी स्थिति मे घी, दूध एव दही मे युक्त 'शालि' यानी चावलो को खाने वाले तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों का सेवन करने वाले अगर अपनी इन्द्रियो का दमन करलें, तब तो विन्ध्याचल पर्वत ही जल मे तैरने लग जाय। तात्पर्य यह है कि रूखा-सूखा एव निस्सार पदार्थ ग्रहण करने वाले भी जब विकारो पर विजय प्राप्त नही कर पाते तो पौष्टिक भोजन करने वाले कैसे उन्हे जीत सकते हैं ?

बन्धुओ, इस श्लोक के अर्थ को ध्यान से समझना चाहिए। इसमे यही भाव दर्शाया है कि साधारण व्यक्ति तो सासारिक भोग-विलासो के बीच रहता है, इन्द्रियो की तृप्ति मे जुटा रहता है साथ ही पौष्टिक आहार ग्रहण करता हुआ आनन्द से जीवनयापन करता है अत उसके पतित होने मे कोई बडे आश्चर्य की बात नही है। किन्तु जो साधक शरीर-सुख को त्याग कर साधना के पथ को अपना लेता है तथा घोर तपस्या मे जुट कर कर्मों का क्षय करने मे सलग्न हो जाता है, वह कठिन व्रतो का धारक, अगर सयम, साधना या अपने तप-मार्ग से विचलित होकर पतन की ओर अग्रसर होने लगता है तो अत्यन्त आश्चर्य एव खेद की बात होती है। हानि भी उसी की अधिक होती है क्योकि वह बहुत कुछ पाकर उसे खोता है।

इसीलिए भगवान ने वैसे तो सभी व्यक्तियो को, जोकि ससार से मुक्त होने की इच्छा रखते है, दर्शन परिषह पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है लेकिन जो साधु मुक्ति की केवल कामना ही नही रखते अपितु मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग पर चल पडे हैं और काफी आगे बढ भी गये हैं, उन्हें तो पूर्णतया आदेश दिया है कि वे अपने मन को तनिक भी विचलित न होने दें, अश्रद्धा को मानस मे प्रवेश न करने दें तथा भगवान के वचनो पर स्वप्न मे भी सन्देह न करें। जो ऐसा करते हैं वे ही यह विचार मन मे लाते हैं कि—'जिन हुए हैं, जिन है और भविष्य मे भी जिन होंगे यह सर्वथा मिथ्या बात है।'

ज्ञान की तरतमता

अभी मैंने आपको बताया था कि जिन या केवलज्ञानी अनुमानादि प्रमाणो से स्वत सिद्ध हैं अत उनके अस्तित्व मे शका करने की आवश्यकता ही नही है। वैसे भी हम वर्तमान मे जो व्यक्ति हैं उनके ज्ञान की तरतमता को देखकर अदाज लगा सकते हैं कि इसकी अन्तिम सीमा भी अवश्य होगी।

इस ससार मे अनेकानेक मानव है और हम देखते ही हैं कि ज्ञानावरणीय

कर्म के कम या अधिक क्षयोपशम के कारण किसी की बुद्धि इतनी मोटी होती है कि वह चार अक्षर भी सुगमता से नही सीख सकता और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण बत्तीसो शास्त्र पढ लेते है, उन्हे समझ लेते है तथा आगम-वर्णित बातो को तथा सिद्धान्तो को कण्ठस्थ कर लेते हैं।

ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरणो से जब यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्तियो के ज्ञान मे तरतमता अवश्य है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानवृद्धि की चरम सीमा हो गई और इससे अधिक ज्ञानी न हुए है, न है और न होंगे ही। यह तो वही कूप-मडूक वाली बात हो गई कि कुए का मेढक कुए को ही ससार के विस्तार की सीमा समझ लेता है। अब उसके कहने से क्या ससार का विस्तार कुए से बडा रहा नही ? है नही ? और होगा नही ?

इसलिए साधक को ऐसी बात न सोचकर यह सोचना चाहिए कि आज भी जब व्यक्तियो के ज्ञान मे जमीन-आसमान की तरतमता पाई जाती है तो ज्ञान-वृद्धि की चरम सीमा अवश्य है और वह सर्वज्ञता या सर्वदर्शिता के रूप मे ही हो सकती है, क्योकि उससे अधिक ज्ञान क्या हो सकता है ? सर्वज्ञ सब कुछ जान लेता है और सब कुछ देख लेता है, कुछ भी और जानना और देखना उसके लिए बाकी नही रह जाता।

तो भले ही आज कोई व्यक्ति ज्ञान की उस चरम सीमा को न पा सके, किन्तु जबकि वह भूतकाल मे रही है, आज भी है और भविष्य मे भी रहेगी तो कुछ भव्य आत्माओ ने निश्चय ही ज्ञान की उस सीमा को पाया है और वे भव्य आत्माएँ तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन के नाम से सबोधित की गई है। पर वह सीमा प्राप्त कर लेना हँसी-खेल नही है और न थोड़े से शारीरिक या बौद्धिक श्रम मे हासिल की जा सकती है।

ज्ञान की चरम सीमा कैसे हासिल होती है ?

प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस आत्मा का जितने परिमाण मे कर्मक्षय या क्षयोपशम होगा उसकी उतनी ही ज्ञान वृद्धि होती चली जायेगी। आत्मा तो अपने स्वभाव से अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान का भडार है, किन्तु उसकी दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति को कर्म के प्रगाढ आवरण आच्छादित किये रहते हैं। उन आवरणो को जितने-जितने अशो मे दूर किया जायेगा उतने ही अशो मे ज्ञान का विकास होता चला जायेगा और जिस क्षण वे कर्म-जन्य आवरण सर्वथा दूर हो जाएँगे, ज्ञान अपनी अनन्तशक्ति सहित अन्तिम सीमा को प्राप्त कर लेगा अर्थात् कर्मरहित आत्मा सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी बन जायेगी।

किन्तु बधुओ ! इसके लिए अथक प्रयत्न की आवश्यकता है और वह भी एक ही जन्म मे ही नही वरन् अनेको जन्मो तक करना पडता है । अव प्रश्न उठता है कि वह प्रयत्न किस प्रकार किया जाता है जिससे सम्पूर्ण कर्मो का नाश हो सके और आत्मा अपने अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान को प्रकाशित कर सके ।

इसके लिए सर्वप्रथम तो साधक के हृदय मे सच्चे देव, गुरु एव धर्म पर विश्वास होना चाहिए तथा भगवान के वचनो पर अटूट आस्था होनी चाहिए । उसके पश्चात् उसे विषय-विकार अथवा राग-द्वेष को कम से कम करते हुए त्याग-तपस्यामय जीवन विताना चाहिए । कर्मो का वन्धन राग और द्वेप से ही होता है ।

प्रत्येक वेडी तोडनी होगी

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के वत्तीसवे अध्याय मे स्पष्ट कहा गया है—

रागो य दोसो वि य कम्मवीय,
कम्म च मोहप्पभव वयति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूल,
दुक्ख च जाईमरण वयति ॥

अर्थात्—राग और द्वेष ये दो ही कर्म के वीज है । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुत दु ख है ।

स्थानागसूत्र मे भी वताया गया है—

दुविहे च वधे ।
पेज्जवधे चेव दोसवधे चेव ।

अर्थात्—वधन के दो प्रकार हैं । एक प्रेम का वधन और दूसरा द्वेप का वधन ।

आप सोचेंगे कि द्वेप का वधन तो सही है और वह समझ मे भी आता है पर मोह का भी वन्धन होता है क्या ? उत्तर हाँ मे दिया जाता है । निश्चय ही मोह का वन्धन भी उतना ही मजवूत होता है, जितना द्वेष का । उदाहरण स्वरूप हम दो प्रकार की वेडियो को ले सकते है । एक वेडी होती है लोहे की और दूसरी सोने की । प्राणी दोनो से ही वँध सकता है और दोनो ही प्रकार की वेडियाँ उसे मजवूती से वांधे रहती हैं । पाप और पुण्य को ऐसी ही वेडियाँ कहा जा सकता है । लोहे की वेडी पाप कर्मों को समझ लीजिए और सोने की वेडी पुण्य कर्मों को ।

भले ही जीव पाप कर्मों मे जकडा रहकर दुःख पाता है और पुण्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग मे देव बनकर अपार सुखो का भोग भी कर लेता है। किन्तु जन्म-मरण के बन्धन से या संसार-कारागार से मुक्त वह तभी होता है, जबकि पाप और पुण्य, दोनो ही प्रकार की कर्म-बेडियाँ टूट जायँ।

भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी उनके बडे योग्य शिष्य थे। संयम, साधना एव तपश्चर्या आदि मे भी उत्कृष्ट थे किन्तु केवल अपने गुरु भगवान महावीर मे उनका अतीव मोह था। उनकी साधना के फलस्वरूप उनके केवलज्ञान की प्राप्ति का समय भी आ गया पर वह उन्हे प्राप्त नही हुआ जबकि उनसे छोटे गुरु-भाइयो को वह ज्ञान हासिल हो गया।

इस पर एक बार गौतम ने किंचित् खेद प्रगट करते हुए महावीर स्वामी से कहा— 'भगवन्! क्या कारण है कि मुझसे छोटे सन्त केवलज्ञान प्राप्त कर रहे है, किन्तु मुझे वह हासिल नही हुआ। क्या मेरी साधना मे कही त्रुटि हो रही है?'

यहाँ एक बात और मैं आज आपको बताना चाहता हूँ कि कर्म आठ होते हैं जो इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एव अन्तराय ।

ये आठो कर्म ही आत्मा को ससार-परिभ्रमण कराते है किन्तु जिन बाईस परिषहो का वर्णन मैं आपके समक्ष कई दिनो से रख रहा हूँ ये परिषह प्रत्येक कर्म के उदय से उदय मे नही आते अपितु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय एव अन्तराय इन चार कर्मों के कारण ही बाईस परिषह सामने आते हैं । अब मैं आपको यह भी बता देता हूँ कि किस कर्म के कारण कौन-कौन से परिषह उदय मे आया करते है ?

ज्ञानावरणीय कर्म—इसके उदय से प्रज्ञा एव अज्ञान परिषह का उदय होता है ।

अन्तराय कर्म—इसके कारण अलाभ परिषह होता है ।

वेदनीय कर्म—यह कर्म कई परिषहो को उदय मे लाता है यथा—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, मल, वध, रोग एव तृण परिषह । इस प्रकार ग्यारह परिषह केवल वेदनीय कर्म के कारण उदय मे आया करते है ।

अब आता है मोहनीय कर्म । यह दो प्रकार का होता है—चारित्र मोहनीय एव दर्शन मोहनीय ।

चारित्र मोहनीय—इस कर्म से अरति, अचेल, स्त्री, नैषेधिकी, याचना, सत्कार और आक्रोश परिषह उदय मे आते हैं ।

दर्शन मोहनीय—यह कर्म दर्शन परिषह को उपस्थित करता है । दर्शन परिषह के विषय मे यह जानना आवश्यक है कि अगर साधक इस परिषह को जीत ले तो अन्य परिषहो को अवश्य ही सरलतापूर्वक विजित कर सकता है । क्योकि जो व्यक्ति धर्म पर एव वीतराग प्रभु के वचनो पर दृढ श्रद्धा रखता है, वह अपने ऊपर आये हुए सभी कष्टो और सकटो को अपनी अविचलित श्रद्धा के बल पर समभाव से सहन कर सकता है ।

परिषहो के विषय मे अन्त मे कहा गया है—

ए ए परिषहासव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई ।। त्ति बेमि ।।

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, अ २—४६

गाथा मे कहा गया है—काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर के द्वारा प्रति-

पादित किये गये इन बाईस परिषहो को भली-भाँति जानकर साधु कहीं भी और किसी प्रकार से भी इनके उदय मे आने पर पतित न हो।

गाथा के अन्त मे एक और ध्यान देने योग्य बात है। वह यह कि इसके अन्त मे 'त्ति बेमि' शब्द है। इसका अर्थ है—'इस प्रकार मै कहता हूँ।' आपको जानने की उत्सुकता होगी कि यहाँ कौन किससे कह रहा है ? इस विषय मे भी मैं आपको प्रसग-वश सक्षिप्त रूप से बताता हूँ।

अभी गाथा मे आया है कि इन बाईस परिषहो का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया है। भगवान की वाणी को श्री सुधर्मा स्वामी ने सुना था और उन्होने भगवान के उपदेश को ज्यो का त्यो अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बताया। पर साथ ही 'त्ति बेमि' भी कहा। इस कथन से उनका आशय यह था, यानी उन्होने कहा—"हे शिष्य ! जैसा मैंने भगवान से सुना, वैसा ही तेरे सम्मुख कथन करता हूँ। इसमे मेरी अपनी बुद्धि नही है। यानी मैंने अपनी स्वय की कल्पना से कुछ नही कहा है।"

विचारणीय बात है कि भव्य आत्माओ मे कितनी सहजता, सरलता और अपनी प्रशसा करके यश-प्राप्ति की कामना का अभाव है। आज के लेखक और कवि तो जो लिखते हैं वह कुछ कही से और कुछ कही से, यानी किसी का कुछ और किसी का कुछ ले-लिवाकर ऊपर स्पष्ट शब्दो मे अपना नाम छपवा देते हैं। अनेक बार तो देखा जाता है कि पूरी की पूरी रचनाएँ ही लोग अपना नाम देकर छपवा डालते हैं। यह चौर्य-कर्म वे अपना नाम करके प्रसिद्धि पाने के लिए करते है, पर वे भूल जाते हैं कि इस कार्य के परिणामस्वरूप उन्हे बाद मे कर्मों से जूझना पडेगा। इससे अच्छा यही है कि वे अपनी बुद्धि और ज्ञान के अनुसार ही पूर्ण सरलता रखते हुए जितना उनके पास है, उतना ही लोगो के समक्ष रखे।

सरलता के विषय मे उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्याय मे कहा गया है—

"अज्जवयाए ण काउज्जुयय भावुज्जुययं भासुज्जुयय अविसवायण जणयई। अविसंवायणसपन्नयाए ण जीवे धम्मस आराहए भवइ।"

अज्जव यानी आर्जव, ऋजुता या सरलता। कहा है—ऋजुता से जीव काया यानी शरीर की सरलता, भाव यानी मन के विचारो की सरलता, भाषा की सरलता तथा अविसवाद अर्थात् प्रामाणिकता को प्राप्त करता है और अविसवाद से सम्पन्न होने पर धर्म का सच्चा आराधक बनता है।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि सुधर्मास्वामी निश्छल भाव से कहते

है—"हे जम्बू ! मैंने भगवान के उपदेशो मे प्रतिपादित बाईस परिषह तुम्हारे सामने ज्यो के त्यो रखे है। जो साधु इन्हे समझकर इनका वीरतापूर्वक सामना करेंगे, वे निश्चय ही अपने अभीष्ट की सिद्धि कर लेंगे।"

वस्तुत इस ससार मे व्यक्ति जो नश्वर वस्तुएँ पाना चाहता है, उनके लिए भी उसे कितना श्रम करना पडता है और कितना कष्ट भोगना होता है, तो फिर शाश्वत सुख की प्राप्ति विना कष्टो को सहन किये या विना परिषहो का मुकावला किये कैसे हो सकती है ? लक्ष्य जितना ऊँचा होगा, कष्ट भी उतने ही झेलने पड़ेंगे। हम चाहते है कि हमारी आत्मा अनन्तज्ञान की प्राप्ति करले और कभी न मिटने वाले सुख को हासिल करे, पर इतने महान् फल के लिए श्रम कुछ भी न करें तथा शरीर को भी कष्ट न पहुंचाएँ तो वात कैसे वन सकती है ?

परमात्मा का पद प्राप्त करने की इच्छा तो सभी की होती है, किन्तु उसके अनुरूप व्यक्ति साधना न करे, कुछ त्याग न करे, तप न करे और परिषहो को जीतने के लिए प्रयत्न भी न करे तो परमात्म-पद क्या आँखो के सामने पडी हुई कोई छोटी-मोटी वस्तु है जिसे इच्छा करते ही उठाया जा सके ? नही परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए तो वहुत साधना करनी होगी, यह भी सम्भव है इस एक जन्म तक ही नही, अनेक जन्मो तक भी करते जाना होगा। तव कही आत्म-मुक्ति सम्भव हो सकेगी। जो साधक इस वात को भली-भांति समझ लेगा वह दृढ कदमो मे सवर की आराधना करेगा तथा मार्ग मे आने वाले सम्पूर्ण परिषहो का पूर्ण आत्म-वल से सामना कर सकेगा और ऐसा करने पर एक न एक दिन उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी।

○

१२

सामान सौ बरस का, कल की खबर नही !

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

सवरतत्त्व पर हमारा विवेचन चल रहा है, उनमे से तीस भेदो का वर्णन हो चुका है। बाईस परिषह भी उन्ही के अन्तर्गत थे जिन पर विचार किया गया था। अब इकतीसवे भेद से क्रमश बारह भावनाएं भी बताई जाएँगी जो कि सवर मे ही कारण भूत होती हैं।

बारह भावनाओ मे से पहली भावना 'अनित्य भावना' कहलाती है। इस ससार मे जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सव अनित्य हैं, स्थायी नही। इस विषय पर पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी ने कहा है—

तन धन परिवार अनित्य विचार जैसे,
जामणी चमक जैसे सध्या को सोवान है।
ओस बिन्दु जल वुदवुदो सो धनुष्य जान,
पीपल को पान जैसे कुजर को कान है॥
स्वप्न माही सिद्धि जैसे, वादल को छाया मान,
सलिल जो पूर जैसे सागर तोफान है।
ऐसी जग रीत भाई भावना भरतजी ये,
कहत तिलोकरिख भाव से निरवाण है॥

पद्य मे कहा गया है कि 'शरीर, सम्पत्ति एव परिवार आदि सभी अनित्य हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि विजली की चमक और सायकाल का प्रकाश थोडे काल के लिए ही होता है।

सर्वप्रथम कवित्त मे तन की अनित्यता के विषय मे कहा गया है। आप

और हम भी इस शरीर की अनित्यता को सदा देखा करते हैं। यद्यपि इस शरीर मे रहने वाली आत्मा अनित्य नही है, वह शाश्वत है पर शरीर या जीवन शाश्वत नही है। किसी भी क्षण यह नष्ट हो सकता है। कोई व्यक्ति अल्प समय पूर्व स्वजन-परिजनो से हर्ष सहित वार्तालाप कर रहा है तथा हास्य-विनोद मे निमग्न है, किन्तु कुछ पलो मे ही उसके हृदय की धडकन रुक जाती है और जीवन का अत हो जाता है। कोई बैठा-बैठा भविष्य के ताने-बाने बुनता होता है कि अगले क्षण ही पृथ्वी पर लुढककर निश्चेष्ट हो जाता है। कोई पत्थर की ठोकर लगते ही इस लोक से प्रयाण कर जाता है और कोई किसी रोग के आक्रमण से यह शरीर छोड जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब तक जीवित है, नाना मनोरथो का सेवन करता रहता है तथा भविष्य की सैकडो योजनाएँ गढता रहता है, किन्तु काल आकर ऐसा झपट्टा मारता है कि प्राणी को पलभर का भी अवकाश दिये विना उठा ले जाता है और उसके मनोरथ तथा उसकी सम्पूर्ण योजनाएँ ज्यो की त्यो धरी रह जाती है। कहा भी है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नही।
सामान सौ बरस का कल की खबर नही ॥

वस्तुत यह शरीर मौत के चगुल मे जब फँस जाता है तो कोई भी शक्ति उसे छुडाने मे समर्थ नही होती और मानव के बरसो के लिए बनाये हुए प्रोग्राम एक पल मे ही स्वप्नवत् मिट जाते है। यह शरीर आज ठीक है पर कल इसका क्या होगा ? यह नही कहा जा सकता।

सनत्कुमार चक्रवर्ती, जिनके रूप की ख्याति चारो तरफ फैली हुई थी और स्वय उन्हे भी अपने सौन्दर्य पर बडा गर्व था, कहाँ जानते थे कि कल ही मेरे शरीर मे एक-दो नही, सोलह भयकर रोग घर कर लेंगे। इसीलिए हमारा धर्म बार-बार कहता है कि—'शरीर का गर्व मत करो, यह अनित्य है। इसका उपयोग जितना भी हो सके आत्म-साधना मे अविलम्ब करलो।'

जो महापुरुष इस बात को हृदयगम कर लेते है वे अपने शरीर को तनिक भी विराम नही देते तथा इससे पूरा-पूरा लाभ उठा लेते हैं। परिणाम यह होता है कि मृत्युकाल मे उन्हे तन छोडने का रचमात्र भी खेद नही होता, उलटे वे परम प्रसन्न और निश्चित दिखाई देते हैं।

मरने से भय कैसा ?

एक सत अपने जीवन की अन्तिम घडियाँ गिन रहे थे। उनके चारो ओर शिष्य समुदाय एव अन्य अनेक भक्त भी अत्यन्त उदास भाव से बैठे हुए थे।

किन्तु आश्चर्य की बात थी कि जहाँ उपस्थित अन्य सभी व्यक्ति दु खी एव शोकमग्न थे, स्वय सत अत्यन्त प्रसन्न एव हर्ष-विभोर दिखाई दे रहे थे। उनका चेहरा आत्मानद एव परम शाति से ओतप्रोत था।

यह देखकर एक भक्त से नही रहा गया और उसने पूछ लिया—"भगवन्! इस समय भी आपके चेहरे पर इतनी प्रसन्नता कैसे है? क्या आपको अपनी स्थिति के लिए तनिक भी दु ख या मायूसी नही?"

सत शातिपूर्वक धीरे-धीरे बोले—"भाई खेद कैसा? यह शरीर अनित्य है और एक दिन इसे छोडना होगा, यह तो मैं पहले ही जानता था। इस समय भी मुझे इसके छूटने का रचमात्र भी दु ख नही है। क्योकि प्रथम तो मैंने इसका पूरा लाभ ले लिया है, दूसरे मुझे यही लग रहा है कि मैं स्वय जहाँ हूँ वहाँ मृत्यु का आगमन होता ही नही। यानी मै केवल मेरी आत्मा को लेकर हूँ, उसकी मृत्यु तो होनी ही नही है। मेरा स्वरूप पूर्ण ज्योतिर्मय और शाश्वत है अत इस समय भी मैं उसी की साधना मे तल्लीन हूँ। अपने शुद्ध, अजर, अमर और अविनाशी उस चिदानन्दमय रूप के अलावा मुझे कुछ भी दिखाई नही दे रहा है। इसीलिए मेरे मन को किंचित मात्र भी खेद या भय किसी प्रकार का नही है। शरीर के अवश्यम्भावी परिवर्तन के लिए मैं किसलिए विचलित होऊँगा? तुम सबसे भी मेरा यही कहना है कि मेरे लिए किसी को दु ख करने की आवश्यकता ही नही है। यह तो और भी अच्छी बात है कि मैं इस जर्जर शरीर को त्यागने पर नवीन शरीर प्राप्त करूँगा और वह इसकी अपेक्षा मेरी साधना मे अधिक सहायक बनेगा।"

सत की बात सुनकर उपस्थित सभी व्यक्ति चकित हो गये और सत के कथन की यथार्थता का अनुभव करने लगे।

भक्त कवि 'दीन' ने भी अपने एक पद्य मे ससार की अनित्यता और आत्मा की अमरता पर एक सुन्दर कु डलिया लिखी है। वह इस प्रकार है—

जितना दीसे थिर नही, थिर है निरजन राम।
ठाट-बाट नर थिर नही, नाही थिर धन-धाम॥
नाही थिर धन-धाम, गाय, हस्ती अरु घोडा।
नजर आत थिर नही नाहि थिर साथ सजोडा॥
कहे दीन दरवेश कहा इतने पर इतना।
थिर निज मन सत शब्द नाहि थिर दीसे जितना॥

कुडलिया मे यही कहा है—इस ससार मे धन, धाम, गाय, घोडा, हाथी,

परिजन, पति, पत्नी जो भी दिखाई देते हैं, उनमे से कोई भी स्थिर नही है अर्थात् स्थायी नही है। स्थिर केवल निरजन राम एव सत्य है।

बधुओ, यहाँ राम से आशय आत्मा है। क्योकि आत्मा ही परमात्मा है, अगर इनके बीच रही हुई कर्मों की दीवार को गिरा दिया जाय। कहते भी हैं—'प्रत्येक के हृदय मे परमात्मा का निवाम है,' या 'घट-घट मे राम' है।

तो प्रत्येक मुमुक्षु को ससार की वस्तुओ की एव शरीर की अनित्यता की भावना सदा मन मे रखनी चाहिए। अगर यह भावना प्रतिपल हृदय मे रहेगी तो वह प्रथम तो शरीर का साधना मे पूर्ण सहयोग ले सकेगा, दूमरे अन्तकाल के समीप आने पर भी भयभीत या खेदखिन्न नही होगा।

जीवनोन्नति के चार अमूल्य सूत्र !

कहा जाता है कि एक वार किसी राजा ने भगवान वुद्ध से कहा—"गुरु-देव! मैं राज्य-कार्य मे इतना व्यस्त रहता हूँ कि आपका उपदेश भी वरावर नही सुन पाता अत कृपा करके मुझे सक्षेप मे जीवन को सफल वनाने का उपदेश दे दीजिए।"

वुद्ध ने उत्तर दिया—"राजन्! तुम्हारा कहना यथार्थ है कि तुम्हे वडी कार्य-व्यस्तता रहती है। अगर ऐसा ही है तो मैं तुम्हे चार बातें वताये देता हूँ। अगर उन चार सक्षिप्त बातो को सदा याद रखोगे तो तुम्हारा जीवन उन्नत और सफल वन जायेगा।"

अधे को क्या चाहिए? दो आँखें। राजा भी वुद्ध की वात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उत्सुकतापूर्वक बोला—

"भगवन्! इससे वढकर और क्या हो सकता है? चार वाते तो मैं वखूवी याद रख लूंगा, कभी भी उन्हे भूलूंगा नही। कृपया वताइये कि वे वातें कौन-कौन सी हैं।"

वुद्ध ने कहा—"पहली वात तुम यह याद रखना कि 'मैं वियोगधर्मी हूँ।' अर्थात्—इस ससार मे चेतन और अचेतन जो भी तुम्हे मिले हैं, उन सवका एक दिन वियोग होना निश्चित है। अगर इस बात को याद रख लोगे तो जगत की किसी भी वस्तु पर और किसी भी सम्वन्धी पर तुम्हारी आसक्ति अथवा मोह नही रहेगा।

"दूसरी वात केवल यह याद रखने की है कि 'मैं रोगधर्मी हूँ'।

"तीसरी यह कि मैं 'जराधर्मी हूँ'। और—

"चौथी यह कि मैं 'मरणधर्मी हूँ'।

"अगर इन बातो को तुम याद रखोगे कि ससार मे मुझे जो भी सयोग मिले है उनका वियोग होना है, शरीर के रोगी होने की सभावना है, वृद्धावस्था आने वाली है तथा मरण भी अवश्यभावी है तो फिर तुम अपने वैभव से निरासक्त एव शरीर से ममत्वरहित रहकर सदा शुभ कार्य करोगे और अन्याय, अत्याचार से बचकर पापो का उपार्जन नही करोगे।"

वस्तुत यही चार बाते प्रत्येक मानव को याद रखनी चाहिए क्योकि अनित्य भावना ही इनमे निहित है। प्रत्येक मनुष्य को ससार के समस्त पदार्थों को छोडना है तथा रोग, वृद्धावस्था या मृत्यु के बहाने यह शरीर त्याग देना है।

शरीर के समान ही धन भी अनित्य है। शरीर तो फिर भी मृत्यु के समय ही जीव से अलग होता है, यानी जीवन रहते उसे कोई दूसरा नही ले पाता, किन्तु धन, मकान, जमीन या वैभव की अन्य वस्तुएँ तो एक जीवन मे ही उसके पास से चली जाती है। आज एक व्यक्ति लखपति है तो कल वही मुट्ठी भर चने के लिए तरस सकता है। हिन्दुस्तान का जब विभाजन हुआ था, उस समय हम देखते थे कि हजारो व्यक्ति जो अपने शहर मे लखपति-करोडपति थे वे अन्यत्र जाकर भूखे पेट कई-कई दिन निकाला करते थे।

इस विषय मे शतावधानी पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने एक श्लोक लिखा है—

वातोद्वेलित दीपकाकुर समां, लक्ष्मीं जगन्मोहिनीम्।
दृष्ट्वा किम् हृदि मोदसे हतमते मत्वा ममश्रीरिति।
पुण्याना विगमेऽथवा मृतिपथे प्राप्तेऽप्रिय तत्क्षणात्।
अस्मिन्नेव भवे भवायुभयना तस्या वियोगः परम्॥

श्लोक मे धन की अतीव कामना रखने वाले मनुष्य को उद्बोधन देते हुए कहा है—'अरे मतिहीन पुरुष! लक्ष्मी की प्राप्ति करके तू इतना गर्व मत कर और न ही मन मे मोद का अनुभव कर। क्योकि यह अत्यन्त चचल है तथा किसी भी दिन तेरा साथ छोडकर पलायन कर सकती है। इस जगत्मोहिनी चचला को पाकर तू किसलिए इतराता है, जबकि यह जिस प्रकार तेरे पास आई है उसी प्रकार किसी भी समय किसी और के पास जा सकती है।

वायु के झोके मे दीपक की लौ जैसे कभी इधर और कभी उधर हो जाती है, ठीक वैसे ही लक्ष्मी भी कभी एक के और कभी दूसरे के पास पहुँच जाती है जब तक पल्ले मे पुण्य है, तब तक यह तुम्हारे पास रहेगी और जब पुण्य

समाप्त हो जायँगे, उसी क्षण अन्यत्र अपना निवास कर लेगी। इसे जाने के अनेक रास्ते है, जिनके द्वारा यह पलायन कर जाती है।

श्लोक मे कहा गया है कि लक्ष्मी या तो पुण्यो के समाप्त होने पर स्वय चली जाएगी और नही तो तुम्हें ही इसे यहाँ छोडकर मृत्यु-पथ पर अग्रसर हो जाना होगा। वास्तव मे ही मृत्यु का आगमन होने पर सम्पूर्ण धन-वैभव एव शरीर को पुष्ट बनाने वाली दवाइयाँ यो ही पडी रह जाती है और आत्मा रूपी हस अकेला चल देता है।

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है —

वने रहे बटना वनाए रहे भूषण भी,
अतर फुलेलन की शीशियाँ धरी रही।
तानी रही चाँदनी सोहानी रही फूल-सेज,
मखमल के तकियो की पकती करी रही॥
बने रहे नुसखे त्रिफले माजूम कन्द,
खुरस खमीरा याकूतियाँ परी रही।
उड गयो बीच मे ते हस जो सुन्दर हुतो,
वस यह शरीर अरु खोपरी परी रही॥

कवि ने कितना मर्मस्पर्शी एव हृदय को मथने वाला जीवन का चित्र खीचा है कि व्यक्ति ने सासारिक सुखो का उपभोग करने के लिए तथा अपने अह की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के आभूषण और सोने के बटनादि बनवाये, इत्र-फुलेल की भरमार की तथा सुख से सोने के लिए सुन्दर शय्या तैयार करवाई। किन्तु काल के आते ही शरीर मे स्थित, जीव-रूपी हस को उड जाना पडा और समस्त पौष्टिक पदार्थ एव नुसखे उसे रोक नही सके, यही पडे रह गये और पडी रही वह खोपडी, जिसमे उसके नाना मनोरथ, इच्छाएँ, कामनाएँ एव अभिलाषाएं कुछ समय पहले मौजूद थी।

इसीलिए महापुरुष एव हमारे धर्मग्रन्थ वार-बार मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि—"आत्मा के अलावा सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थ और जीवन क्षणिक तथा अनित्य हैं। अत समय रहते ही इस धन से परोपकार करके पुण्योपार्जन कर लो और शरीर से उत्तम साधना करते हुए सवर के मार्ग पर बढते रहो ताकि पूर्व कर्मों का क्षय हो सके।"

किन्तु ऐसा वही कर सकता हैं, जिसके हृदय मे 'अनित्य भावना' प्रतिपल

बनी रहती है और समय की भी जिसे कद्र होती है। महात्मा गाँधी से एक बार किसी ने कहा—

"आप दिन-रात कुछ न कुछ करते हुए व्यस्त रहते है, जबकि आपको अब कुछ अधिक विश्राम करके शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए।"

गाँधीजी उस व्यक्ति की बात का उत्तर देते समय भी किन्ही जरूरी कागजो को छाँटते हुए बोले—"भाई! शरीर को विश्राम देने से क्या होगा? यह तो ठीक वक्त पर जाएगा ही, फिर मैं इन मिले हुए जीवन के कुछ क्षणो को निरर्थक क्यो जाने दूँ? मुझे तो एक पल भी व्यर्थ जाने देना अच्छा नही लगता।"

'कीमत बढती जायगी!'

इसी प्रकार का उदाहरण मिस्टर फ्रेंकलिन का है। उनके हृदय मे भी समय का मूल्य महान् था।

एक बार वे अपनी पुस्तको की दुकान के भीतरी कार्यालय मे पत्र के सम्पादन मे निमग्न थे। उस समय एक व्यक्ति दुकान मे आया और काफी देर खोज-बीन करके एक पुस्तक लेने के लिए छाँटी। तत्पश्चात् उसने दुकान के कर्मचारी से पूछा—"इस पुस्तक की क्या कीमत है?"

क्लर्क ने उत्तर दे दिया—"एक डालर।"

इस पर वह क्लर्क से पुस्तक के दाम कुछ कम करने का आग्रह करने लगा किन्तु वह नही माना। इस पर व्यक्ति ने पूछा—"क्या फ्रेंकलिन इस समय अन्दर है?"

"जी हाँ, वे कार्यालय मे काम कर रहे है।" कर्मचारी ने उत्तर दिया।

व्यक्ति बोला—"तनिक उन्हे बुला लाओ!"

क्लर्क अन्दर गया और फ्रेंकलिन को बुला लाया। ग्राहक ने उनसे कहा—"मिस्टर फ्रेंकलिन! इस पुस्तक के कम से कम दाम आप क्या लेंगे?"

उत्तर मिला—"सवा डॉलर।"

"वाह! आपके क्लर्क ने तो अभी इसका मूल्य एक डॉलर बताया था आप सवा डॉलर कह रहे है?"

फ्रेंकलिन ने चटपट उत्तर दिया—"इसका मूल्य एक डॉलर ही है पर आपने मेरे काम मे हर्ज करके समय बिगाडा है अत अब सवा डॉलर हो गया।"

ग्राहक ने समझा फ्रेंकलिन मजाक कर रहे है अत वह बोला—"अच्छा अब ठीक-ठीक वताइये कि इसका मैं क्या दाम दूँ ?"

"डेढ डॉलर ।" तुरन्त ही फ्रेंकलिन बोल उठे ।

ग्राहक चौंक पडा और बोला—"यह क्या बात है ? अभी आपने स्वय तो इसका मूल्य सवा डॉलर कहा था और अव डेढ डॉलर कह रहे है ?"

फ्रेंकलिन ने स्पष्टतापूर्वक उत्तर दिया—"मेरे समक्ष समय की वहुत बडी कीमत है क्योकि मैं इसका मूल्य जानता हूँ और अब आप मेरा जितना-जितना समय नष्ट करेंगे, पुस्तक की कीमत उतनी ही बढती जाएगी ।"

पुस्तक का खरीददार यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हुआ और चुपचाप डेढ डॉलर देकर पुस्तक ले गया ।

जान-बूझकर कुए मे

समय की कद्र करने वाले महापुरुष इसी प्रकार अपना एक-एक क्षण सार्थक करते है और धन का या तन का पूरा-पूरा लाभ उठाते है । वे भली-भाँति जानते है कि ये दोनो अनित्य हैं और अगर इन्हे निरर्थक जाने दिया तो अन्त मे पश्चाताप करना पडेगा ।

आप कहेगे कि—"यह तो हम भी जानते है और देखते ही है कि लक्ष्मी और जिन्दगी दोनो ही अनित्य व अस्थिर हैं, भला इसमे कौन-सी नई या आश्चर्यजनक बात है ?"

आपका विचार करना ठीक भी है पर जो ठीक नही है वह यही कि आप जानते-बूझते हुए भी उल्टे कार्य करते हैं । आप जानते हैं कि धन अनित्य है, यह एक दिन हमे छोडकर जा सकता है या हमी इसे छोडकर जाएँगे । किन्तु फिर भी आप हजार हो तो लाख और लाख हो तो करोड रुपये बनाने के फेर मे सदा रहते हैं । धन आत्मा के साथ नही जाता, यह जानते हुए भी तो आप इसका पीछा नही छोडते । क्या आप ऐसा नहीं करते ? अवश्य करते है । आप मे से अधिकाश व्यक्ति ऐसे होंगे जिनके पास आवश्यकता से अनेक गुना अधिक पैसा है, पर तव भी क्या कमाई करना छोड चुके हैं ? नही, वह तब तक करते रहेगे जब तक आप से होता रहेगा । तो ऐसे जानने से क्या लाभ हुआ ? जानते हुए भी अगर व्यक्ति गड्ढे मे गिरे तो क्या वह सच्चा जानकार कहला सकता है ? नही, उसकी जानकारी बाहरी है । सच्ची जानकारी आत्मिक होती है और जिसकी आत्मा इन बातो को समझ लेती है वह व्यक्ति जानकर फिर कभी गड्ढे मे नही गिरता । धन-लिप्सा भी वडा गहरा गर्त है । अगर आप इस गर्त की गहराई को समझते है तो फिर इस लिप्सा का त्याग क्यो नही

करते ? क्यो जान-बूझकर इस लालसा रूपी गड्ढे मे दिन-प्रतिदिन ही क्या जीवनभर ही गहरे उतरते चले जाते है ?

आप पुन. कहेगे—हम यह भी भली-भाँति जानते है कि एक दिन इस शरीर को छोडना है। पर इस जानकारी को ही क्या जानकारी कहते है ? अगर ऐसा है तो फिर इस शरीर से तपस्या एव साधना करके अपने कुछ कर्मो का क्षय क्यो नही करते ? परिषहो को समभावपूर्वक सहकर सवर के मार्ग पर क्यो नही बढते ? मैं तो अनुभव करता हूँ कि शरीर की अनित्यता को जानते हुए भी आप प्रात काल एक नमोक्कारसी भी नही करते। ऐसा क्यो ? इसीलिए कि, मात्र चालीस मिनिट का खान-पान छोड देने से आपके शरीर को कष्ट होता है। पर अस्थिर और अनित्य शरीर की फिर इतनी फिक्र क्यो ? इससे तो बहुत अधिक काम लेना चाहिए, जिससे आत्मा का भला हो सके जो नित्य या शाश्वत है।

मैं इसीलिए कहता हूँ कि महापुरुषो को ही ससार की अनित्यता का वास्तविक ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान होने पर फिर वे तन या धन मे ममत्व रख ही नही सकते। अन्यथा ज्ञान का होना न होना बराबर है। आपको भी ऐसा ही ज्ञान हासिल करके धन का तथा तन का सदुपयोग करना चाहिए और इनसे अधिकाधिक लाभ आत्मा को कर्मो से अनावरण करने मे लेना चाहिए।

श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने पद्य मे तन और धन के पश्चात् परिवार को भी अनित्यता बताई है। लोग सोचते हैं—"मेरे माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र, मित्र या चिरसगिनि पत्नी है, फिर और क्या चाहिए ?

पर कवि वाजिद कहते हैं—

> नहि है तेरा कोय नही तू कोय का,
> स्वारथ का ससार बना दिन दोय का।
> मेरे-मेरे मान फिरत अभिमान मे,
> इतराते नर मूढ एहि अज्ञान मे।

कवि का कहना यही है कि ससार के सभी सगे-सम्बन्धी स्वार्थ से नाता रखते है, तुझसे नही, इसलिए न तेरा कोई है और न तू किसी का। माता-पिता अपने बेटे को सपूत तब कहते है जब वह उनकी सेवा-चाकरी करता है और पत्नी तभी प्रसन्न रहती है जब पति खूब कमा कर उसका भली-भाँति पालन-पोषण करता है तथा वस्त्राभूषण बनवाता है। अगर व्यक्ति किसी कारण से धन-प्राप्ति नही कर पाता तो माता-पिता और पत्नी भी क्षणभर मे उसे निखट्टू कहकर भर्त्सना करने से नही चूकते। ऐसा ही सभी सम्बन्धियो के लिए

होता है। अगर किसी के पास खूब धन है और उसके द्वारा वह अपने बन्धु-बाधवो की तथा मित्र-दोस्तो की खातिरदारी कर सकता है तो वह सबका प्रिय बन जाता है। पर अगर वही व्यक्ति दुर्भाग्यवश दरिद्र हो जाय तो सभी उसकी ओर से कबूतर के समान आँखें फेर लेते हैं। कहने का आशय यही है कि ससार के सम्बन्धियो से जो प्रेम का नाता होता है वह अस्थिर होता है और किसी भी कारण से, कभी भी टूट जाता है।

इसके अलावा मृत्यु भी प्रिय से प्रिय सम्बन्धी के वियोग का कारण बन जाती है। आपने सुना होगा कि सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र गगा नदी को लाने के लिये गये। लेकिन न गगा नदी आई न उनके पुत्र वापिस लौटे। सब के सब मिट्टी मे दब गये।

यह समाचार भी सगर को उनकी कुलदेवी ने आकर दिया। वह एक बुढिया के रूप मे आई और चक्रवर्ती के समक्ष रोने लगी। कारण पूछने पर उसने बताया—'मेरा पुत्र मर गया है।'

सगर चक्रवर्ती ने यह सुनकर उसे समझाया कि इस ससार मे जन्म-मरण तो प्रत्येक जीव के साथ लगा ही रहता है, जिसका सयोग होगा, उससे वियोग होना अवश्यम्भावी है अत तुम दुख मत करो। इस पर वृद्धा ने उन्हें उनके साठ हजार पुत्रो की मृत्यु का समाचार दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस ससार मे धन, तन एव परिवार के लिए यही विचार रखना चाहिए कि ये सब अनित्य हैं और किसी भी समय इनका वियोग हो सकता है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग यह सब अपनी आँखो से देखते हुए भी शिक्षा नही लेते। विरले ही भव्य पुरुष ऐसे होते हैं जो यथार्थता का अनुभव करते हैं तथा सासारिक कर्त्तव्यो का पालन करते हुए भी जल-कमलवत् ससार से उदासीन एव विरागी रहते हैं।

श्मशानिया वैराग्य

एक बार महात्मा कबीर से कोई व्यक्ति आवश्यक कार्य से मिलने आया। उस समय कबीर जी किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने से शव-यात्रा मे सम्मिलित होकर श्मशान गये हुए थे।

आगन्तुक बडी दूर से आया था और शीघ्र ही कबीर से मिलना चाहता था। अत उनकी पत्नी ने कहा—

"आपको जल्दी है तो श्मशान की ओर जाकर ही उनसे मिल लीजिये।"

यह सुनकर वह व्यक्ति हैरान होता हुआ बोला—

"बहन, मैं उन्हे पहचानता कहाँ हूँ ? वहाँ तो अनेक व्यक्ति होंगे, भला उनके बीच मैं कबीर जी को कैसे खोज पाऊँगा ?"

कबीर जी की पत्नी ने आगन्तुक की बात सुनकर मुस्कुराते हुए कहा—"भाई ! उन्हे खोजना तनिक भी कठिन नही होगा। तुम ध्यान से देखोगे तो पता चल जाएगा कि श्मशान के अन्दर तो उपस्थित सभी व्यक्तियो के मुँह लटके हुए होंगे और वैराग्य की झलक उन पर दिखाई देगी। किन्तु वहाँ से बाहर आते ही सब हँसी-खुशी के साथ वार्तालाप करते हुए लौटेंगे। केवल कबीर जी के चेहरे पर ही स्थायी गम्भीरता, शान्ति, वैराग्य एव मध्यस्थ भाव होगा। इस पहचान से तुम फौरन उन्हे जान लोगे।"

वास्तव मे ही यह बात सोलहो आने सत्य है। मै भी लोगो से सुनता हूँ कि नेत्रो के सामने मुर्दा रखा होने पर और अपने हाथो से उसे जलाने पर भी व्यक्तियो के मन मे विरक्त भावना या अन्य कोई फर्क नही आता। श्मशान मे कुछ समय ज्यादा लगने पर कई व्यक्ति तो इधर-उधर होकर बीडी-सिगरेट पी आते हैं या मृत प्राणी अगर स्त्री होती है तो उसके जीवित पति के विवाह की बाते करने लग जाते है। कई बार तो विवाह-सम्बन्ध श्मशान मे ही करीब-करीब पक्के हो जाते हैं, केवल दस्तूर करना बाकी रहता है। यह कार्य वहाँ इसलिए सरल होता है कि बहुत से व्यक्ति श्मशान मे इकट्ठे होते हैं और वहाँ अन्य कुछ कार्य नही होता अत ऐसे उत्तम समय का वे लोग उत्तम सदुपयोग कर लेते हैं। दूसरे जिनकी लडकियाँ होती हैं, वे यह सोचते है कि हमारे बात करने से पूर्व ही अन्य बेटी वाला यह रिश्ता तय न कर ले। इसलिए पत्नी के फूंके जाने से पूर्व भी दूसरा विवाह पक्का हो जाता है।

ऐसी बाते सुनकर मन को बडा आश्चर्य और खेद होता है कि मानव मृत्यु-ग्रस्त प्राणी को देखकर भी जागृत नही होता। जागृत से अभिप्राय चक्षु-इन्द्रिय के खुलने मे नही, अपितु विवेक और ज्ञान के नेत्रो के खुलने से है। उन्ही के द्वारा आत्मा की दशा दिखाई देती हैं और उन्ही के द्वारा कर्म-फल का सच्चा अन्दाज लगाया जा सकता है। अपने ज्ञान-रूपी नेत्रो को खोलने पर ही व्यक्ति 'अनित्य भावना' के सच्चे स्वरूप को समझ सकता है तथा ससार की वास्तविकता को जानकर उसमे निरासक्त रहता हुआ आत्म-साधना मे सलग्न होता है।

अनित्य भावना ही मनुष्य को महसूस करा सकती है कि यह ससार ओस बिन्दु के समान, वर्षाकाल मे दिखाई देने वाले इन्द्रधनुष के समान तथा समुद्र मे आने वाले तूफान के समान अस्थायी और स्वप्नवत् है। स्वप्न मे मानव नाना प्रकार के दृश्य देखता है, तथा कभी-कभी तो अपने आपको राजा बन गया

देखकर खुशी से फूला नही समाता। किन्तु वह स्वप्न कितनी देर का होता है ? कुछ क्षणो के पश्चात् ही जब नीद खुलती है तो उसका सम्पूर्ण राज्य-पाट विलीन हो जाता है।

पूज्यश्री अमीऋषिजी महाराज ने इस सम्बन्ध मे एक बडा सुन्दर और पद्यमय उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है—

एक महामूढ अविवेकवत्त स्वपन मे,
हुवो अति चतुर पण्डित सरदार है।
सिद्धात पुरान वेद न्याय तर्क ग्रन्थ कोप,
काव्य श्लोक व्याकरण छद को उच्चार है ॥
बहोत्तर कला विद्या चउदे निपुण भयो,
करि-करि वाद जीत्या पण्डित अपार है।
जाग्यो तब अक्षर न याद रह्यो एक तस,
अमीरिख कहे तैसो जाणिये ससार है ॥

दृष्टात बडा हास्यप्रद किन्तु शिक्षाप्रद भी है। कहते है कि एक महामूर्ख एव अविवेकी व्यक्ति ने स्वप्न मे देखा कि वह बडा भारी विद्वान एव पण्डितो का सिरमौर बन गया है। समस्त वेद, पुराण, न्याय एव तर्क शास्त्र पढकर व्याकरण के अनुसार काव्य, श्लोक एव छन्दो का सुन्दर एव शुद्ध उच्चारण कर रहा है। इतना ही नही बहत्तर कलाओ एव चौदह विद्याओ मे भी निपुणता प्राप्त कर चुका है तथा अनेक विद्वानो को वाद-विवाद मे परास्त कर विजयी बन गया है।

इतना होने पर स्वाभाविक ही था कि वह अपार हर्ष एव गर्व से भर गया, किन्तु अफसोस कि स्वप्न समाप्त होते ही उसे अपने ज्ञान के भण्डार मे से एक भी अक्षर याद नही रहा। कवि का कथन है कि ठीक उस मूर्ख के स्वप्न के समान ही यह ससार भी है। फर्क इतना ही है कि उस मूढ ने स्वप्न मे जो कुछ भी किया, उसका कोई दुष्परिणाम उसके जागने पर सामने नही आया, किन्तु इस ससार मे मानव जो-जो भी अधर्म या पाप-कर्म करता है, उनका फल उसे इस स्वप्नवत् ससार के मिटने पर भी भोगना पडता है। इसलिए उसको बहुत ही सावधान रहकर अपने जीवन को निर्दोष बनाना चाहिए। जो ऐसा नही कर पाते हैं, अर्थात् अपने जीवन को धर्ममय नही बनाते हैं वे निश्चय ही अन्त मे पश्चात्ताप करते हैं।

भक्त दीन दरवेश ने भी मनुष्य को कडी चेतावनी देते हुए कहा है—

बदा करले बदगी, पाया नर-तन सार ।
जो अब गाफिल रह गया, आयु बहे झखमार ।।
आयु बहे झखमार कृत्य नहिं नेक बनायो ।
पाजी, बेईमान कौन विधि जग मे आयो ।।
कहत दीन दरवेश फस्यो माया के फदा,

यह कुण्डलिया पद्य सुनकर आप सोचेंगे कि सन्त ने मनुष्य को पाजी और बेईमान कहकर अपमानित किया है ।

पर बन्धुओ, सन्तो को किसी से लेना-देना नही है । वे तो पर-दया यानी समस्त अन्य प्राणियो मे रही हुई आत्माओ की दशा से दयार्द्र होकर किसी भी प्रकार मानव को सावधान करने का प्रयत्न करते है ताकि वह माया और प्रपच मे फँसा रहकर कर्मों का भार बढाते हुए अपनी आत्मा को कष्टो की आग मे न झोके । पापो के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले घोर दु खो के मुकाबले मे ये हित-भावना से दी हुई गालियाँ सिंधु मे बिन्दु के समान भी कष्टकर नही ह । अत उन्हे गालियाँ न समझकर उपदेश समझना चाहिए ।

भरत चक्रवर्ती थे पर अगुली से एक अगूठी के गिरते ही उन्होने एक-एक करके शरीर से समस्त आभूषण उतारे और ससार की अनित्यता को इतनी गहराई और आत्मभावना से सोचा कि उसी समय, महल मे बैठे-बैठे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई । आशा है आप भी अपनी अनित्य-भावना को बढाकर जीवन का सच्चा लाभ उठाएँगे ।

○

१३

सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे...

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने सवरतत्त्व के अन्तर्गत आने वाली बारह भावनाओ मे से प्रथम 'अनित्य-भावना' के विषय मे विवेचन किया था। साथ ही यह भी बताया गया था कि भरत चक्रवर्ती छ खण्ड के अधिपति थे, किन्तु अँगुली से एक अगूठी के निकल कर गिर जाने का ज्यो ही निमित्त मिला, उन्होने एक-एक करके समस्त आभूषण शरीर से अलग कर दिये। उस दौरान उन्हे यही विचार आया "अरे, इस शरीर का सौन्दर्य जड आभूषणो से है, स्वय इसमे क्या सुन्दरता है ? कुछ भी नहीं। केवल मास, मज्जा, रक्त और हड्डियाँ ही तो इसमे है, जो मेरी आत्मा के निकलते ही दुर्गन्धमय एव फूंक देने योग्य ही रह जाएँगी। इससे स्पष्ट है कि जब यह शरीर ही मेरा नही है तो ये आभूषण, धन, वैभव, राज-पाट और मुझे अपना कहने वाले स्वजन-सम्बन्धी मेरे कैसे हुए ? निश्चय ही इस आत्मा के अलावा ससार मे विद्यमान सभी कुछ मुझसे 'पर' है तथा इससे वियोग होना अवश्यभावी है। यह सभी अनित्य है और अनित्य से मोह रखने पर मेरा क्या लाभ होगा ? लाभ तो केवल आत्मा को सुखी बनाने मे है और वह सासारिक प्रपचो के बढाने से या इसमे गृद्ध रहने से सुखी नही बन सकती। आत्मा सुखी तभी बन सकेगी, जबकि इस अनित्य ससार से मुँह मोडकर अपने अन्दर झाँका जायेगा और अन्दर रही हुई आत्मा की अनन्तज्ञान, दर्शन एव चारित्रमय सुन्दरता को कर्म-मैल हटाकर ज्योतिर्मान बनाया जायेगा। इसलिए मुझे बाह्य और अनित्य जगत से कुछ भी लेना-देना नही है केवल अपनी आत्मा को परखना है।"

इस प्रकार भरत महाराज ने अनित्य-भावना को इस उत्कृष्टता से भाया कि उन्हे उसी समय केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिसके लिए साधक वर्षों

साधना करते है । भव्य आत्माएँ इसी प्रकार तनिक सा निमित्त मिलते ही जागृत हो जाती है, जबकि साधारण व्यक्ति वर्षों उपदेश सुनते हुए भी, व्यापार मे लाखो का नुकसान होते हुए भी और अपने हाथो से सम्बन्धियो के मृत शरीरो को फूंकते हुए भी यह नही समझ पाते कि आखिर जिस शरीर को सुखी बनाने के लिए हम रात-दिन प्रयत्न करते है, शक्ति का ह्रास करते है और दुर्लभ जीवन के अमूल्य समय को निरर्थक गँवाते है उसमे है क्या ?

कवि सुन्दरदास जी कहते है —

जा सरीर माहि तू अनेक सुख मान रह्यो,
ताहि तू विचार या मे कौन बात भली है ?
मेद मज्जा मास रग-रग मे रकत भर्यो,
पेट हू पिटारी सी मे ठौर-ठौर मली है ॥
हाडन सूँ भर्यो मुख हाडन के नैन नाक,
हाथ-पाँव सोऊ सब हाडन की नली है ।
सुन्दर कहत याहि देखि जनि भूलै कोई,
भीतर भगार भरी ऊपर तो कली है ॥

इस प्रकार कवि ने शरीर की वास्तविकता और अनित्यता बताते हुए मनुष्य को उद्बोधन दिया है—"भाई ! जिस शरीर को प्राप्त करके तू बडा प्रसन्न हो रहा है भला बता तो सही कि इसमे कौन-सी चीज उत्तम है ? केवल मास, मज्जा, रक्त और हड्डियो का ढाचा ही तो है इसमे । इतना अवश्य है कि इसके ऊपर चमडी की खोली चढी है जो इन नेत्रो को सुन्दर दिखाई देती है, पर यह तो वही बात हुई, जैसे कचरे के ढेर पर कुछ मोगरे की कलियाँ डाल दी गई हो । क्या इससे अन्दर की मलिनता मिट जायेगी ? नही, वह वैसी की वैसी रहेगी । दूसरी सबसे बडी बात यह है कि शरीर मे भीतर या बाहर जो कुछ भी है, वह भी तो नित्य रहने वाला नही है, अनित्य है । जिस दिन आत्मा रूपी हस इस पिंजरे को छोड जायेगा, यह सब ले जाकर फूंक दिया जाएगा । इसलिए इसे सुन्दर मानकर अपना समझने की भूल मत करो, अपितु केवल इसमे रहने वाली जो आत्मा है, उसे सुन्दर बनाने का एव कर्मों की मलिनता से मुक्त करने का प्रयत्न करो ।"

वास्तव मे यह कथन यथार्थ है और इसे ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को, संसार की अनित्यता को समझते हुए आत्मा की नित्यता पर

विश्वास रखे तथा उसकी शुद्धि का प्रयास करता रहे तो अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना सकता है।

अशरण भावना

अब मैं आपको दूसरी भावना के विषय मे बताने जा रहा हूँ। बारह भावनाओ मे से दूसरी है—'अशरण-भावना'। इस भावना को हृदय मे सतत भाते हुए मानव को विचार करना चाहिए कि इस जीव को ससार मे कोई भी शरण देने मे समर्थ नही है।

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने इस विषय मे फरमाया है—

जन्म जरा रोग मृत्यु दु खसुख दान एह,
वेदनी के वश जीव होवत हैरान है।
माता-पिता भ्रात नारी पुत्र परिवार सब,
नही हैं सहाई गिने आतम समान है॥
जिन राज धर्म तोय तारण शरण गति,
एहि बिना कर्म करे अधिक तोफान है।
ऐसे थे अनाथी ऋषि, भाई शुद्ध भावना ये,
कहत त्रिलोक भावे सो ही शिव स्थान है॥

बडे सरल और सीधे-सादे शब्दो मे कविश्री ने बताया है कि जीव जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेकानेक दु खो को वेदनीय कर्म के कारण भोगता है तथा अत्यन्त हैरान बना रहता है। पर मेरा-मेरा कहने वाले माता-पिता, स्त्री, पुत्र या भाई आदि कोई भी उसे इन दु खो से छुडाने मे समर्थ नही होता।

क्योकि, अगर ऐसा होता तो अनाथी मुनि के शरीर मे उत्पन्न हुई भयानक व्याधि को उनके माता-पिता या अभिन्नता का प्रदर्शन करने वाली स्नेहमयी पत्नी मिटा देती। पर ऐसा नही हुआ क्योकि होना समव नही। वृहत् परिवार चारो ओर इकट्ठा होकर हाथ मलता रहा और अनाथी मुनि को अश्रुपूर्ण नेत्रो से देखता रह गया।

एक कवि ने ठीक ही कहा है—

कर करके उपचार न मैंने स्वजन बचा पाये हैं।
गये पुराने स्वय, स्वय ही नये-नये आये हैं॥
कौन बचायेगा मुझको जब मृत्युदूत घेरेंगे।
आस-पास हो खडे स्वजन सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे॥

वस्तुत जब मृत्यु काल आता है, कोई भी दवा और कैसा भी उपचार कारगर नही होता। स्वजन-सम्बन्धी रोते-धोते है, शोक करते है किन्तु व्यक्ति को व्याधियो के चगुल से नही बचा पाते।

पैसे वाले व्यक्ति अपने पुत्र के बराबर धन तौलकर देना चाहे, या उससे भी कई गुना बडा ढेर लगाकर अपने बेटे को बचाना चाहे, तब भी असफल रहते है। अनाथी मुनि के लिए भी यही हुआ। उनके पिता का नाम धनसचय था। नाम के अनुसार ही उन्होने अपार सम्पत्ति एकत्रित भी कर रखी थी। अपने पुत्र को व्याधि-मुक्त करने के लिए उन्होने पैसा पानी की तरह बहाया और वैद्य-हकीमो की कतार लगा दी, किन्तु पैसा रोग नही मिटा सकता था अत नही मिटा पाया। कहा भी है—

> अक्षय धन परिपूर्ण खजाने शरण जीव को होते।
> तो अनादि के धनी सभी इस भूतल पर ही होते॥

अर्थ स्पष्ट है कि धन अगर जीव को शरण देकर व्याधि-मुक्त कर सकता या कि मृत्यु से बचा सकता तो अनादि काल से जो कुबेर के समान धनी, चक्रवर्ती और तीन खण्डो के अधिपति हो चुके है, वे इस पृथ्वी को छोडकर जाते ही क्यो? अपने अथाह धन के बल पर वे समस्त रोगो को और मृत्यु को जीत लेते। पर ऐसा कभी नही हो सका है, क्योकि धन कितना भी अधिक क्यो न हो, वह जीव को शरण नही दे सकता।

अनाथी मुनि ने भी जब देखा कि मैं किसी भी उपाय से रोग-मुक्त नही हो रहा हूं तो उन्होने मन ही मन धर्म की शरण ली तथा विचार किया— "अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो क्षमावान, इन्द्रियो का दमन करने वाला तथा आरम्भ-समारम्भ रहित अनगार धर्म को धारण करूँगा।" आश्चर्य की बात है कि ज्योंही उनके मन ने ऐसी धारणा की, त्योंही रोग घटने लगा और एक रात मे ही वे स्वस्थ हो गये। धर्म का कैसा अद्भुत प्रभाव और चमत्कार था।

इसीलिए प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने भी 'अशरण भावना' के अन्तर्गत लिखा है—

> रागजयी प्रभु साधु और जिन धर्म पूर्ण भयहारी।
> ये इनका शुभ शरण यही है अनुपम मगलकारी॥
> भव-अरण्य मे है शरण्य इनके अतिरिक्त न दूजा।
> मन-मन्दिर मे इनकी करले शुद्ध हृदय से पूजा॥

अनाथी मुनि ने भी सच्चे हृदय से धर्म की शरण ली थी, क्योंकि वे भली भाँति जान गये थे कि इस भव-वन मे धर्म के अलावा अन्य कोई भी शरण देने वाला नही है।

यद्यपि माता-पिता आदि ने उनके स्वस्थ होने पर कहा—'हमने अमुक देव की मान्यता की थी और हमने अमुक की।' पर अनाथी मुनि ही जानते थे कि सच्ची मान्यता किसकी पूरी हुई। उन्होने स्पष्ट कह दिया—"मैंने जिन-धर्म की मान्यता की थी और उसी की शरण लेकर साधु-धर्म स्वीकार करूँगा।" ऐसा ही किया भी। बिना विलम्ब किये उन्होने अनगार धर्म ग्रहण कर लिया और साधना मे लग गये। पर जब महाराजा श्रेणिक ने उन्हे देखा तो उनकी युवावस्था और अपार सौन्दर्य-युक्त तेजस्वी शरीर को देखकर वे कुछ चकित और दुःखी होकर पूछने लगे—

"महाराज! अपार सौन्दर्य के धनी होने पर भी ऐसी तरुण अवस्था मे आपने मुनिधर्म क्यो ग्रहण कर लिया? आपको क्या दुःख था?"

सहज भाव से अनाथी मुनि ने उत्तर दिया—

"राजन्! मेरा कोई नाथ नही था, इसीलिए मैं मुनि बन गया हूँ।"

राजा श्रेणिक यह सुनकर तुरन्त बोले—"अगर ऐसी बात है तो मैं आपका नाथ बन जाता हूँ। आप सहर्ष और आनन्दपूर्वक ससार के सुखो का उपभोग कीजिये।"

बात यह थी कि श्रेणिक अनाथी मुनि की बात का रहस्य नही समझे थे। साधारण व्यक्तियो की तरह उन्होने विचार किया कि 'धन-जन का अभाव होने के कारण ही ये इस अवस्था मे साधु बन गये है।' लोग ऐसा ही सोचते भी है कि साधु उसी को बन जाना चाहिए जो अपनी उदरपूर्ति नही कर सकता हो तथा परिवार का भरण-पोषण न कर पाता हो। इसके अलावा धर्म-कार्यों को वे जवानी मे न करके वृद्धावस्था मे करने के लिए रख छोडते है। सोचते हैं—'जब हाथ-पैर नही चलेंगे और व्यापार-व्यवसाय नही किया जा सकेगा, उस समय बैठे-बैठे धर्म-ध्यान कर लेंगे।'

यह उनकी कितनी बडी भूल होती है? क्या ऐसे व्यक्ति निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि उनकी वृद्धावस्था आएगी ही? जीवन के पिछले समय मे धर्म-ध्यान करना रख छोडा तथा प्रारम्भ के समय मे धन कमाते और भोग-विलास करते रहे, पर पिछला समय आने से पहले ही काल झपट्टा मारकर ले चला तो फिर क्या होगा? यही कि जितने पाप-कर्म किये हैं वे ही केवल पीछा करते चलेंगे। तात्पर्य यह कि अगला समय तो पापो के उपार्जन मे बिगड़ा ही और

उसके वाद का समय उन्हे भोगने मे जायेगा । इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनो ही विगड जाएँगे ।

पाश्चात्य विद्वान हैरिक ने कहा है—

"That man lives twice who lives the first well"

यानी—जो व्यक्ति अपनी पहली आयु को सदाचार, सयम एव धर्ममय वनाकर सुन्दर ढग से जीता है, वही दुबारा भी चैन से रह सकता है। यथा-पिछली आयु अर्थात् वृद्धावस्था अगर प्राप्त हो गई तो भी वह सतुष्टि और शाति से उसे व्यतीत कर सकता है और वह न भी रही तो अगले लोक मे शुभ-कर्मों के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति करता है ।

इसलिए जीवन के मिले हुए क्षणो का प्रत्येक व्यक्ति को सदुपयोग करते चलना चाहिए । कोई भी शुभ-कार्य आगे के लिए स्थगित करना बुद्धिमानी नही है, क्योकि अगला समय आएगा ही, यह कौन जानता है ?

हमारे शास्त्र कहते हैं—

> **ज कल्ल कायव्व, णरेण अज्जेव त वरं काउं ।**
> **मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि ।।**
> **तूरह धम्म काउं, मा हु पमाय खयं वि कुव्वित्था ।**
> **बहु विग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्ह पडिच्छाहि ।।**
>
> —वृहत्कल्पभाष्य

इन दो गाथाओ के द्वारा मानव को कितना हृदयस्पर्शी एव मार्मिक उद्‌वोधन देते हुए कहा गया है—

"जो शुभ काम कल करना चाहते है, उसे आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, यह कव आकर दवोच लेगी, कोई नही जान सकता, क्योकि यह आते हुए दिखाई नही देती ।"

दूसरी गाथा मे भी पुन कहा है—"धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षण का भी प्रमाद मत करो । जीवन का एक-एक क्षण विघ्नो से भरा है, इसमे तो सायकाल तक की भी प्रतीक्षा नही करनी चाहिए ।" इसी विपय पर एक छोटा-सा उदाहरण है—

चिन्ता किस वात की ?

एक धनी सेठ था और उसके एक ही इकलौता पुत्र था । सेठ के लाखो का व्यापार था और वह सदा उसमे व्यस्त रहता था । किन्तु सेठानी वडी धर्म परायणा थी और अपना जीवन यथा-शक्य धर्म-क्रियाओ मे व्यीतत करती थी ।

पर उसे इस बात का वडा दु ख रहता था कि सेठजी को धन कमाने के अलावा और कुछ भी नही सूझता था। कभी भी वे न ईश्वर का नाम लेते थे, और न ही सामायिक-प्रतिक्रमणादि किसी कार्य मे रुचि लेते थे।

एक दिन सेठानी से नही रहा गया और वह बोली—

"धन तो अपने पास वहुत इकट्ठा हो गया है, अत आप अव तो अपनी आत्मा के सुधार के लिए कुछ समय निकाल कर धर्म-कार्य किया कीजिये।"

सेठ ने उत्तर दिया—"अभी क्या मैं बूढा हो गया हूँ ? जब तक समय है, पुत्र के लिए और भी इकट्ठा कर दूं ताकि वह जीवनभर आनन्द से रहे। धर्म की क्रियाएँ तो वाद मे ही कर लूगा जव वृद्ध हो जाऊँगा।"

बेचारी सेठानी यह सुनकर चुप हो गयी। पर सयोग की बात कि दुर्भाग्य से सेठ का वह पुत्र किमी साधारण वीमारी से ही चल बसा। सेठजी को वडा दु ख हुआ और वे माथे पर हाथ धरकर वैठ गये।

दस-पाँच दिन बाद एक दिन सेठानी सेठजी के समीप आई और बोली—"आप हाथ पर हाथ धरे कितने दिन बैठे रहेगे ? पेढी पर नही जाना है क्या ? इतने दिन मे ही तो न जाने कितना व्यापार मे नुकसान हो गया होगा।"

सेठानी की वात मुनकर सेठ ने उत्तर दिया—"कैसी वातें करती हो तुम ? जिस वेटे के लिए मैं धन इकट्ठा कर रहा था, वही चल वसा। अव इसे कौन भोगेगा ?"

पुत्र शोक से स्वय दु खी होने पर भी सेठानी धीर एव सयत भाव से वोली—"वाह! वेटा चल वसा तो क्या हुआ ? अभी हम कौनसे वृद्ध हो गये हैं ? आप और मैं ही इसे भोगेंगे। हमारा जीवन तो अभी वहुत वाकी है, चिन्ता किम वात की ?"

सेठानी की यह मार्मिक बात सुनकर सेठजी की आँखें खुल गई, वे समझ गये कि पत्नी मुझे उद्‌वोधन दे रही है और वास्तव मे ही जीवन का कोई भरोसा नही। जब इतनी अल्पायु मे पुत्र जा सकता है तो मेरे जीवन का क्या ठिकाना ? किसी भी पल काल मुझे भी ले जा सकता है।

उसी वक्त सेठजी उठे और अपना धन गरीवो मे वाँटने लग गये। साथ ही स्वय ने अपना सम्पूर्ण समय धर्म-ध्यान मे लगाकर आत्मा का कल्याण करना प्रारम्भ कर दिया।

वन्धुओ, प्रत्येक व्यक्ति को इसीलिए विचार करना चाहिए कि काल के

आक्रमण कर देने पर न धन, और न ही कोई सम्बन्धी प्राणी को शरण देकर इस पृथ्वी पर कुछ काल भी रखने मे समर्थ है। लाख उपाय करने पर भी और कही जाकर छुप जाने पर भी वह मौत की दृष्टि से ओझल नही हो सकता। यही बात कवि ने भी कही है—

अम्बर मे पाताल लोक मे या समुद्र गहरे मे।
इन्द्र भवन मे, शैल गुफा मे, सेना के पहरे मे॥
वज्र विनिर्मित गढ मे या अन्यत्र कही छिप जाना।
पर भाई! यम के फन्दे मे अन्त पडेगा आना॥

कवि ने अकाट्य सत्य सामने रखते हुए मानव को चेतावनी दी है—"भाई! तू चाहे आकाश मे, पाताल मे, समुद्र की तह मे, स्वर्ग मे जाकर स्वय इन्द्र के भवन मे, या वज्र के सदृश सुदृढ चट्टानो से बनी हुई गुफा मे जाकर छिप जा, याकि महाशूरवीर योद्धाओ की सेना बनाकर उसके पहरे मे रह, किन्तु जिस क्षण तेरा अन्तकाल आ जाएगा उसी पल यमराज का फन्दा निश्चित रूप से तेरे गले मे पड जाएगा, किसी के रोके नही रुकेगा। न उस समय तुझे तेरी सेना बचा सकेगी, न इन्द्र ही अपनी शरण मे रख सकेगा और न कोई स्थान तुझे यम की दृष्टि से ओझल कर सकेगा।

अत बुद्धिमानी इसी मे है कि तू जीवन रहते ही धर्म की सच्ची शरण ग्रहण कर ले। धर्म ही तुझे पुन-पुन. जन्म से छुटकारा दिला देगा और तब यमराज ताकते रहेगे। जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि इस ससार मे धर्म के अलावा अन्य कोई भी शरणदाता नही है, वह अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नही गँवाता और न ही वृद्धावस्था आने पर धर्माराधन करूँगा, ऐसा विचार ही करता है।

अनाथी मुनि ने भी अपनी युवावस्था, अपार वैभव और अतुल सौन्दर्य की परवाह न करते हुए अविलम्ब धर्म की शरण ले ली तथा पचमहाव्रतधारी मुनि बनकर साधना करने लगे। किन्तु राजा श्रेणिक को उन्हे देखकर दया आई और इस पर उनसे पूछ लिया—"आप किस दु ख से मुनि बन गये?"

मुनि ने भी अशरण भावना भाते हुए उत्तर दिया—

"मेरा कोई नाथ नही था, यानी मुझे कोई शरण देने वाला नही था अत मैं मुनि बना हूँ।"

यह सुनकर श्रेणिक ने कुछ गर्व मिश्रित भाव से कहा—"अगर ऐसा है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ, आप निश्चिन्त होकर सासारिक सुखो का उपभोग करिये!"

जानते हैं आप ! श्रेणिक की बात का मुनि ने क्या उत्तर दिया था ? उन्होने कहा—

"अप्पणा अनाहो सन्तो, कह नाहो भविस्ससि ?"

यानी—"तुम तो स्वय ही अनाथ हो, तो फिर दूसरे के नाथ किस प्रकार वन सकोगे ?"

अनाथी मुनि के यह शब्द सुनकर राजा श्रेणिक मानो आसमान से गिर पडे । उन्होने कहा—"महाराज ! आप शायद यह नही जानते है कि मैं कौन हूँ ? मैं मगध देश का सम्राट श्रेणिक हूँ और मेरे विशाल राज्य मे कोई कमी नही है । लाखो व्यक्ति मेरी शरण मे रहते है तथा आपको भी मैं बडे सुख से रख सकता हूँ । मेरे पास राज्य-पाट, महल-मकान, हाथी-घोडे और विशाल सैन्य सग्रह है । आपको तनिक भी किसी प्रकार की कमी महसूस नही होगी ।"

अनाथी मुनि राजा की बात सुनकर मुस्कुराए और उन्हे वताया कि—"मेरे पिता धनसचय के पास भी अपार वैभव था । मेरे माता, पिता, भाई, पत्नी एव अन्य अनेक कुटुम्वी थे, किन्तु जब मैं रोग-पीडित हुआ तो सारे कुटुम्बी मिलकर और पानी की तरह पैसा वहाकर भी मुझे स्वस्थ नही कर सके । तभी मैंने समझ लिया कि मेरा कोई नाथ नही है क्योकि मुझे रोग से कोई छुटकारा दिलाने मे समर्थ नही है । समर्थ है तो मात्र एक धर्म । धर्म ही व्यक्ति को जन्म, जरा, व्याधि एव मरण से सदा के लिए वचा सकता है अत वही नाथ हो सकता है । भला आप ही वताइये राजन् ! क्या आप मेरे नाथ वनकर मुझे इन सभी से वचाए रख सकते हैं ?"

श्रेणिक क्या उत्तर देते ? बात सत्य थी । राजा स्वय को भी तो जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से नही वचा सकते थे, फिर अनाथी मुनि को वचा लेने का आश्वासन किस प्रकार देते ? वे महसूस करने लगे कि—"अनाथी मुनि की वात यथार्थ है । मैं स्वय अपना नाथ नही हो सकता तो फिर औरो का नाथ तो वन ही कैसे सकता हूँ ?"

'भावना शतक' मे अशरण भावना बताने के लिए अनाथी मुनि का उदाहरण देते हुए कहा है—

यस्यागारे विपुल विभव कोटिशो गोगजाश्व ।
रम्या रभा जनकजननी वधवो मित्रवर्ग. ॥
तस्यामूष्मोव्ययनहरणे कोऽपि साहाय्यकारी ।
तेनानाथोऽजनि स च युवा, काकयापामराणाम् ॥

श्लोक मे कहा गया है—"जिसके घर मे अपार वैभव था, करोडो गायें,

हाथी और घोड़े थे, सुन्दर एव पतिव्रता पत्नी तथा माता-पिता, बधु-मित्र सभी थे किन्तु उस युवा अनाथी मुनि की व्याधिग्रस्त अवस्था मे कोई भी सहायक नही बन सका, यानी कोई भी उन्हे रोग-मुक्त नही कर सका तो फिर अभाव ग्रस्त एव तुच्छ व्यक्तियो के लिए तो कहना ही क्या है ?"

वस्तुत ससार का कोई भी व्यक्ति और धन का सुमेरु भी प्राणी को शरण देकर काल से उसकी रक्षा नही कर सकता। जन्म-मरण से बचाने वाला केवल धर्म और कालजयी अरिहन्त है। जैसा कि प शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने कहा है—

> चार घातिया कर्मो का जिनने सहार किया है।
> मोह अन्ध जीवो को जिनने धर्म प्रदीप दिया है।।
> जो सर्वज्ञ विश्व उपकारक, इस जग के तारक हैं।
> वे अरिहन्त देव अशरण के शरण मृत्युहारक है।।

इसलिए बधुओ हमे अरिहन्त प्रभु की शरण लेकर उनके द्वारा प्रदत्त धर्म-दीपक के प्रकाश मे चलना है ताकि कभी भटक सकें।

सत तुकारामजी भी कहते है—

> "तुका म्हणे तुज सोडवेता कोणी,
> एका चक्रपाणी वाचूनिया।"

अर्थात्—एक भगवान सुदर्शन चक्रधारी श्री कृष्ण के अलावा तुझे कोई भी छुडाने मे समर्थ नही हैं।

तात्पर्य यही है कि धर्म के अलावा इस ससार मे कोई भी शरणदाता नही है अत इसी की शरण प्रत्येक मुमुक्ष को लेनी चाहिए।

○

१४

संसार का सच्चा स्वरूप

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो पर हमारा विवेचन चल रहा है। जिनमे से बत्तीस भेदो पर हम विचार कर चुके हैं और आज तेतीसवाँ भेद आपके सामने रखना है। यह तेतीसवाँ भेद है वारह भावनाओ मे से तीसरी 'ससार-भावना'।

ठाणागसूत्र के चतुर्थ अध्याय मे ससार के चार प्रकार बताए गये हैं। इन्हे ही हम चार गतियाँ भी कहते हैं। वे हैं—नरकगति, तिर्यंच गति, मनुष्य-गति और देवगति। जीव इन्ही चारो मे पुन -पुन जन्म लेता और मरता है। इन गतियो मे उसे घोर दु ख उठाने पडते हैं जिनके विषय मे पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने कहा है—

नर्क मे सिधायो जम तोड-तोड खायो—
पडयो-पडयो बिलखायो कोई आडो नही आयो है।
कीट मे पर्यंत जत सह्या है अनन्त दु ख,
नरभव नीच जात पुण्यहीन पायो है ॥
नीची सुरगति पाई और को रिझाई अति,
धर्म मे न रीझ्यो चऊगत भयो कायो है।
धन्ना शालिभद्र ऐसी भावना भाई है सिरे,
कहत तिलोक भावे सोई जन डाह्यो है ॥

पद्य मे सर्वप्रथम नारकीय ससार को लिया गया है क्योकि वह सबसे नीचे है। चौवीस दडको मे भी पहला सात नारकी का एक दडक है।

तो, जो प्राणी घोर पाप करता है वह नरक मे जाता है। वहाँ पर

यमराज या जिन्हे हम परमाकामी अथवा परम-अधर्मी देवता कहते हैं, वे जीव को महान् कष्ट देते हैं। करुणा या दया का उनके हृदय मे कही नामोनिशान भी नही होता अतः ठोकना, पीटना, काटना, मारना और अन्य अनेकानेक प्रकार के दुःख वे जीव को देते है।

एक कवि ने भी इस विषय मे लिखा है —

कभी नरक गति मे जाता है, बीज पाप का बोकर।
घोर व्यथाएँ तब सहता है दीन नारकी होकर।।
छेदन-भेदन, ताडन-फाडन की है अकथ कहानी।
बड़े बिलखते सदा नारकी, मिले न दाना पानी।।

नरक मे दस प्रकार की असह्य क्षेत्र वेदना होती है जिसमे भूख और प्यास भी है। नारकीय ससार मे प्राणी को अनत क्षुधा सताती है। वे सोचते है— तीनो लोको का सम्पूर्ण अन्न मिल जाय तो खा डालें। पर कहाँ ? एक दाना भी खाने के लिए नही मिलता।

इसी प्रकार अनत तृषा भी नारकीयो को लगती है। उन्हे लगता है—मिल जाय तो सम्पूर्ण सागर का पानी पी ले। पर एक बूंद भी जल नही मिल पाता। आप देखते है कि यहाँ पर अगर एक इजेक्शन भी लगवाना पडे तो सुई देखकर डर लगता है। किन्तु वहाँ पर सेमल वृक्ष के पत्ते ही इतने तीखे होते हैं कि मस्तक पर गिरकर तलवार की धार के समान शरीर को दो भागो मे चीर डालते हैं और कुंभीपाक नरक का तो पूछना ही क्या है वहाँ पर तो ऐसी हालत और इतनी तकलीफ होती है कि मारे दुःख के प्राणी पाँच सौ योजन तक उछल जाता है।

इस प्रकार नरक के अवर्णनीय दुःखो को पापी जीव भोगता रहता है वहाँ पर जीवन भी तो कितना लम्बा होता है। एक बार पहुँच गये तो कम से कम दस हजार वर्ष और बढते-बढते तैंतीस सागरोपम तक भी चला पाता है। इस प्रकार बडे लम्बे समय तक जब वहाँ घोर दुःख भोगता है तब फिर कभी तिर्यंच योनि प्राप्त करता है। पर वहाँ भी कौन-सा सुख है ? कहा भी है—

निकल नरक से कभी जीव तिर्यंच योनि मे आता।
बध-बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिशः पाता।।
एक श्वास मे बार अठारह जन्म-मरण करता है।
आपस मे भी एक-दूसरा प्राण हरण करता है।।

पद्य का अर्थ आप ममझ ही गये होंगे कि नरक के असह्य दु ख भोग कर कभी जीव तिर्यंच योनि मे आता है, तव भी महान् दु ख उठाता है। निगोद मे रहकर यानी साधारण वनस्पति काय मे एकेन्द्रिय वनता है तथा अनन्त काल तक एक-एक श्वास मात्र के समय मे अठारह बार जन्म और मरण के कष्ट सहता है।

तत्पश्चात् जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न वडी कठिनाई से मिलता है, इसी प्रकार जीव त्रस पर्याय मे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय प्राप्त करता है, किन्तु क्या उसे कही मुख हासिल होता है ? नही। सभी पर्यायो मे वह दु ख ही पाता है। अगर पचेन्द्रिय भी वन जाता है तो गधा, बैल एव घोडा वनकर शक्ति से अधिक भार वहन करता है।

इस विषय मे आप लोग भली-भाँति जानते हैं और देखते भी है कि निर्बल पशुओ पर भी लोग कितना अधिक वजन लादते हैं, ऊपर से बैठकर उनके न चलने पर आरी टोचते है। मूक पशु न शिकायत कर पाता है, न रो पाता है, और न ही विश्राम ले पाता है। भूख-प्यास लगने पर बोल नही सकता तथा सर्दी-गर्मी मे इच्छानुसार उठ-बैठ नही सकता।

असज्ञी पशु होने पर मन के अभाव मे घोर अज्ञानी रहता है और सज्ञी होकर भी अगर निर्बल रहा तो शेर-चीते जैसे क्रूर प्राणियो का आहार बनता है। इस प्रकार तिर्यंच ससार या तिर्यंच योनि मे जीव नाना पर्याय धारण करके भी छेदन, भेदन, भूख, प्यास, भार-वहन, सर्दी एव गर्मी आदि के नाना कष्ट सहन करता रहता है। तिर्यंच गति मे भी दु खो का कोई पार नही है। इसीलिए पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज कहते है कि नरक, निगोद तथा तिर्यंच गति मे जीव अनन्त दु ख भोगता है पर उस समय उसे कौन उनसे बचाता है या सहायक बनता है ? कोई भी नही।

इसीलिए महापुरुष मानव को उद्‌बोधन देते है—

पापो का फल एकले भोगा कितनी बार।
कौन सहायक था हुआ करले जरा विचार॥

सोचने की वात है कि मनुष्य अपने परिवार को अधिकाधिक सुख पहुँचाने के लिए जीवन भर नाना प्रकार के पापकर्म करता है तथा उनके मोह मे पडकर अपनी आत्मा का भान भी भूल जाता है। किन्तु जव उन कर्मों का भुगतान वह नरक, निगोद या पशु योनि मे रहकर घोर दु खो के रूप मे करता है, तव परिवार का कौनसा सदस्य उनमे हिस्सा बँटाता है ? कोई भी तो उस कष्टकर समय मे आडे नही आता।

क्या यह सब समझकर मानव को नही चाहिए कि वह पारिवारिक कर्तव्य करते हुए भी अपनी आत्मा के लिए किये जाने वाले आवश्यक कर्तव्य को न भूले ? अर्थात् यह लोक छोडने के पश्चात् आत्मा को नरक निगोदादि का भ्रमण न करना पडे, इसके लिए भी धर्माचरण करे। उसे सदा यही विचार करना चाहिए कि मै अकेला आया था और अकेला ही जाऊँगा।

कहा भी है—

घिरे रहो परिवार से पर भूलो न विवेक।
रहा कभी मै एक था अन्त एक का एक ॥

मनुष्य मेरा-मेरा करता हुआ जीवन मे कभी 'मै' क्या हूँ यह नही सोच पाता, पर कवि ने कहा है—"भाई! भले ही परिवार से घिरे रहो पर आत्मरूप को मत भूलो।" जो व्यक्ति अपनी आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को समझता है, वह फिर उससे विमुख नही रह सकता। कभी न कभी तो उसे भान आता ही है कि मै अपने लिए क्या कर रहा हूँ और क्या नही ? कर्मजन्य फल को समझकर वह ससार मे रहते हुए भी ससार से विरक्त रहता है।

कर्मों की करामात

अभी मैने आपको बताया है कि जो भव्य प्राणी कर्मों की कारस्तानी को समझ लेते है, वे उनसे दूर रहने का भरसक प्रयत्न करते है। वे जान लेते है कि इस ससार मे भोगोपभोगो के अनेकानेक पदार्थ चारो ओर मन को ललचाने के लिए या आकर्षित करने के लिए फैले रहते है और व्यक्ति ज्योही उन्हे अपनाकर भोगने लगता है, त्योही सदा घात लगाए रहने वाले कर्म आकर जीवात्मा को अपने फन्दे मे जकड लेते है।

परिणाम यह होता है कि—

एगया खत्तियो होइ, तओ चण्डाल वोक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिवीलिया ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३, गा० ४

यानी—कर्मों से घिरा हुआ जीव कभी क्षत्रिय बनता है, कभी चाडाल, कभी वर्णसकर और कभी-कभी कीट-पतिगा, कुथुआ और चीटी का शरीर प्राप्त करता है।

इतना ही नही, वह कभी-कभी इनसे भी सूक्ष्म प्राणी बन जाता है, जैसा कि अभी मैंने बताया था कि निगोद मे पहुँचकर वह एक श्वास जितने समय मे अठारह बार जन्म-मरण करता रहता है।

'भारिल्लजी' ने भी अपनी लिखी हुई ससार-भावना के अन्तर्गत कहा है—

कर्मो और कषायो के वश होकर प्राणी नाना-
कायो को धारण करता है, तजता है जग जाना ।
है ससार यही अनादि से जीव यही दुख पाते,
कर्म-मदारी जीव-वानरो को हा ! नाच नचाते ॥

कितनी यथार्थ और मर्मस्पर्शी भावना है कि प्राणी पाप-कर्मों और कषायो के कारण इस ससार मे चौरासी लाख योनियो मे बारम्बार जन्म लेता है, दु ख भोगता है और मरता है। अनादिकाल से चले आए इसी ससार मे कर्म रूपी मदारियो के इगितानुसार जीव नाचता रहता है। दूसरे शब्दो मे कर्म-रूपी मदारी जीव रूपी बन्दरो को कभी नरक मे, कभी निगोद मे, कभी तिर्यंच पर्याय मे, कभी मनुष्य एव देवगति मे भेजते रहे हैं और इसी प्रकार नाना प्रकार के दु ख देते हुए नचाते रहते है। जीव को भी नाचना पडता है, क्योकि वह परतन्त्र होता है और उसे कसने वाली डोरी कर्मों के हाथ मे होती है।

आगे कहा है—

देवराज स्वर्गीय सुखो को त्याग कीट होता है,
विपुल राज्य से भूपति पल मे हाय ! हाथ धोता है।
गोबर का कीडा स्वर्गों के दिव्य सौख्य पाता है,
अपना ही शुभ-अशुभ कृत्य यह अजब रग लाता है॥

बन्धुओ, आप यह न समझें कि कर्म केवल पाप करने से ही बँधते हैं, पुण्य आदि उत्तम कार्य करने से नही। मैंने एक दिन इस विषय मे बताया था कि जीव को शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्म, बन्धन मे रखते हैं। भले ही शुभ कर्मों को सोने की और अशुभ कर्मों को लोहे की बेडी मान लिया जाय। दु ख दोनो ही देते हैं, केवल उनमे तरतमता होती है।

उदाहरणस्वरूप जीव अपने पुण्य या शुभ कर्मो के बल पर स्वर्ग मे पहुँच जाय तब भी क्या होगा ? प्रथम तो वहाँ भी श्रेणियाँ हैं। देवलोको मे पहुँचने पर भले ही भोगोपभोगो के द्वारा वह अपार सुख का अनुभव करता है, किन्तु वहाँ भी अन्य देवो की ऋद्धि अधिक देखकर ईर्ष्या से जलता हुआ दु ख का अनुभव करता है, साथ ही अपनी मन्दारमाला को मुरझाते हुए देखकर मरने के दु ख से विकल बना रहता है। ऐसा वह अकाम निर्जरा करके भवनवासी, व्यतर अथवा ज्योतिषी देव बनने पर अनुभव करता है और अगर भयोशवश वह वैमानिक देव बन जाय तो सम्यक्दर्शन के अभाव मे दु खी रहता है तथा

अवधिज्ञान के कारण मरने से पहले सोचता है—"हाय ! अब ये सुखोपभोग मुझे नही मिलेंगे और पुन निम्न गतियो मे जाकर घोर दु ख उठाने पड़ेंगे।"

इस प्रकार स्वर्ग-ससार मे रहकर भी जीव सुख नही पाता और पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप देव बनकर भी अनेक प्रकार के दु ख अनुभव करता है। वहाँ से, जैसा कि कवि ने कहा है—'देवराज स्वर्गीय सुखो को त्याग कीट होता है।' जीवात्मा पुन कीट-पतग भी बनकर पुन ससार भ्रमण प्रारम्भ कर देता है ।

बन्धुओ, यह ससार वस्तुत ऐसा ही है । कर्मों के वश मे रहकर देव, कीट बन सकता है, राजा पलभर मे ही अपने साम्राज्य को खो बैठता है और गन्दी नाली या गोबर आदि घृणित वस्तुओ मे जन्म लेकर रहने वाला कीडा अगर शुभ-कर्म पल्ले मे हो तो मरकर स्वर्गीय सुखो को प्राप्त कर लेता है । यह सब कर्म-रूपी मदारी के द्वारा कराया हुआ नाच नही तो और क्या है ?

बकरा ही तुम्हारा बाप है !

मैंने एक उदाहरण कही पढा था कि एक बडा धनवान सेठ था और उसके एक दुकान अनाज की भी थी । सेठ पैसे का धनी अवश्य था पर आत्म-गुणो का नही । दिन-रात अपनी दुकान मे बैठकर पैसा बनाने की फिक्र मे ही वह रहता था पर परलोक बनाने की फिक्र उसने जीवन भर नही की, यानी धर्म-ध्यान से कोसो दूर रहा ।

धन और दुकान मे गृद्ध रहने के कारण मरने के पश्चात् वह बकरा बना और इधर-उधर मुँह मारकर पेट भरने लगा । एक दिन वह अपनी दुकान की ओर भी पहुँच गया तथा बोरी मे भरी हुई बाजरी खाने लगा ।

यह देखकर उसके पुत्र को, जो कि दुकान मे बैठा था, बडा क्रोध आया और डडा लेकर उस बकरे पर पिल पडा, जो कुछ समय पहले ही उसका पिता था । बकरा मूक पशु था क्या बोलता ? केवल अपने पूर्व जन्म के पुत्र की मार खाता रहा ।

उसी समय उधर से एक ज्ञानी सत गुजरे । अपने ज्ञान से उन्होंने यह देखा कि जिस जीव ने जीवन भर परिश्रम करके यह दुकान बढाई थी और अपने पुत्र का पालन-पोषण किया था, वही पुत्र बाप को दो-मुट्ठी अन्न खा लेने पर डडे मे मार रहा है । यह देखकर वे मुस्कुरा दिये ।

दुकान का मालिक यह देखकर बोला—"महाराज ! आप हँसे क्यो ? यह बकरा सारी बाजरी खा जाता अगर मैं इसे नही मारता तो । आखिर मेरी

दुकान है और मैं हर पशु को इस प्रकार अन्न खाने दूँ तो कैसे काम चलेगा ? ये सब खा जाएँगे और दुकान का दिवाला निकल जाएगा।"

सत बोले—"भाई ! यह इसकी ही तो दुकान है।"

पुत्र तनिक क्रोध से बोला—"कैसी बातें करते हैं आप ? दुकान मेरे बाप की है या इस जानवर की ?"

"यह जानवार ही तो तुम्हारा बाप है।" सत ने उसी प्रकार शातिपूर्वक उत्तर दिया। पर पुत्र यह सुनते ही आग-बबूला होकर कह उठा—"आप सत होकर मुझे गालियाँ दे रहे हैं ?"

इस बार सत ने राज खोलते हुए कहा—"भाई ! मैं तुम्हे गालियाँ नही दे रहा हूँ, अपने ज्ञान से बता रहा हूँ कि तुम्हारे पिता ने ही मृत्यु को प्राप्त कर यह बकरे का शरीर पाया है जिसे तुम मार रहे थे।"

यह सुनते ही पुत्र अवाक् हो उठा और कर्मों की ऐसी लीला देखकर माथे पर हाथ धरकर बैठ गया।

वास्तव मे ही ससार ऐसा है। इसकी विचित्रता का वर्णन कहाँ तक किया जाय। इस जगत् मे तो प्रत्येक जीव के प्रत्येक अन्य जीव से न जाने कितनी बार नाते जुडे हैं। कविता मे आगे यही बताया गया है—

एक जन्म की पुत्री मरकर है पत्नी बन जाती।
फिर आगामी भव मे माता बनकर पैर पुजाती॥
पिता पुत्र के रूप जन्मता, बैरी बनता भाई।
पुत्र त्यागकर देह कभी बन जाता सगा जमाई॥

ऐसी स्थिति मे भला किसे दुश्मन और किसे दोस्त कहा जाय ? जिसे आज हम दुश्मन मानते हैं, वह अगले जन्म मे भाई या पुत्र बन सकता है और जिसे आज प्राणो से प्यारा पुत्र या पौत्र कहते हैं वह किसी जन्म मे कट्टर दुश्मन के रूप मे सामने आ सकता है।

इसीलिए भगवान की वाणी हमे चेतावनी देती है कि ससार के सभी प्राणियो को आत्मवत् समझो तथा किसी के प्रति क्रूरता, निर्दयता या ईर्ष्या-द्वेष का भाव मत रखो। आपको ज्ञात होगा कि भगवान महावीर के पैर के अँगूठे को जब चड कौशिक सर्प ने अपने मुँह मे लिया तो स्वय इन्द्र दौडकर आए और भगवान के दूसरे पैर पर मस्तक रखकर प्रार्थना की—"प्रभो ! आपकी आज्ञा हो तो इस भयकर विषधर को सबक पढा दूँ ?"

किन्तु क्या भगवान ने यह स्वीकार किया ? नही, उन्होंने इन्द्र के प्रेम एव

सौजन्य के कारण उन पर अपनी ममतामयी दृष्टि डालते हुए इन्कार किया तथा उसी ममतामयी दृष्टि से चडकौशिक को भी निहारा। दोनो के प्रति उनका समत्व-भाव समान था।

पर क्या आज हम प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसा विचार करते है? कभी नही, अपने पुत्र-पौत्र, पत्नी या परिवार की उदरपूर्ति के लिए तो अन्य व्यक्तियो का पेट काटने से भी नही चूकते। इतना ही नही, पेट भरना तो फिर भी गुनाह नही है पर पेटियाँ भर-भरकर रखने के लिए भी तो अन्य अनेको के पेट पर लात मारते है और उन्हे भूखा-नगा रहने को बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार प्राणी मात्र की बात तो दूर, अपनी मनुष्य जाति के लिए भी हम आत्मवत् भावना नही रखते तो **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भावना कैसे रख सकते हैं।

किन्तु ऐसा न करने का परिणाम क्या होता है? वही नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-ससार मे भटकते हुए महान् दु ख पाने का क्रम जारी रहता है। विरले महा-मानव ही ऐसे होते है, जो 'ससार-भावना' का मर्म हृदय मे उतारते है तथा जीवमात्र को पूर्णतया अपने समान समझते है। ऐसे महापुरुषो का जीवन विना अधिक प्रयास के ही निर्दोष, निष्कलक एव पाप-कर्म रहित बनता जाता है। वे ससार के स्वरूप को भली-भाँति समझ लेते है तथा बाह्य धन-वैभव इकट्ठा करने का प्रयत्न छोडकर आत्म-धन सुरक्षित रखने मे जुटे रहते है।

उन्हे प्रतिपल यह चिन्ता रहती है कि मानव-जीवन जो कि अनेकानेक पुण्यो के सचय से बडी कठिनाईपूर्वक मिला है, इसका एक पल भी निरर्थक न चला जाय। क्योकि अगर इस जीवन मे ससार से मुक्त होने का या कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न न किया और मृत्यु आ गई तो फिर न जाने कितने काल तक पुन इस भव-सागर मे गोते लगाने पडेगे, तब कही पुन यह जीवन मिल सकेगा और मिलेगा ही यह भी निश्चित नही है।

केनोपनिषद् मे कहा है—

> **इह चेद वेदीदय सत्यमस्ति,**
> **न चेदिहा वेदीत महती विनष्टि ।**

अर्थात्—यदि इसी जन्म को सफल बना लिया यानी आत्मा को जान लिया तब तो अच्छा है, अन्यथा बडी हानि होगी।

हानि क्या होगी? यह आप समझ ही गये होंगे। अभी-अभी मैंने बताया भी है कि अगर यह जीवन आत्मा को कर्म-मुक्त करने के काम मे न लिया तो फिर चौरासी का चक्कर पुन-पुन. काटना पड़ेगा तथा फिर से मानव-

जीवन की प्राप्ति असभव नही तो दुर्लभ निश्चय ही हो जाएगी। इस प्रकार मानव-जीवन पाकर कर्मों का क्षय कर लेना इसका लाभ उठाना है और पाप-कर्म करके पुन चारो गतियो मे भ्रमण करने जाना भारी हानि उठाना है।

लोग थोडा दान-पुण्य करके उसके वल पर ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना करने लगते हैं। प्रथम तो स्वर्ग भी इतनी जल्दी नही मिलता और अगर मिल भी जाता है तो उसे मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट लाभ नही कहा जा सकता। क्योकि वहाँ क्या होता है, यह मैं अभी आपको वता चुका हूँ। मुख्य बात यही है कि देवता भले ही स्वर्ग का असीम सुख भोग लें, पर वहाँ का आयुष्य समाप्त होने पर उन्हे निश्चय ही अन्य गतियो मे जाना पडता है। क्योकि वहाँ पर वे सयम-साधना करके कर्मो से मुक्त होने का तो विचार भी नही करते, उलटे एक-दूसरे से ईर्ष्या, द्वेष, कलह एव मरने से पहले घोर आर्तध्यान करके कर्म-बन्धन कर लेते हैं। तारीफ की बात तो यह है कि वहाँ पर धर्माराधन न कर पाने पर वे मानव-जीवन प्राप्त करने को तरसते है।

कभी गाडी नाव पर और कभी नाव गाडी पर

कैसी अजीव बात है कि जो मनुष्य स्वर्ग पाने का प्रयत्न करके उसे पा भी लेता है वही स्वर्ग मे रहकर पुन मनुष्य जीवन पाने की अभिलाषा रखता है।

शास्त्रो मे स्पष्ट कहा है—

तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा
माणुस भव, आरिए खेत्ते जम्म, सुकुल पच्चायाति।

—स्थानागसूत्र ३-३

अर्थात्—देवता भी तीन वातो की इच्छा करते हैं। प्रथम, मनुष्य जीवन, द्वितीय, आर्यक्षेत्र मे जन्म और तृतीय, श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

तो भाई! मैं यह कहता हूँ कि जव तुम्हे स्वर्ग मे जाकर फिर मनुष्य जीवन की इच्छा करनी है तो अभी मिले हुए इसी जीवन को सार्थक क्यो नही कर लेते? यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ—इसी मे तो न जाने कितना काल व्यतीत हो जाएगा। इसके अलावा यहाँ से स्वर्ग ही मिलेगा और इच्छा करते ही वहाँ से पुन यहाँ आ जाओगे, इसका कौन ठिकाना है? अत स्वर्ग की इच्छा न रखते हुए सवर के मार्ग पर चलकर कर्मो के आगमन को रोको और इसके साथ ही त्याग, प्रत्याख्यान, तप एव उत्कृष्ट साधना करके कर्म-क्षय का ही प्रयत्न करो तो आत्मा का भला हो सकेगा। प्रत्येक आत्माभिलाषी को यही करना चाहिए।

ससार के वास्तविक स्वरूप को जो समझ लेते है, वे ऐसा ही करते भी है। यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि मानव-जीवन भी ससार मे लाखो-करोडो व्यक्तियो को मिल जाता है, पर उसका स्वरूप और धर्म का मर्म कितने व्यक्ति समझते है ? बहुत थोडे।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अधिकाश मनुष्यो के जीवन का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करते हुए अपनी कविता मे कहा है—

मानवभव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते है।
विविध व्याधियो के वश होकर अगणित नर रोते है ॥
अगोपाग विकल हो अथवा पागल होकर अपना।
जीवन हाय विताते, कब हो पूरा मन का सपना ॥
दानव-सा दारिद्रय किसी को स्वजन वियोग किसीको।
पुत्र-अभाव किसी को अप्रिय का सयोग किसी को ॥
नाना चिन्ताएँ डाइन की भाँति खडी रहती है।
इस प्रकार दुनिया मे दुःख की सरिताएँ बहती है ॥

ससार की वास्तविकता का कितना सही चित्र है ? हम कहते है मनुष्य जन्म मिल गया, फिर क्या चाहिए ? पर मनुष्य-जन्म मिल जाने पर भी क्या सभी मनुष्य सुखी हो जाते है ? नही, अनेक मनुष्य इस जीवन को पाकर भी जीवन भर रोगी बने रहते है, अनेको गूँगे या बहरे होते है, अनेको लगडे-लूले या अन्य किसी प्रकार से अपग रहकर दुखी होते है और अनेको जन्म से ही पागल होकर, हम मनुष्य बने है यही नही समझ पाते।

इसके अलावा अनेकानेक व्यक्ति जो इन दुखो से दुखी नही भी होते है, वे भी रोते रहते है क्योकि कई घोर दरिद्रता से ग्रस्त रहते है, कई स्वजनो के मर जाने पर झूरते है, कई पुत्रहीनता का दुख मानते है और कई किसी अन्य प्रकार के सकट मे पडकर छटपटाते रहते है।

इस प्रकार इस ससार मे नाना प्रकार की चिन्ताएँ या परेशानियाँ डाइन के समान मनुष्य का खून चूसती रहती है। ऐसी स्थिति मे, पडे हुए मनुष्य भला किस प्रकार अपने जीवन का लाभ उठा सकते है या मन के मनोरथो को पूरा सकते है ?

इसीलिए सन्त महापुरुष कहते है कि—"अगर तुम्हे भाग्य से मनुष्य-जन्म, स्वस्थ-शरीर, उच्च-कुल, आर्य-क्षेत्र, सन्त-समागम और वीतरागो के वचन सुन

पाने का महान् योग मिला है तो ससार की वास्तविकता को समझ कर धर्माराधन करो, हृदय मे करुणा एव 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखो तथा समार मे रहकर भी ससार से निरासक्त रहकर अधिक से अधिक समभाव बनाये रखो।" यह नही कि परिवार मे किमी की मृत्यु हो गई तो सदा हाय-हाय करते रहे, किमी ने धन चुरा लिया या छीन लिया तो मारे क्रोध के उससे जीवन भर वैर बाँध रहे और धर्म-साधना के लिए अगर तत्पर हुए तो तनिक-सा किसी भी प्रकार का परिषह आते ही उसे छोड बैठे।

जीवन मे धैर्य एव समाधिभाव कायम रखने की बडी आवश्यकता है। अगर यह भाव हृदय मे घर कर लेता है तो फिर व्यक्ति किसी भी प्रकार के दु ख और सकट से विचलित नही होता। एक उदाहरण है—

धर्म ही सच्चा धन है

प्राचीन समय मे एक सौदागर अपना माल लेकर विदेश मे व्यापार करने गया। वहाँ कई वर्ष रहा और मूल पूंजी को अनेक गुनी बढाकर पुन अपने देश के लिए रवाना हुआ। एक बडे भारी जहाज मे उसने सामान लदवाया और कमाया हुआ समस्त द्रव्य लेकर जहाज को समुद्र मे चलवा दिया।

रास्ता कई दिन का था और दुर्भाग्यवश बीच समुद्र मे आने पर बडे जोरो का तूफान आ गया। नाविको ने जहाज को सम्हालने की वहुत कोशिश की पर सफल नही हुए। परिणामस्वरूप जहाज डूब गया। सौदागर ने बडी कठिनाई से छोटी डोगी के द्वारा अपनी रक्षा की और किसी तरह घर लौटा।

उसके घर आने पर जब गाँव वालो ने सुना कि सौदागर का जहाज डूब गया और इतने वर्षो तक कमाया हुआ समस्त अर्थ समुद्र के अतल मे चला गया तो सभी को वडा दु ख हुआ क्योकि सौदागर बडा ईमानदार, स्नेह परायण एव धर्मात्मा था। अनेक व्यक्ति उसके घर पर समवेदना प्रकट करने के लिए आए और दु ख न करने के लिए विविध शब्दो मे समझाने लगे।

पर सौदागर का चेहरा तनिक भी उदास या दु खी नही था अपितु जैसा सदा शात एव खिला हुआ रहता था वैसा ही था। सौदागर ने लोगो से भी कहा—"भाइयो ! मुझे तो जहाज के डूब जाने का रचमात्र भी दु ख नही है। गया सो चला गया, उसके लिए खेद करने की वात ही क्या है ? धन की गति आखिर और क्या हो सकती है ? दु ख मुझे तव होता, जवकि मेरा आत्म-धन चला जाता। पर वह ज्यो का त्यो सुरक्षित है। इस धर्म के असली धन को पानी नही डुवा सकता, आग जला नही सकती और चोर-डाकू छीन नही सकते, अत आपको भी कतई दु ख नही मानना चाहिए। यही विचार क---

चाहिए कि मैं पूर्ववत् धनी हूँ। सच्चा धन रुपया-पैसा नही होता वरन् धर्म होता है।"

सौदागर के इन शब्दो को सुनकर गाँव वालो का हृदय गद्गद हो गया और वे उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते हुए लौट आए।

वन्धुओ, ऐसा धर्म और समभाव वही रख सकते है जो कि ससार की वास्तविकता को भली-भाँति समझ लेते हैं। यही 'ससार-भावना' भाने का परिणाम है। जो भी मानव यह भावना अपने जीवन मे सतत बनाए रखेंगे वे इह लोक और परलोक मे सुखी बनेंगे।

१५

एगोहं नत्थि मे कोई

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने वारह भावनाओ मे तीसरी जो 'ससार-भावना' है, उसके विषय मे विवेचन किया था। ये भावनाएँ सवरतत्त्व के अन्तर्गत आती हैं। 'ससार-भावना' वारह भावनाओ मे से तीसरी है पर सवर के सत्तावन भेदो मे से तेतीसवां भेद है। आज चौतीसवां भेद लेना है, जो कि 'एकत्व भावना' है।

एकत्व भावना किसे कहते हैं ?

एकत्व का अर्थ अकेलापन होता है, और जो 'एकत्व भावना' भाते हैं, वे यही विचार करते है कि—'मैं अकेला आया हूँ, अकेला हूँ और अकेला ही जाऊँगा।' वस्तुत आप और हम सभी देखते-जानते हैं कि जीव अकेला इस पृथ्वी पर आता है और अकेला ही जाता है। न वह साथ मे कुछ लाता है और न ही कुछ भी साथ लेकर जाता है।

इस विषय मे पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने वताया है—

एकलो ही आयो और एकलो ही जासी जीव,
आयो मुट्ठी बाँध के पसार हाथ जायगो।
महल अटारी पट-सारी तात-मात नारी,
धन-धान्य आदि कछु साथ नही आयगो॥
स्वारथ सगाई जग अत समय कौन तेरो ?
धरम आराध भाई सकट पलायगो।
भावना एकत्व ऐसी भाई नमिराज ऋषि,
कहत त्रिलोक भावे सो ही सुख पायगो॥

एकत्व भावना का यही स्वरूप है। महाराज श्री अपनी साधु-भाषा मे कह

रहे है—"यह जीव अकेला आया है और अकेला ही जाएगा। इतना अवश्य है कि आते समय उसकी मुट्ठियाँ बँधी होती है और जाते समय हाथ खुले रहते है। उसके साथ महल-मकान, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण, सोना-चाँदी एव माता-पिता या पत्नी-पुत्र, कोई भी नही जाता। सम्पूर्ण धन घर पर पडा रहता है, दरवाजे की चौखट तक पत्नी साथ चलती है और अन्य स्वजन-सम्बन्धी श्मशान तक साथ देते है। बस, उसके आगे की लम्बी यात्रा जीव अकेला ही करता है। सासारिक सम्बन्ध केवल स्वार्थ के नाते बने रहते है, मृत्यु आते ही कोई साथ मे मरकर चलने की इच्छा नही रखता।

यही एकत्व भावना है कि मानव भले ही जीवन-भर अपने परिवार के पालन-पोषण और उन्हे अधिकाधिक सुख पहुँचाने के लिए पाप-कर्म करके नरक की ओर प्रयाण करे, पर वे ही पारिवारिक जन फिर उसकी परवाह नही करते। तब फिर धन-वैभव की तो बात ही क्या है ?

प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने भी एकत्व भावना पर अपनी कविता मे लिखा है—

> कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।
> देख भोगते स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥
> यह अभिन्न काया नही, साथ जाएगी भ्रात !
> तो वैभव परिवार की, रही दूर ही बात ॥

कहा गया है—"अरे भाई ! जिन नातेदारो को सुखी बनाने के लिए असख्य पाप करके तू नरक की ओर प्रयाण कर रहा है, वे ही तेरा साथ न देकर स्वर्गों के सुख भोगने के लिए चल दिये है। अधिक क्या कहूँ जीवन भर अभिन्न रहने वाला यह शरीर भी तो तेरा साथ नही देता, फिर धन-वैभव की तो बात ही क्या है ?

कहने का आशय यही है कि—"जब अन्त मे कोई सम्बन्धी या सपत्ति तेरा साथ नही दे सकते तो फिर मेरे-मेरे करके क्यो मोह कर्मों का बन्धन करता है तथा धन के लिए रात-दिन खटता रहता है ?"

धन तो बगदाद के राजा कारूँ के पास भी अपार था। आज भी अधिक धन का उल्लेख करने के लिए—'कारूँ का खजाना' कहावत काम मे ली जाती है।

तो कारूँ के पास असीम धन था और अपने धन का उसे बडा गर्व था। एक बार कारूँ के पास सोलन नामक कवि आया। कारूँ ने उससे कहा—"कविराज जरा मेरी सम्पत्ति का वर्णन तो अपनी कविता मे करो।"

सोलन सच्चा कवि था और सच्चे कवि बिना किसी भय या डर के सच्ची बात अविलम्ब कह देते हैं, चाहे उसका फल मृत्यु ही क्यो न हो। आपने सुना होगा कि बादशाह औरंगजेब ने एक बार कवि भूषण से कविता मे अपने गुणो का वर्णन करने के लिए कहा। पर जैसा कि मैंने अभी बताया, कवि किसी से डरते नही। भूषण ने भी औरंगजेब के गुणो के साथ सम्पूर्ण अवगुणो का भी वर्णन कर दिया। परिणामस्वरूप बादशाह कुपित हुआ और उसने उसकी राज्य से मिलने वाली सहायता बन्द करते हुए बहुत अनादर किया।

इसी प्रकार गग कवि का भी हाल हुआ था। गग कवि से बादशाह अकबर ने कहा—"गग! तुमने वर्षो मेरे पास रहते हुए नाना विषयो को लेकर कविताएँ लिखी, किन्तु कभी मेरी प्रशसापूर्ण कविता नही बनाई। अत अब एक ऐसी कविता लिखो, जिसके अन्त मे यह अवश्य आए—"सब मिल आस करो अकबर की।"

गग कवि स्वीकारोक्ति मे सिर हिलाता हुआ चल दिया और कुछ समय बाद एक लम्बी कविता लिख लाया। कविता मे बादशाह की बहुत प्रशसा की गई थी पर अन्त मे यह लिखा था—

कवि गग तो एक गोविन्द भजे, वह सक न माने जब्बर की।
जिनको न भरोसा हो उसका, सब आस करे वे अकब्बर की॥

यद्यपि कविता मे भगवान के बाद दूसरा नम्बर गग ने अकबर को दिया था और कहा था—जिन्हे भगवान पर भरोसा न हो वे तो अवश्य ही बादशाह अकबर के आश्रय की आकाक्षा करें। क्या यह यथार्थ नही था? निश्चय ही अकाट्य सत्य था कि भगवान सर्वोपरि है और जगत के सम्पूर्ण प्राणियो को आश्रय देने वाले हैं। किन्तु उन पर विश्वास न हो तो फिर लोग अकबर बादशाह की सहायता की अपेक्षा रखें। पर गग कवि के सत्य पर भी अकबर ने आग-बबूला होकर उसे हाथी के पैरो-तले कुचलवा दिया। गग भी ऐसी ही सजा की अपेक्षा रखता था अत हँसते-हँसते मर गया।

इन उदाहरणो से मेरा अभिप्राय यही है कि कवि लोग किसी का लिहाज करके असत्य नही लिखते और न कहते ही है, चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यो न हो। सोलन भी कवि था अत असत्य कहकर कारूँ राजा को रिझाने का प्रयत्न कैसे करता? उसने कारूँ के यह कहने पर कि—'मेरी असीम सम्पत्ति की प्रशसा करो।' स्पष्ट कह दिया—

"महाराज! धन-वैभव की क्या प्रशसा करूँ? यह आज है, कल नही। आप आज इनके कारण स्वय को महाशक्तिशाली मानते हैं पर कल इनके न

रहने पर भिखारी बनकर दर-दर घूमने को भी बाध्य हो सकते है। साराश यही है कि इसमे कोई गुण नही है, जिसकी प्रशसा की जाय। धन मनुष्य के जीते जी भी उसे धोखा दे देता है और मरने पर तो साथ देने का सवाल ही नही है।"

सोलन की यह बात सुनकर कारू को भी बडा क्रोध आया कि—"मेरे जिस वैभव का सारा ससार लोहा मानता है और इसकी प्रशसा करता है, उसी को सोलन निरर्थक, धोखा देने वाला और गुणहीन कह रहा है।"

अपने क्रोध के कारण कारू ने भी सोलन को अपमानित करते हुए राज्य से निकाल दिया और सोलन अपनी उसी प्रसन्नता, शान्ति और सन्तोष के साथ वहाँ से चला गया।

सयोग की बात थी कि फारस के बादशाह ने बगदाद पर आक्रमण किया और युद्ध मे जीत गया। उसने कारू को बन्दी बनाकर जेल मे डाल दिया।

जब कारू की ऐसी स्थिति हो गई तो उसका अपने धन पर रहने वाला गर्व चूर-चूर हो गया। उस समय उसे सत्यवादी सोलन की याद आई और अपने किये पर पश्चात्ताप करते हुए पागलो के समान—'सोलन ! सोलन ...!' कहकर उसे पुकारने लगा।

जेल के अधिकारियो ने जब फारस के बादशाह को यह बताया कि कारू वन्दीखाने मे और किसी तरह की कोई बात न कहकर केवल—सोलन ... सोलन कहकर किसी को पुकार रहा है तो बादशाह को आश्चर्य हुआ और उसने स्वय आकर सोलन को पुकारने का कारण पूछा।

कारू ने बादशाह के पूछने पर पूर्वघटित सम्पूर्ण घटना कह सुनाई और कहा—"सोलन की बात सोलह आना सत्य थी। वास्तव मे ही मेरा इतना विशाल खजाना मेरे काम नही आया और मेरे जीवित रहते ही धोखा दे गया। इसीलिए मैं सोलन से मिलकर उससे अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगना चाहता हूँ।"

फारस के बादशाह ने जब सारी बात सुनी तो वह भी सोचने लगा—"जब कारू का इतना विशाल खजाना उसके ही काम नही आया तो वह मेरे काम कैसे आ सकता है ? मेरी भी तो कल को कारू के समान ही स्थिति हो सकती है। वस्तुत धन-वैभव, राज्य-पाट सब निरर्थक है, उनके द्वारा किसी का कोई लाभ नही हो सकता।"

यह विचार आने पर फारस के उस बादशाह ने कारू को छोड दिया और ससम्मान विदा किया।

बन्धुओ ! इन उदाहरणो से मेरा आशय यही है कि उन कवियो ने जो कुछ कहा, उससे एकत्व भावना की पुष्टि हुई । जीव अकेला आया है और अकेला जाएगा, धन उसके साथ जाने वाला नही है । साथ मे अगर कुछ जाता है तो केवल शुभ और अशुभ कर्म । इसीलिए गग कवि ने गोविन्द का भजन करने पर जोर दिया है । हम भी यही कहते है कि वीतराग प्रभु का चिन्तन करो, साथ ही अपनी समस्त क्रियाओ को निर्दोष अर्थात् धर्ममय बनाओ । मानव अगर अपने आचरण को राग, द्वेष, विकार और कषायादि से रहित कर लेता है तो जीवन स्वय ही धर्ममय बन जाता है ।

एकत्व भावना कैसे भायी जाये ?

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने सुन्दर पद्य के अन्त मे कहा है कि नमिराय ऋषि ने जिस प्रकार एकत्व भावना भाई थी, उसी प्रकार अगर प्रत्येक व्यक्ति उसे भाता है तो वह अपनी आत्मा की भलाई कर सकता है । एकत्व भावना ही आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुमान करा सकती है तथा उसके ससार-परिभ्रमण को कम कर सकती है ।

आप विचार करेंगे कि भावना भाने से ही क्या ससार-परिभ्रमण रुक जाएगा ? नही, ऐसा तो नही हो सकता, और मैं यह कहता भी नही हूँ कि केवल जीव के अकेलेपन का ज्ञान होने से ही आत्म कल्याण हो जाएगा । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे विचार बनाता है, या जैसी भावनाएँ रखता है, धीरे-धीरे उनके अनुसार आचरण भी अवश्य करता है । जैसे कोई व्यक्ति झूठ बोलना, हिंसा करना या चोरी करना बुरा समझने लगता है तो निश्चय ही वह इन कार्यो से कतराएगा तथा एकदम नही तो शनै -शनै इन्हे निश्चय ही छोड देगा । जिन कामो को हम अच्छा नही समझते और उनसे घृणा करते हैं, तो फिर उन्हे करने की इच्छा भी नही होती ।

इसी प्रकार जब मनुष्य यह समझ लेगा कि मेरी आत्मा अकेली आई है, और अकेली ही जाने वाली है तो वह सासारिक पदार्थों मे ममत्व नही रखेगा । यहाँ पुन आप कहेगे कि यह बात भी सभी जानते हैं, पर फिर भी लोग जीवन भर पाप करते जाते है, ऐसा क्यो ? यह बात भी सत्य है । सचमुच ही हर व्यक्ति इतना तो जानता ही है, किन्तु फिर भी पाप करता है । इसका वास्तविक कारण यह है कि आत्मा के एकत्व को प्राणी के जन्म-मरण से प्रत्यक्ष देखकर व्यक्ति समझ लेता है, किन्तु कर्म-बन्धनो को प्रत्यक्ष न देख पाने के कारण उनके अस्तित्व पर शकाशील रहता है । उसे इस बात पर दृढ विश्वास नही हो पाता कि हमारी आत्मा पाप-कर्मो के कारण अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियो

मे भ्रमण करती रही है और इस जन्म मे भी अगर धर्माराधन नही किया तो पुन अन्य गतियो मे जाकर दु ख भोगना पडेगा। नरक या स्वर्ग व्यक्ति को दिखाई नही देता अत उसे उन पर पूरा विश्वास नही होता तथा कर्मो का भय नही लगता। इसीलिए आत्मा के एकत्व को वह इस ससार मे आने तक और यहाँ से जाने तक मे ही मानता है। परिणाम यह होता है कि उसके विचार डाँवाडोल बने रहते है और वह पापो से पूर्णतया डरकर उन्हे छोड नही पाता।

किन्तु मुझे आपसे यही कहना है कि आप वीतराग के वचनो पर पूर्ण विश्वास या दृढ श्रद्धा रखते हुए गम्भीरतापूर्वक यही भावना भाएँ कि हमारी आत्मा केवल इस पृथ्वी पर ही अभी ही अवतीर्ण नही हुई है अपितु इससे पहले भी न जाने कब से शुभाशुभ कर्मो के अनुसार सुख और दु ख भोगती हुई आई है, तथा अब हम जैसे कर्म करेंगे उनके अनुसार यहाँ से मरकर भी सुख और दु ख भोगने पडेगे और उस समय वह अकेली होगी। यहाँ का धन यही रहेगा और स्वजन-सम्बन्धी भी यही छूटेंगे।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि जब इस प्रकार वास्तविक एव पूर्ण रूप से मनुष्य एकत्व भावना को समझ लेगा और उसे हृदय मे विश्वाससहित स्थान दे देगा तो निश्चय ही वह कर्मो से भयभीत होता हुआ पापो से बचने का प्रयत्न करेगा। पर इसके लिए पहले भावनाओ मे दृढता लाना आवश्यक है। भावना भाना आचरण की पहली सीढी है। उस पर पैर रखने पर ही वह मोक्ष-मजिल की अन्य सीढियो पर चढ सकेगा। पर जो व्यक्ति पहली सीढी के नजदीक ही नही पहुँचता या उस पर पैर नही रखता वह ऊपर कैसे चढ़ेगा ?

इसलिए सर्वप्रथम एकत्व भावना को अवश्य और सही तौर पर भाना चाहिए। उसमे अगर सचाई आगई यानी प्रथम सीढी दिखाई दे गई तो फिर ऊपर चढना सरल हो जाएगा।

किस प्रकार इस भावना को सचाई से भाना चाहिए इस विषय मे प० भागिल्लजी कहते हैं—

जन्मे कितने जीव है, जग मे करो विचार।
लाये कितने साथ मे, पहले का परिवार॥
राज-पाट-सुख-सम्पदा, वाजि, वृषभ, गजराज।
मणि माणिक मोती महल, प्रेमी स्वजन समाज॥
आया है क्या साथ मे, जाएगा क्या साथ।
जीव अकेला जाएगा, बन्धु पसारे हाथ॥

दुर्लभ मानवभव मिला, कर एकत्व विचार।
कैसे होगा अन्यथा, तेरा आत्मोद्धार ?

पद्यो का अर्थ बडा सरल और प्रभावपूर्ण है। इसमे यही कहा गया है—"अरे भाई! जरा विचार कर कि यह जीव अपने साथ धन-वैभव, राज्य-पाट, हाथी-घोडे और अपना परिवार इनमे से क्या साथ लेकर आया था ? कुछ भी नही। और साथ मे क्या ले जाएगा ? इसका उत्तर भी यही है—कुछ नही। तो फिर तू एकत्व भावना को क्यो नही भाता ? जरा विचार कर कि यह भावना हृदय की गहराई मे उतारे बिना तेरा आत्मोद्धार कैसे होगा ?

बन्धुओ, यहाँ ध्यान मे रखने की बात यही है जो मैं अभी आपको बता रहा था कि आत्म-कल्याण के लिए सर्वप्रथम मन मे एकत्व पर विचार करना चाहिए। यानी इस भावना को सच्चाई से मानस मे जमाना चाहिए। अन्यथा न जीव कर्मों से डरेगा और न ही आत्म-साधना मे जुट सकेगा। भावना वह बीज है, जिसके अन्तर्मानस मे बो देने पर धर्म रूपी वृक्ष पनपेगा तथा तप, त्याग, सयम एव साधना रूपी अनेक डालियो से विकसित होता हुआ मोक्ष-रूपी मधुर फल प्रदान करेगा।

राजर्षि नमिराय एक बार भयकर दाह-ज्वर से पीडित हो गये। हकीम और वैद्य उनका उपचार कर-करके थक गये पर उनके शरीर की वेदना शात नही हो सकी। अन्त मे सभी ने एकमत होकर कहा—"बावनगोशीर्ष चन्दन का लेप करने से महाराज का दाह-ज्वर शान्त हो सकेगा।"

यद्यपि महल मे सैकडो दास-दासी थे जोकि चन्दन घिस सकते थे, किन्तु राजा की पतिपरायणा रानियो ने स्वय ही यह कार्य करने का निश्चय किया और तत्काल ही चन्दन घिसने लगी। पर चन्दन घिसते समय उनके हाथो के कगन और चूडियाँ बजने लगे। व्याधिग्रस्त राजा को उनकी आवाज भली न लगी और वे व्याकुलतापूर्वक बोले—"यह आवाज मुझे कष्ट पहुँचा रही है।"

रानियो ने यह सुनते ही अविलम्ब सब कगन खोल दिये। केवल सौभाग्य का चिह्न मानकर एक-एक ककण हाथ मे रखा। चन्दन घिसा जा रहा था, पर ककणो का शब्द बन्द हो गया।

जब राजा को आवाज सुनाई देनी एकदम बन्द हो गई तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"क्या चन्दन घिसा जाना रुक गया ?"

रानियो ने उत्तर दिया—"नही महाराज! चन्दन तो हम घिस रही हैं, पर हाथो मे अब एक-एक ही ककण रखा है अत इनकी सम्मिलित आवाज, जो आपको कष्ट पहुँचा रही थी, वह मिट गई है।"

यह सुनते ही राजा के हृदय मे एकत्व भावना आई। उन्होने विचार किया—"एकाकी जीवन ही सुखी रह सकता है। जब तक मनुष्य परिवार से तथा अन्य लोगो से घिरा रहता है, तब तक उनके कोलाहलपूर्ण शब्दो के कारण सच्ची शान्ति का अनुभव नही कर सकता। ककण के शब्दो के समान ही जनरव भी उसे सदा आकुल-व्याकुल बनाये रहता है और ऐसी स्थिति मे वह किस प्रकार आत्म-साधना कर सकता है? क्या ही अच्छा हो कि मैं भी मुनि-धर्म ग्रहण करके एकान्त वास करूँ और पूर्ण शान्तिपूर्वक साधना मे लग जाऊँ।"

ऐसा ही उन्होने किया भी। उत्तराध्ययन सूत्र के नवे अध्याय मे कहा गया है—

से देवलोग सरिसे, अन्तेउरवरगओ वरे भोए।
भुजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, अ० ९, गाथा ३

अर्थात्—अपनी रानियो के साथ देवोपम भोगो को भोगते हुए भी नमिराज स्वय प्रतिबुद्ध होकर उनका त्याग कर देते है।

तात्पर्य यही है कि नमिराज ने तत्त्व को समझ लिया था। अत उन्हे विश्वास हो गया कि ससार के कामभोग असार है और कटु परिणाम के कारण हैं। आत्मा को तो यहाँ से एकाकी जाना ही है पर अगर ससार के भोगो मे उलझे रहे तो पल्ले मे पाप-कर्म जरूर बँध जायेगे। इसलिए सच्ची एकत्व-भावना के प्रभाव से उन्हे ससार से विरक्ति हो गई और अविलम्ब मुनि बनकर उन्होने आत्मा को कर्मों से मुक्त करने का प्रयास जारी कर दिया।

भव्य प्राणी इसी प्रकार सुलभ-बोधि होते है, जो तनिक सा निमित्त पाते ही जाग उठते है। वे तुरन्त समझ जाते है कि—

सत्य सनातन सारमय, सुख कारण एकत्व।
यही मुक्ति-पथ अकथ है, यही शुद्ध है तत्त्व ॥

कितनी सुन्दर चेतावनी है कि एकत्व भाव ही सत्य, सारपूर्ण, सुख का कारण एव मुक्ति का मार्ग है। अत जो आत्माभिलाषी व्यक्ति इसे ग्रहण कर लेते है, वे आस्रव-मार्ग का त्याग करके सवर के मार्ग पर बढते है तथा कर्मों की निर्जरा करते हुए शिवपुर को प्राप्त करने मे समर्थ बन जाते है।

○

१६

अपना रूप अनोखा

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

सव सयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा।
हाय, न जाना मैंने अपना रूप अनोखा॥

हम इन दिनो वारह भावनाओ को लेकर चल रहे है। उनमे से अनित्य, अशरण, ससार एव एकत्व भावना पर विचार किया जा चुका है। आज पाँचवी अन्यत्व भावना को लेना है जो कि सवरतत्त्व का पैंतीसवाँ भेद है।

अन्य का अर्थ है दूसरा या पर। हम ससार के अनेक पदार्थों को तथा व्यक्तियो को, 'मेरे' कहते हैं किन्तु वास्तविक रूप से देखा जाय तो वे सव हमारे कदापि नही हैं, हमसे सर्वथा भिन्न हैं और भिन्न ही रहेगे। हमारा अपना तो शरीर भी नही है, फिर जड पदार्थ या स्वजन-सम्बन्धी कव हमारे हो सकते हैं ? कभी नही। इन सवसे अल्पकाल के लिए सयोग हुआ है और एक दिन पुन वियोग होगा।

श्री शतावधानी जी महाराज ने अपने एक सस्कृत के श्लोक मे लिखा है—

भार्या स्वसा च पितरौ स्वश्रू पुत्र पौत्रा,
एते न सन्ति तव कोपि न च त्वमपि एषाम्।
सयोग एष खगवृक्षवदल्पकालम्,
एव हि सर्वजगतोपि वियोगयोग॥

मुनिश्री ने कहा है—इस ससार मे पत्नी, पुत्रवधू, माता-पिता एव पुत्र-पौत्र आदि, जिन्हे तू 'मेरे' कहता है, वे सव अन्य हैं तेरे नही। न तो ये तेरे साथ आये हैं और न ही साथ जायेंगे। इस प्रकार न ये तेरे हैं और न ही तू इनका है। इनका और तेरा मिलाप अल्पकाल के लिए हो गया है जो कि कुछ काल पश्चात् ही वियोग मे परिणत होने वाला है।

हम देखते है कि किसी वृक्ष पर खग अर्थात् पक्षी आकर बैठता है, कुछ ठहर भी जाता है, किन्तु उसके वाद उड ही जाता है। तो जिस प्रकार पक्षी और वृक्ष का अल्पकाल के लिए सयोग होता है, या पक्षी कुछ क्षणो के लिए वृक्ष का आश्रय लेकर पुन अपने गतव्य की ओर चला जाता है, इसी प्रकार स्वजनो का सयोग या मिलन होता है तथा कुछ समय के लिए व्यक्ति माता-पिता आदि का आश्रय लेता है, किन्तु समय आते ही पुन· आगे वढ जाता है।

ध्यान मे रखने की वात है कि जीव जिस शरीर के आधार से इस ससार रूपी सराय मे ठहरता है, वह शरीर भी यही छूट जाता है। स्पष्ट है कि शरीर भी जीवात्मा का अपना नही है। वह भी अन्य है और इसीलिए साथ नही रहता। ससार के सभी पदार्थ अनित्य है और शरीर एव इन्द्रियाँ भी नाशवान है। केवल आत्मा नित्य या शाश्वत है, इसका विनाश नही होता। केवल पुण्य के प्रभाव से इसे कुछ काल के लिए प्रिय-सयोग मिल जाते है, पर वे ही पुण्य समाप्त होते ही विलग हो जाते है।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने भी इस विषय मे कहा है—

जैसे मनोरम्य वृक्ष दलवल फूल युक्त,
नाना भाति पखी आवे स्वारथ विचार के।
सिरी विन लाय तब कोई नही बैठे आय,
दिखत विरूप रूप देखी पतझार के॥
तैसे तेरे पुण्य के प्रभाव आवे धन-धान्य,
जावे सव समय सुहाने परिवार के।
पुण्य दे उत्तर तब कोई नही देगा साथ,
भाई मृगापुत्र ऐसी भावना सुधार के॥

बन्धुओ, कवि लोग किसी बात को समझाने के लिए नाना प्रकार की उपमाएँ देते है और सुन्दर शब्दावलि का प्रयोग करते है, जिससे मन को अच्छा लगता है तथा बात शीघ्र समझ मे आ जाती है। पर अगर पद्य या कविताएँ वोध-प्रद भी हो तो वे मन पर असर करती है तथा आत्मा जाग उठती है। उपदेश, वैराग्य, समत्व एव शान्त रस से परिपूर्ण कविताएँ व्यक्तियो को सन्मार्ग पर लाती है।

साहित्य मे नौ रस बताये गये हैं। शृ गाररस, वीररस, रौद्ररस, वीभत्सरस, करुणरस एव शातरस आदि-आदि। किन्तु मेरा अनुभव है कि आठो रसो की शक्ति मिलकर भी शात-रस का मुकावला नही कर पाती। वैराग्यपूर्ण

शातत्म सम्पन्न कविताओ मे या पदो मे वडी मार्मिक शक्ति होती है। मराठी मे आप देखेंगे कि समर्थ रामदास स्वामी, सत तुकाराम, ज्ञानदेव आदि जिन महापुरुषो ने त्याग के मार्ग को अपनाया, उनके वचनो मे वडी ताकत थी क्योकि शान्ति का अखण्ड साम्राज्य उनके अन्दर था।

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज का पद भी इसी प्रकार अत्यन्त सरल, शिक्षाप्रद तथा मर्मस्पर्शी है। पढकर हृदय हिल उठता है कि ससार की कैसी विचित्रता है और किस प्रकार जीव इसमे आकर्षित वना रहता है। किन्तु अन्त मे परिणाम क्या होता है? यही कि समस्त पर-पदार्थों को छोडकर वह अकेला चल देता है।

तो महाराज श्री कहते है कि जो वृक्ष फल, फूल एव पत्तो से युक्त मनोरम होता है, उस पर नाना प्रकार के पक्षी अपने-अपने स्वार्थ को लेकर आते है। कोई उस पर लगे हुए फलो को खाना चाहता है, कोई उसकी डालो पर अपना घोसला वनाना चाहता है और कोई उसकी शीतल छाया मे आनन्दपूर्वक कुछ समय विश्राम लेना चाहता है। पर वे कव तक उस वृक्ष के समीप आयेंगे? तभी तक, जव तक कि पतझर आकर उसके फल-फूलो को तथा पत्तो को सुखाकर गिरा नही देता। खाने के लिए फल न मिले, वैठने के लिए छाया न मिले और घोसला वनाने के लिए डालियाँ न मिलें तो कौन वहाँ आएगा? कोई भी नही। न पशु-पक्षी और न ही कोई मनुष्य।

तात्पर्य यही है कि पतझर के प्रभाव से श्रीहीन हुए कुरूप वृक्ष को कोई भी पसद नही करता और न ही उसके समीप फटकना ही चाहता है। कवि ने अन्योक्ति अलकार के उदाहरण के द्वारा वृक्ष की दशा वताते हुए उसे जीवात्मा पर घटित किया है। कहा है—"हे आत्मन्! जिस प्रकार फल-फूलो से लदे वृक्ष के पास अनेक प्राणी अपने-अपने स्वार्थ को लेकर आते हैं उसी प्रकार जव तक पुण्य-कर्मों के उदय से तेरे पास धन-वैभव है, तव तक सगे-सम्बन्धी भी तुझे घेरे रहते हैं तथा मेरा-मेरा कहते हैं। किन्तु अगर तेरे पुण्य-कर्म समाप्त हो जायें और पाप-कर्मों के फलस्वरूप तू दीन-दरिद्र और नाना प्रकार से अभावग्रस्त हो जाय तो फिर तेरे सभी सम्बन्धी मुँह फेर लेंगे और मेरा पुत्र, मेरा भाई या मेरा पति, ये शब्द सुनने तुझे दुर्लभ हो जाएँगे।"

वस्तुत सासारिक नाते इसी प्रकार के होते हैं। जव तक व्यक्ति धन कमाता है तव तक माँ-वाप, भाई, पुत्र और पत्नी सभी उससे प्रेम रखते हैं तथा अपना कहते है, किन्तु सयोगवश अगर वह किसी कारण से कमाने मे असमर्थ हो जाय तो कोई उसे देखकर प्रसन्न नही होता, उलटे अपमान एव

क्रोधभरे वचन सुनाना प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत दिन पहले मैंने एक छोटी-सी कहानी पढी थी—

दरिद्र बाप

किसी गाँव मे एक व्यक्ति रहता था। वह बडा दरिद्र था। किन्तु उसने स्वय भूखा और अधनगा रहकर बडी कठिनाई से अपने पुत्र को पढाकर वकील बनाया। वकील बनाने के बाद पुत्र को समीप के बड़े शहर मे वकालत करने भेज दिया।

पुत्र शहर मे रहने लगा और उसकी वकालत भी चल पडी। अब धन का उसे अभाव नही रहा अत वह आनन्द से समय बिताने लगा। बेचारा बाप अपने पुत्र के कुशल समाचार जानने के लिए गाँव वालो से लिखवाकर प्राय पत्र डाला करता था। किन्तु वकील साहब ने अपने वृद्ध एव दरिद्र बाप के एक भी पत्र का उत्तर नही दिया और न ही स्वय उसकी खोज-खबर लेने एक बार भी गाँव गये।

बेचारे पिता की ममता ने ठोकर मारी अत पुत्र के कोई समाचार न मिलने पर किसी से माँग-मूँगकर उसने थोडे पैसे इकट्ठे किये तया स्वय ही पुत्र से मिलने चल दिया।

जब वह शहर पहुँचा और अपने पुत्र के घर गया, ठीक उसी समय पुत्र घर से बाहर कोर्ट मे जाने के लिए निकला। पिता ने उसे देखते ही कहा—'बेटा, कैसे हो तुम ?'

'ठीक हूँ।' कहता हुआ पुत्र रवाना हो गया तथा एक बार भी दूर गाँव से आये बाप की कुशल-क्षेम नही पूछी। वृद्ध हक्का-बक्का रह गया पर सोचने लगा—"जरूर ही मेरे बेटे को जल्दी जाना होगा, अन्यथा क्या मुझसे बात नही करता ? पर कोई बात नही, वह कचहरी मे ही तो गया होगा। मै वही लोगो से रास्ता पूछता हुआ चला जाता हूँ। शहर मे आया हूँ तो कचहरी भी देख लूँगा और मेरा बेटा कैसा वकील बन गया है यह भी जी भर कर देखूँगा। अभी तो मैं भर-आँख उसे एक बार देख भी नही पाया।"

ऐसा विचार करता हुआ वृद्ध पिता लोगो से रास्ता पूछता-पूछता कचहरी पहुच गया। पर वहाँ अन्दर जाकर बैठने की उसकी हिम्मत नही पडी और वह दरवाजे पर ही जहाँ जूते खोले जाते हैं धीरे से बैठ गया तथा तृषित नेत्रो से अपने वकील बन गये बेटे को एकटक देखने लगा।

पुत्र ने जब उसे देखा तो मन ही मन बडा क्रोधित हुआ पर बोला कुछ नही। कचहरी मे उस समय भीड-भाड नही थी और जज साहब सामने ही

बैठे थे। उनकी दृष्टि उस दीन-दरिद्र व्यक्ति पर पड़ गई जो जूते खोले जाने के स्थान पर बैठ गया था और वकील साहब की ओर बड़ी ममतापूर्ण दृष्टि से लगातार देखे जा रहा था। साथ ही उसका चेहरा भी वकील साहब से बहुत-कुछ मिलता था।

उस समय अन्य कोई कार्य न होने से कौतूहलवश जज ने वकील पुत्र से पूछ लिया—"वकील साहब! वह वृद्ध कौन है? उसका चेहरा आप से मिलता-जुलता है और आपकी ओर ही वह देखे भी जा रहा है। क्या आपका कोई सम्बन्धी है?"

वकील का चेहरा फक हो गया। जल्दी से कोई उत्तर ही देते नही बना पर फिर अपने आपको सँभालकर कहा—

"जी, वह मेरे गाँव का आदमी है।"

वृद्ध पिता का ध्यान पूरी तरह से अपने पुत्र पर केन्द्रित था और कचहरी मे भीड़-भाड़ न होने से उसने अपने लड़के की यह बात सुनली। आखिर तो वह बुजुर्ग और अनुभवी था, अत उसका स्वाभिमान जाग उठा और बिना पुत्र से डरे वह उठकर बोल पड़ा—

"हुजूर! मैं इसके गाँव का आदमी तो हूँ ही, साथ ही इसकी माता का आदमी भी हूँ।"

वकील साहब पर तो यह बात सुनकर मानो घड़ो पानी पड़ गया और वे स्तब्ध होकर खड़े रह गये। पर पैनी दृष्टि वाले जज ने बात अच्छी तरह समझ ली और बोले—

"वकील साहब! मैं आपके निजी मामलो मे बोलने का तो कोई हक नही रखता, किन्तु इतना जरूर कह सकता हूँ कि अगर ऐसे दरिद्र बाप ने मुझे अपना पेट काट-काटकर वकील बना दिया होता तो मैं जीवन भर अपने स्नेह-शील पिता के चरण को धो-धोकर पीता। उन्हे गाँव का आदमी कहना तो दूर की बात थी, सर-आँखो पर बिठाता और तब भी उनके ऋण से अपने को उऋण नही समझता।"

बधुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि ससार के सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं। अगर पिता धनी होता तो वही वकील उनके मार्ग मे आँखें बिछाता, पर पुण्य के अभाव मे वह गरीब था तो बेटे ने अदालत मे उसे बाप कहने से भी इन्कार कर दिया। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ सधने पर ही नाते बने रहते हैं अन्यथा वे सब टूट जाते हैं।

इसलिए प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अन्यत्व भावना के रहस्य को समझना चाहिए तथा मोहरहित होकर विचार करना चाहिए कि इस ससार मे मेरा कोई भी नही है। ये सब नाते जीते जी के है और मरने के पश्चात् पुन नये बन जाएँगे।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अन्यत्व भावना पर लिखी हुई अपनी रचना मे सासारिक सम्बन्धो पर बडी विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला है। कहा है—

पहले था मै कौन, कहाँ से आज यहाँ आया हूँ ?
किस-किसका सम्बन्ध अनोखा तजकर क्या लाया हूँ ?
जननी-जनक अन्य है पाये इस जीवन की बेला।
पुत्र अन्य हैं, पौत्र अन्य है, अन्य बन्धु, गुरु, चेला॥
चिरकालीन सगिनी पहले मैने जिसे बनाया।
कुछ ही क्षण मे छोड उसे अब आज किसे अपनाया ?
अन्य धाम धन धरा जीव ने इस जीवन मे पाया।
आगामी भव मे पायेगे, अन्य किसी की माया॥

अन्यत्व भावना भाने के लिए कितना सुन्दर उद्बोधन है ? वास्तव मे ही मनुष्य को विचार करना चाहिए कि—

"पूर्व जीवन मे मैं कौन था ? कहाँ था ? और किन-किन प्राणियो के कौन-कौन से नातो को तोडकर यहाँ आया हूँ। निश्चय ही मेरे पिछले जन्म मे दूसरे माता-पिता व सम्बन्धी होंगे, पर इस जीवन मे मुझे ये सब फिर दूसरे मिले हैं यहाँ तक कि पूर्व जन्म मे मैंने जिसे चिरकाल-सगिनी पत्नी बनाकर चाहा होगा, उसे छोडकर इस जीवन मे पुन दूसरी अपना चुका हूँ।"

"इसी प्रकार धन, मकान, जमीन आदि का हाल हो गया है। पिछले जन्म मे मेरी सम्पत्ति कही और होगी, जिसे अब दूसरे ने पाया होगा और मैं भी किसी अन्य की सम्पत्ति पाकर गर्वित हो रहा हूँ। तारीफ यह है कि यहाँ से भी जब मरूँगा तो मरने के बाद किसी और की माया पर मेरा कब्जा हो जायेगा। कितनी विचित्र बात है ? सदा जीव अकेला ही आता-जाता रहता है। आत्मा के अलावा उसका सब कुछ बदल जाता है। और तो और शरीर भी वह नही रहता।

कविता मे आगे कहा गया है—

पूर्व भवो मे जिस काया को बड़े यत्न से पाला।
जिसकी शोभा बढा रही थी, मणियाँ मुक्ता माला॥

वह कण-कण बन भूमण्डल मे कही समाई भाई।
इसी तरह यह मिटने वाली नूतन काया पाई॥
शैशव अन्य, अन्य यौवन है, है वृद्धत्व निराला।
सारा ही ससार सिनेमा के से दृश्यो वाला॥
इन भगुर भावो से न्यारा ज्योतिपुञ्ज चेतन है।
मूर्ति रहित चैतन्य ज्ञानमय निश्चेतन यह तन है॥

पद्यो मे शरीर के अन्यत्व पर बडी सरल भाषा मे बताया गया है कि जीव ने अपने पूर्व जन्म मे जिस शरीर को वर्तमान मे जैसे सावधानी से रखते है, उसी प्रकार रखा होगा और नाना प्रकार के वस्त्राभूषणो से सुसज्जित किया होगा। किन्तु यहाँ आते समय उसे छोडा और उसकी राख होकर इसी भूमण्डल मे बिखर गई होगी।

पर यहाँ आते ही पुन नई देह प्राप्त की है, नया ही शैशव और यौवन पाया है तथा वृद्धत्व भी आयेगा। किन्तु इसके पश्चात् ही पुन यह देह नष्ट होकर कण-कण के रूप मे कही समा जायेगी और फिर से कोई दूसरा शरीर प्राप्त होगा। इस स्थिति को देखकर लगता है कि यह ससार वास्तव मे नाटक या सिनेमा के समान है, जिसमे पात्रो को सदा नया रूप दे-देकर रगमच पर लाया जाता है। कभी वे राजा बनते है, कभी रक, कभी वीर योद्धा के रूप मे सामने आते है और कभी कायर या डरपोक बनकर पीठ दिखाते है। कभी उनके शरीर पर कीमती वस्त्राभूषण होते है और कभी तन पर भगवा वस्त्र और गले मे रुद्राक्ष की माला। ठीक इसी प्रकार ससार-रूपी रगमच पर भी जीव नाना प्रकार के चोले पहनकर आता है। वह कभी रोता है, कभी हँसता है तथा कभी पूजा-भक्ति करके भगवान को रिझाता है।

पर बन्धुओ, यह भली-भाँति समझ लो कि जो भी नवीन देह या चोला वह धारण करता है, निश्चय ही जड होता है और किसी भी समय नष्ट हो जाता है। पर जो नष्ट नही होता वह केवल निराकार, ज्ञानमय एव चैतन्य आत्मा ही है जोकि अद्भुत ज्योति का पुज है।

इसी बात को आगे और भी स्पष्ट रूप मे समझाया गया है—

हो जल मे उत्पन्न जलज ज्यो जल मे ही न्यारा है।
त्यो शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है॥
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होगी?
समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी-मेरी॥

नया-नया पल सकल विश्व मे नव्य रूप लाता है।
सकल सुखो का पात्र दूसरे पल मे बिललाता है॥
है जो जिसकी असल सम्पदा, वह क्या न्यारी होती ?
क्या सूरज की जोत कभी भी अलग सूर्य से होती ?

अर्थात्—जिस प्रकार जल मे उत्पन्न होने पर भी कमल जल से अलग रहता है, इसी प्रकार शरीर मे रहते हुए भी जीव शरीर से सर्वथा भिन्न होता है। तो जब शरीर भी आत्मा से अलग होता है, सदा उसका साथ नही देता तो फिर ससार के अन्य पदार्थ और सम्बन्धी कैसे उसके हो सकते है ? केवल अज्ञान के कारण वह इन सबको मेरा-मेरा कहता है।

परिवर्तनशील संसार

मनुष्य को विचार करना चाहिए कि इस ससार मे प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। प्रत्येक पल, वह परिवर्तित होती रहती है। अगर ऐसा न होता तो आज जो नई वस्तु हम खरीदते है वह कुछ समय बाद पुरानी कैसे हो जाती है ? भले ही वह परिवर्तन इतनी सूक्ष्मता से हो कि हम उसे जान न पाएँ, किन्तु होता अवश्यमेव है और इसे कोई गलत साबित नही कर सकता। हम और आप सभी लोग देखते ही है कि बालक जन्म लेता है और फिर बडा होता जाता है। किस प्रकार वह प्रतिपल बढता है इसे हम देख नही पाते, समझ नही पाते किन्तु हर क्षण वह बढता अवश्य है। तभी तो युवा, प्रौढ और वृद्ध होकर वह जर्जरित देह वाला बनता है। क्या ऐसा किसी एक ही दिन या एक ही समय मे होता है कि वह बालक से युवा हो गया हो ? नही, वह अपने शरीर मे प्रतिपल परिवर्तित होकर बढता चला जाता है। हम तो केवल मोटा परिवर्तन ही देख पाते है, जैसे अपार धन का स्वामी कल रक हो गया या रक राजा बन गया। शरीर के लिए भी यही जान पाते हैं कि किसी प्राणी ने जन्म लिया और कोई प्राणी मर गया, यानी शरीर पाया या उसका नाश हो गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, किन्तु उसके अलावा शरीर या सम्पदा, सभी परिवर्तित होते रहते है। इससे स्पष्ट है कि परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनो एक नही हो सकते। अगर सासारिक पदार्थ या शरीर जीव के होते तो वे परिवर्तित होकर नष्ट क्यो होते ? असली सम्पत्ति कभी अलग नही होती, जिस प्रकार सूरज की ज्योति। सूर्य की ज्योति के लिए कोई लाख प्रयत्न क्यो न करे, वह उससे अलग नही की जा सकती। उसी प्रकार अगर शरीर और अन्य वस्तुएँ जीव से किसी भी प्रकार भी अलग नही होती, तो वे उसकी कहलाती। पर ऐसा नही होता। घाटा लगते ही धन

अलग हो जाता है, स्वार्थ न सधते ही सम्बन्धी किनारा कर जाते हैं और मृत्यु का आगमन होते ही देह नष्ट हो जाती है। तब फिर ये सब जीव के कैसे हो सकते हैं? जीव या आत्मा के अपने तो केवल अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन या उसके अन्य विशुद्ध गुण ही हैं जो कभी उससे अलग नही होते। एक छोटा-सा उदाहरण है—

कोई संत यत्र-तत्र विचरण करते हुए किसी ऐसे प्रदेश मे पहुँच गये, जहाँ के व्यक्ति बडे क्रूर और निर्दयी थे। पशुओ को मारकर खाना तो उनके लिए साधारण बात थी, वे मनुष्यो को मारने मे भी वे नही हिचकिचाते थे।

संत ने जब यह सब देखा तो उनके हृदय मे बडी पीडा हुई और वे लोगो को अहिंसा धर्म है तथा हिंसा घोर पाप है, इसे नाना प्रकार से अपने उपदेशो के द्वारा समझाने का प्रयत्न करने लगे। फलस्वरूप अनेक व्यक्तियो के दिलो पर उनके उपदेशो का मार्मिक प्रभाव पडा और उन्होंने हत्या करना त्याग दिया।

पर आप जानते ही हैं कि सभी व्यक्ति एक जैसे नही होते। कुछ सुलभ बोधि होते हैं, जो थोडे से बोध मे ही अपने आपको बदल देते है, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो लाख प्रयत्न करने पर भी धर्म के मर्म को अपने पास भी नही फटकने देते।

ऐसे ही व्यक्ति उस प्रदेश मे भी थे। जब उन्होने देखा कि हमारी जाति के अनेक व्यक्ति संत की बातो मे आकर अपने जन्म-जात व्यवसाय 'हिंसा' को छोड रहे हैं तो उन्हे बडा क्रोध आया और मौका पाकर उन्होंने संत को बहुत पीटा तथा उनके वस्त्र, पात्र आदि सब छीन लिये।

संत लहू-लुहान होने पर भी पूर्ण शांति एव समभावपूर्वक ध्यान मे बैठे रहे। जब उनके कुछ अनुयायी उधर आये और संत की ऐसी दशा देखी तो चकित और अत्यन्त दुखी होकर बोले—"भगवन्! दुष्टो ने आपकी ऐसी दुर्दशा की और सब कुछ छीन लिया, तब भी आपने आवाज लगाकर हमे क्यो नही पुकारा? आपकी आवाज सुनकर हममे से कोई न कोई तो आ ही जाता और उनको अपने कृत्य का मजा चखा देता।"

संत लोगो की यह बात सुनकर अपनी स्वाभाविक शान्त मुद्रा और मुस्कुराहट के साथ बोले—"भाइयो! क्या कहते हो तुम? मेरी दुर्दशा करने वाला और मुझसे अपना सब कुछ छीनने की शक्ति रखने वाला इस संसार मे है ही कौन?"

संत की यह बात सुनकर वे हितैषी व्यक्ति बहुत चकराये और आश्चर्य

से बोले—"हम स्वय देख रहे है कि उन लोगो मे आपके शरीर को लहू-लुहान कर दिया है और आपकी सब वस्तुएँ छीनकर ले गये है। आँखो-देखी भी क्या गलत हो सकती है भगवन् ?"

सत ने उत्तर दिया—"बन्धुओ ! तुम जो कुछ देख रहे हो यह असत्य नही है। पर यह शरीर तो 'मैं' नही हूँ। 'मैं' जो कुछ हूँ वह अपनी आत्मा से हूँ। भला बताओ ! मेरी आत्मा को कहाँ चोट लगी है ? उसका तो कुछ भी नही बिगडा, वह जैसी की तैसी है। रही बात वस्त्र-पात्र छीन ले जाने की। उसके लिए भी तुम किसलिए दुःख करते हो ? वे वस्तुएँ मेरा धन नही थी। मेरा धन मेरी आत्मा के गुण है और वे सब सही सलामत है। एक भी उनमे से छीना नही गया। कोई उन्हे छीन भी कैसे सकता है ?"

सत की बात सुनकर लोगो की आँखे खुल गई और वे सोचने लगे—"महाराज का उपदेश अभी तक हमने अधूरा सुना था, आज ही सच्चा उपदेश सुन सके है।"

बन्धुओ, यही यथार्थ और अन्यत्व भावना का सच्चा उदाहरण है। प्रत्येक मुमुक्षु को सतत यह विचार करना चाहिए—

मानव, दानव, देव, नारकी, कीट पतग नही हूँ।
चाकर, ठाकुर, स्वामी-सेवक राजा प्रजा नही हूँ॥
लोकालोक-विलोकी हूँ मैं चिदानन्दमय चेतन।
है यह सब पर्याय द्रव्यमय 'मै' हूँ शुद्ध सनातन॥
मै हूँ सबसे भिन्न अन्य, अस्पृप्ट निराला।
आत्मीय-सुख-सागर मे नित रमने वाला॥
सब सयोगज भाव दे रहे मुझ को धोखा।
हाय न जाना मैंने अपना रूप अनोखा॥

कवि श्री 'मारिल्ल' जी ने प्रेरणा दी है कि प्रत्येक मानव को इसी प्रकार अन्यत्व भावना भाना चाहिए—

"मै न मनुष्य हूँ और न ही देव, नारकी, कीडा, पतिगा या अन्य कोई प्राणी। न मै किसी का नौकर हूँ और न ही मेरा कोई स्वामी, ठाकुर या राजा ही है। ये सब मैंने पर्याये प्राप्त की थी जो नष्ट होती गई है मै तो लोकालोक को जानने की शक्ति रखने वाला, शाश्वत आनन्दमय चेतन हूँ अत इन सबसे भिन्न और निराला ही हूँ। मेरी आत्मा तो सदा सुख के सागर मे रमण करने वाली, सर्वथा शुद्ध और सनातन है।

"पर आज तक ये सब झूठे संयोग और नाते मुझे धोखा देते रहे हैं और मैं इन्हें अपना समझकर भ्रम में रहा हूँ। कितने दुःख की बात है कि अब तक मैंने अपने अनन्त शक्तिमय एवं अनन्त शान्तिमय अनोखे रूप को नहीं समझा।"

वस्तुतः इस संसार में मनुष्य मोह-ममता के झूठे बन्धनों में जकड़ा रहकर आत्मा के भाव को भूल जाता है। वह अपने शरीर से दिन-रात श्रम भी करता है पर वह उसे मात्र शारीरिक सुख पहुँचाते हैं, जिन्हें पाना न पाना कोई महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि शरीर को कितना भी सुख क्यों न पहुँचाया जाये, एक दिन तो वह नष्ट हो ही जाना है अतः उसे सुख पहुँचाने का भले ही जीवन भर प्रयत्न किया जाय, सर्वथा निरर्थक जाता है। पर शरीर को सुख पहुँचाने का वह जितना प्रयत्न करता है, उसका चौथाई भी अगर आत्मा को सुख पहुँचाने का करे तो कुछ न कुछ सच्चा लाभ हासिल कर सकता है।

शरीर को सुखी करने का प्रयत्न ठीक वैसा ही है जैसे फल, फूल तथा डालियों पर पानी उड़ेला जाय उससे वृक्ष उन्नति नहीं करता, उलटे सूख जाता है। इसी प्रकार शरीर को सुख पहुँचाते रहने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, उलटे वह कर्म-बन्धनों में जकड़ी जाकर कष्ट पाती है। तो, जैसे वृक्ष को हरा-भरा बनाने के लिए मूल को सींचना आवश्यक है, वैसे ही सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए धर्माराधन द्वारा आत्मा को विशुद्ध बनाना भी अनिवार्य है। पर धर्माराधन तभी हो सकेगा, जबकि पहले भावनाएँ शुद्ध होंगी तथा मुमुक्षु वीतराग के वचनों पर विश्वास करता हुआ सन्तों के द्वारा उन्हें सुनेगा तथा सुनकर जीवन में उतारेगा।

सत्संगति का महत्त्व

जिस व्यक्ति के हृदय में आत्म-कल्याण की इच्छा तीव्रतर हो जाती है, वह साधु-समागम से ही साधना के मार्ग की जानकारी करता है। जिस प्रकार बालक को क्या करना चाहिए और क्या नहीं? यह पहले उसके माता-पिता और उसके बाद शिक्षक समझाते हैं, इसी प्रकार धर्म साधना की क्रियाएँ भी सन्त-महात्मा अज्ञानी पुरुष को बताते हैं। अज्ञानी पुरुष भी बालक के समान ही होता है।

कहा भी है—

'ण केवलं वयबालो कज्ज अयाणओ बालो चेव।'

—आचारांग चूर्णि १-२-३

अर्थात्—केवल अवस्था से ही कोई 'बाल' यानी बालक नहीं होता किन्तु जिसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है वह भी बाल ही है।

तो अज्ञानी व्यक्ति जो कि बालक के समान ही होता है, उसे सच्चा ज्ञान पाने के लिए तथा आत्मोन्नति के सही मार्ग को जानने के लिए सत्सगति करना आवश्यक है। अगर वह साधु-पुरुषो का समागम नही करेगा और उनसे धर्म का मर्म नही समझेगा तो केवल इच्छा मात्र से सवर या साधना के पथ पर कैसे बढ सकेगा ?

शास्त्र भी कहते है—

एगागिस्स हि चित्ताइ विचित्ताइ खणे खणे ।
उपज्जति वियते य वसेव सज्जणे जणे ।।

—बृहत्कल्प भाष्य ५७१९

अर्थात्—एकाकी रहने वाले साधक के मन मे प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एव विलीन होते रहते है। अत सज्जनो की सगति मे रहना ही श्रेष्ठ है।

वस्तुत शास्त्र-वचन सत्य है। जो व्यक्ति इन पर अमल करते है यानी सन्त-समागम करते है वे कुछ न कुछ लाभ उठाते ही है। सज्जनो की सगति कभी निरर्थक नही जाती।

अत्यल्प सगति का असर

कहते है कि एक वार भारत के स्वर्गीय राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी कही जाने के लिए ट्रेन मे बैठे थे। उनके समीप ही एक व्यक्ति बैठा हुआ बीडी पी रहा था और समीप बैठे व्यक्तियो की परवाह किये बिना धुँआ छोडता जा रहा था।

राजेन्द्र बाबू ने उसे तनिक शिक्षा देने के अभिप्राय से पूछ लिया—"क्यो भाई ! यह बीडी जो तुम पी रहे हो, तुम्हारी ही है ?"

यह सुनकर वह व्यक्ति तनिक क्रोध से बोला—"वाह, मेरी नही तो क्या किसी और की है ?"

इस पर राजेन्द्र बाबू बोले—"तो भाई ! फिर इससे निकला हुआ धुँआ भी तो तुम स्वय रखो। इसे किसी और को क्यो देते हो ?"

यह सुनकर व्यक्ति अपनी असभ्यता के लिए बडा लज्जित हुआ और बीडी बुझाकर खिडकी से बाहर फेक दी। साथ ही उसने मन ही मन निश्चय किया कि अब वह कभी इस प्रकार बीडी नही पीयेगा।

देखिये ! राजेन्द्र बाबू की अल्प-सगति से भी बीडी पीने वाले व्यक्ति पर कैसा असर हुआ ? तो जो व्यक्ति अधिक से अधिक सन्त-पुरुषो की सगति मे रहेगे, उन पर अच्छा प्रभाव क्यो नही पडेगा ? अवश्य ही पड़ेगा।

मराठी भाषा मे भी एक बडा सुन्दर पद्य कहा गया है। वह इस प्रकार है—

तुम्ही कीर्तनासी जा, गा ! तुम्ही कीर्तनासी जागा ॥
तुम्ही कीर्तनासी जागा। तुम्ही कीर्तनासी जा, गा ॥

अनुप्रास अलकार से युक्त इस सुन्दर पद्य मे एक ही वाक्य चार जगह दिया हुआ है, किन्तु सब का आशय कुछ भिन्न-भिन्न है। इस पद्य के द्वारा बताया गया है कि व्यक्ति को कीर्तन मे जाना चाहिए क्योकि वहाँ सन्त-समागम होता है। अब मैं इन चारो एक-सी लाइनो के विविध अर्थों को आपके सामने रखता हूँ।

(१) पहली लाइन मे व्यक्तियो को सम्बोधित करते हुए कहा है— "भाइयो, जहाँ जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ तुम्हे जाना चाहिए। इस लाइन मे 'जा' क्रिया पद और गा सम्बोधन के रूप मे है।"

(२) दूसरी लाइन मे कहा है—"बन्धुओ ! तुम ही कीर्तन की जगह हो। इसका अर्थ बडा गूढ है। यह बताना है कि चौरासी लाख योनियो मे केवल मनुष्य योनि ही सत्सग, धर्मध्यान, भाव-भक्ति या कीर्तन का स्थान है। अन्य किसी भी गति मे यह नही हो सकता। यहाँ तक कि जिस देव-योनि को पाने के लिए लोग तरसते है, वहाँ भी धर्म-ध्यान, साधना या कीर्तन आदि नही किया जा सकता।"

(३) तीसरे चरण मे कहा है—"लोगो ! कीर्तन मे जाकर जागते रहो, निद्रा मत लो।" यहाँ जागते रहने से भी दो आशय है पहला तो यही कि नीद मत लो। हम प्राय देखते है कि आप लोग जब अपनी दुकान या फैक्ट्री आदि मे बैठते है अथवा बहीखाता करते है, तब तो जरूरत से ज्यादा सजग रहते है। क्योकि अगर नीद आने लगी और हिसाब मिलाते समय एक भी अक गलत या इधर-उधर लिखा गया तो बडी गडबड हो जाती है और आपको पुन-पुन श्रम करना पडता है। अत आप पूरी जागरूकता से काम करते है।

किन्तु यहाँ प्रवचन मे बैठे रहकर बार-बार झोके लिया करते है। इसका कारण यही है कि धर्मोपदेश की आपको परवाह नही है। जो सुन लिया ठीक है और जो नही सुन पाया वह भी ठीक है। क्या फर्क पडता है दस-बीस बातें नहीं भी सुनी तो ?

पर बन्धुओ, जिन व्यक्तियो को यह ससार कारागार महसूस होता है या वे अपनी आत्मा को शरीर रूपी पिजरे मे बंद मानते है, उन्हे वीतराग के वचनो से कभी तृप्ति ही नही होती. नीद लेना तो दूर की बात है। इसके अलावा

आप जानते है कि जिस समय आपने नीद के झोके लिये, उसी समय कोई दिल पर प्रभाव डालने वाली वात सुनने से रह गई तो कितनी हानि होगी ? नही, मैं तो समझता हूँ कि आप पूरा उपदेश ही न सुनें तो भी अपनी तनिक भी हानि नही समझेंगे । पर इतिहास मे ऐसे-ऐसे उदाहरण भी हैं कि निकटभवि पुरुष, सतो के दो-चार वचनो को सुनकर ही ससार से विरक्त हो गये और आत्म-कल्याण मे जुट गये । इसीलिए प्रवचन या सत्सग मे जागृत रहना चाहिए ऐसा मराठी पद्य के तीसरे चरण मे कहा है ।

जागृत रहने का दूसरा अर्थ है विवेकरूपी नेत्र खुले रखना । शास्त्रो मे धर्म-जागरण करने का आदेश मुमुक्षु को बार-बार दिया जाता है । उदाहरण-स्वरूप किसी व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनते समय नीद तो तनिक भी न आए, किन्तु अपने सासारिक कार्यों या व्यापारादि के विचारो मे मन उलझा रहे । ऐसी स्थिति मे द्रव्य-निद्रा न लेने पर भी उसका मन स्थिर नही रहेगा और अनमना रहकर वह कुछ भी सुन-समझ नही पायेगा । अत ऐसे समय मन को पूर्णतया केन्द्रित करके वीतराग के वचनो को सुना जाय, और अपने ज्ञान एव विवेक के द्वारा उन्हे आत्मसात् किया जाय तभी सच्चा जागरण कहा जा सकता है ।

(४) अव आती है पद्य के चौथे चरण की वात । इस चरण के द्वारा कवि ने प्रेरणा दी है—"भाइयो ! अगर घर पर एकाकी रहने से निद्रा सताती है तो जहाँ भजन, कीर्तन हो रहा है, वहाँ जाओ और कुछ गाओ ताकि निद्रा से बचो और ईश्वर का स्मरण कर सको ।"

गाना भी भक्ति का एक साधन है । अनेकानेक भक्त ऐसे हुए हैं जो ज्ञान से कोरे थे और पूजा-पाठ आदि क्रियाएँ भी नही कर सकते थे । किन्तु प्रभु का स्मरण करने के लिए वे अपने मन के विचार भजनो मे उँडेला करते थे । पर भजन-कीर्तन भी वे हृदय की ऐसी गहराई और तन्मयता से करते थे कि उसके द्वारा ही वे ससार-सागर से पार हो गये ।

तो वन्धुओ ! महत्त्व भावनाओ का अधिक है । जो भव्य प्राणी ससार की असारता और अन्यत्व को समझ लेते है, वे अपने जीवन को निरतर शुद्ध वनाते चले जाते है । कहा भी है—

मुक्ति सौध सोपान भावना अति सुखदाई,
है अन्यत्व विचार हृदय मे समता लाई ।
पापी तिरे अनेक वन्धु ! चिन्तन से इनके,
पाप-ताप-सताप न मिटते है किस-किसके ?

उक्त पद्य में कहा गया है—"भाई 'अन्यत्व भावना' मुक्ति रूपी मंजिल की सीढ़ी है तथा शाश्वत सुख प्रदान करने वाली है। इसलिए हृदय में पूर्ण समभाव रखते हुए प्रतिपल उसे मानस में रखो।"

अनेक महापापी भी इस भावना के हृदय में सच्चाई से उतरते ही अपना आत्म-कल्याण कर गये हैं और यह यथार्थ भी है। सच्चे हृदय से इसे भाने पर कौन ऐसा व्यक्ति है, जो अपने समस्त पाप और संसार के संताप को दूर नहीं कर सके? यानी इसी भावना के कारण आज तक सभी भव्य प्राणी भव-सागर पार कर सके हैं, और जो करना चाहते हैं, वे भी इसे धारण करेंगे तभी संसार की वास्तविक स्थिति समझ कर उसे छोड़ सकने में समर्थ बनेंगे। अन्यत्व भावना ही मुक्तिरूपी मंजिल का प्रथम चरण या प्रथम सीढ़ी है अतः प्रत्येक मुमुक्षु को इसे अपने अन्तर्मानस में रमाना चाहिए।

○

१७

हंस का जीवित कारागार

++

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो मे से पैंतीस भेदो का सक्षिप्त मे विवेचन हो चुका है। कल अन्यत्व भावना के विषय मे हमने विचार किया था और आज 'अशुचि भावना' को लेना है। 'अशुचि-भावना' बारह भावनाओ मे से छठी है तथा शरीर की यथार्थ स्थिति को बताती है।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने इस भावना को लेकर कहा है—

करत है स्नान और मन मे गुमान आने,
सोचे नारी गर्भ माही औंधे मुँह लटक्यो।
शरीर असार, रस्सी, रुद्र, मास, हाड भीजे,
चर्म शुकर नसाजाल बन्ध अटक्यो॥
अशुचि अपावन को थान एह देह गेह,
करे शिणगार शठ जोबन के भटक्यो।
बिनसत बार नही सनत्‌कुमार ऐसी,
भावना से दीक्षा गही ससार से छटक्यो॥

बन्धुओ, इस ससार मे जीव चारो कषायो के वश मे रहकर अनन्त काल से परिभ्रमण करता आ रहा है और जब तक कषाय सम्पूर्णत नष्ट नही होंगे, इसी प्रकार चौरासी लाख योनियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर धारण करता हुआ भटकता भी रहेगा।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। वैसे तो सभी एक से एक बढकर है और आत्मा को अनेकानेक कर्म-पाशो से जकडकर बांधने मे

समर्थ है, किन्तु मान यानी अहंकार या गर्व सभी से बढ़कर है। अहंकार के वश में रहकर मानव सारे संसार को तुच्छ समझने लगता है और अनेक पापों का बन्धन करके दुर्गति में जाता है। कहा भी है—

'अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं।'

अर्थात्—अभिमानी व्यक्ति अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को बिम्बभूत यानी परछाई के समान तुच्छ मानता है।

किन्तु अहंकार का परिणाम कभी भी उसके लिए अच्छा नहीं होता और वह वर्तमान जीवन तो बिगड़ता ही है परलोक को उससे भी अनेकगुना दुखद बना देता है। रावण, कंस, दुर्योधन आदि अपनी शक्ति के गर्व में चूर हो गये थे, पर उनका फल क्या हुआ? अपने जीवन में तो कुल को भी ले डूबे, सदा के लिए कुख्यात हुए, और पापों के कारण कुगतियों में घोर दुःख पाने के लिए गये वह अलग।

यहाँ मैं आपको यह और बताना चाहता हूँ कि अहंकार केवल शक्ति का ही नहीं होता, और भी कई तरह का होता है। योगशास्त्र में कहा गया है—

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप-तपः श्रुतैः।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥ —अ ४–१३

अर्थात्—जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप एवं ज्ञान, इस प्रकार आठ प्रकार के मद यानी अहंकार में चूर होता हुआ जीव भवान्तर में हीनगति को प्राप्त करता है।

मुनि हरिकेशी चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे और उनके शरीर में रूप का भी अभाव था। किन्तु उनके हृदय में संसार को देखकर अनित्य, अशरण, एकत्व एवं अनित्यादि भावनाओं का उद्भव हुआ जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने मुनि-धर्म ग्रहण कर लिया। पूर्ण दृढ़तापूर्वक वे मुनि-धर्म का पालन करने लगे एवं साधु-चर्या के अनुसार यत्र-तत्र विचरण करते रहे। मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों पर उनका पूर्ण कब्जा था।

एक बार वे भ्रमण करते हुए वहीं ठहरे और भिक्षा की गवेषणा करते हुए ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ-मंडप में पहुँच गये।

उन्हें देखकर जाति एवं कुल के घमण्ड में चूर ब्राह्मण उनका उपहास करने लगे।

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के वारहवे अध्याय मे कहा भी है—

जाईमयपडिथद्धा, हिंसगा अजिइन्दिया।
अबम्भचारिणो वाला, इमं वयणमब्ववी ॥

अर्थात्—उच्च जाति के गर्व से भरे हुए, हिंसा करने वाले, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी एव अनार्य ब्राह्मण हरिकेशी मुनि का उपहास करते हुए कहने लगे—

कयरे तुम इय अदसणिज्जे,
काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पसुपिसायभूया,
गच्छक्खलाहि किमिह ठिओसि ॥

ब्राह्मण मुनि से बोले—"कौन है तू जो कि इस प्रकार अदर्शनीय है ? किस आशा से यहाँ पर आया है ? रे ! अति जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो को धारण करने वाले पिशाच रूप, जा हमारी दृष्टि से भी दूर हो जा ! यहाँ पर क्यो खडा है ?"

ब्राह्मणो के ऐसे घोर तिरस्कारपूर्ण शब्दो को सुनकर महामुनि हरिकेशी तो मौन रहे किन्तु उनकी सेवा मे छाया की भाँति रहने वाले यक्ष ने उन्ही के शरीर मे प्रवेश किया और उन्हे साधु कैसी भिक्षा लेते है यह वताया।

पर ब्राह्मण यह सुनकर भी बोले—"हमारे यहाँ भोजन शास्त्रोक्त विधि से तैयार किया गया है अत शूद्र को नही दिया जा सकता। क्योकि शास्त्र शूद्र को दान, पाठ और हवि देने का निषेध करते है।"

इस पर भी हरिकेशी मुनि के शरीर मे स्थित यक्ष ने मुनि की जबानी कहा—"भाई पाँच समिति से युक्त, तीनो गुप्तियो से गुप्त और मुझ जितेन्द्रिय को भी अगर तुम निर्दोष आहार-दान नही दोगे तो तुम्हारे इस यज्ञ के अनुष्ठान से क्या लाभ प्राप्त होगा ?"

ब्राह्मणो को मुनि के ये वचन सुनकर और भी क्रोध आया और उन्होने यज्ञशाला मे स्थित कई शिक्षार्थी ब्राह्मण कुमारो को सकेत किया कि वे मार-पीट कर इस साधु को यहाँ से निकाल दे। उन ब्राह्मण कुमारो ने ऐसा ही किया। यद्यपि मुनि हरिकेशी तो इस उपसर्ग को पूर्ण समभाव से सहन कर लेते किन्तु यक्ष से मुनि को मारा-पीटा जाना सहन नही हुआ और उसने आकाश मे भयकर रूप धारण करके उन छात्रो की खूब मरम्मत की। अनेको का शरीर क्षत-विक्षत कर दिया और अनेको के मुख से रुधिर बहने लगा। सभी की दशा बडी दयनीय हो गई।

तब फिर यज्ञ के अधिष्ठाता सोमदेव ब्राह्मण ने अपनी पत्नी भद्रा सहित मुनि से क्षमा याचना की और कहा—

"भगवन् ! इन मूढ़ कुमारों ने आपकी जो अवहेलना की तथा कष्ट पहुँचाया, उसके लिए उन्हें क्षमा करें। क्योंकि सन्त तो क्रोधरहित होते हैं।"

सोमदेव ब्राह्मण के यह वचन सुनकर मुनि ने प्रसन्नमुख एवं शान्तभाव से उत्तर दिया—"भाई ! मेरे मन में तो किसी के प्रति रंचमात्र भी क्रोध या द्वेष नहीं है। यज्ञ मण्डप में आने से पूर्व मेरा जैसा भाव था वैसा ही अब भी है। पर यह सब काण्ड मुझ पर भक्ति रखने वाले यक्ष ने किया है। आखिर वह तो साधु है नहीं जो आप लोगों का उपद्रव सहन कर लेता।"

मुनि के इन शान्त वचनों को सुनकर सभी ब्राह्मणों की आँखें खुलीं और वे बोले—

> अत्थ च धम्मं च वियाणमाणा,
> तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
> तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो,
> समागया सव्वजणेण अम्हे ॥
>
> —उत्तराध्ययन, अ० १२ गा० ३३

अर्थात्—ब्राह्मण कहने लगे—"हे भगवन् ! आप अर्थ और धर्म के ज्ञाता हैं, कभी क्रुद्ध न होने वाले हैं, क्योंकि आपकी बुद्धि सदा रक्षा करने वाली है अतः हम सब लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं।"

बन्धुओ ! मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि अभिमानी का मस्तक अन्त में नीचा अवश्य होता है। उन ब्राह्मणों को अपनी जाति, कुल एवं ज्ञान का बड़ा अहंकार था, किन्तु अन्त में उन्हें निम्न कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि की शरण लेनी पड़ी और उनसे क्षमा याचना करनी पड़ी। जब तक वे गर्व में भरे रहे, तब तक शान्ति प्राप्त नहीं कर सके और अपने छात्रों की दुर्दशा का कारण बने।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि शास्त्रों में बताये हुए आठों प्रकार के गर्व जहाँ रहते हैं, वहाँ अशुभ ही होता है, शुभ नहीं हो सकता। हमारे आज के विषय में भी यही बताया जाता है कि शरीर की यथार्थ स्थिति को समझकर उसके सौंदर्य का व्यक्ति को गर्व नहीं करना चाहिए। गर्व के आठ प्रकारों में रूप भी एक है। सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने शारीरिक सौन्दर्य का बड़ा भारी गर्व था, किन्तु रोगों की राशि ने उनके शरीर में सोलह महारोगों ने घर कर लिया और काल के मुख में असमय ही कुम्हलाते हुए नजर आये।

इसलिए प्रत्येक मानव को शरीर की अशुचिता एव अनित्यता पर विचार करते हुए इसे केवल धर्म-साधनो मे सहायक मानना चाहिए, इससे अधिक कुछ नही। खेद की बात तो यह है कि लोग इस शरीर को अधिकाधिक सुख कैसे पहुँचाया जा सके, इसी मे रात-दिन लगे रहते है। उनके समक्ष मनुष्य-जीवन का अन्य कोई उद्देश्य ही नही होता। परिणाम यह होता है कि जिस शरीर को सुखी बनाने के लिए वे रात-दिन जुटे रहते है तथा नाना पाप करते चले जाते हैं, वह तो एक दिन नष्ट हो जाता है और आत्मा के साथ पाप-कर्म चिपटे हुए चलते है जो दुर्गति का कारण बनते है।

अशुचि-भावना पर प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने जो कविता लिखी है उसमे शरीर की यथार्थ स्थिति का बडा सुन्दर वर्णन किया गया है। कहा है—

हस का जीवित कारागार, अशुचि का है अक्षय भडार।
है वाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
वहिर्दृष्टि मोहित होते है, विनय विवेक विसार।
किस सामग्री से इस तन का हुआ बन्धु निर्माण,
कैसे-कैसे जाग उठे है, इस शरीर मे प्राण।
सोचना है विवेक का सार, हस का जीवित कारागार।

कहते हैं—यह शरीर अपवित्र वस्तुओ का ऐसा भडार है, जो कभी समाप्त नही होता, साथ ही आत्मारूपी हस को कैद करके रखने वाला जबर्दस्त कारागार भी है।

किन्तु मूढ व्यक्ति विवेक के अभाव मे ऊपरी रूप को देखकर इससे मोह रखते है तथा इसे वस्त्राभूषणो से सजाने और सुख पहुँचाने के लिए अहर्निश प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हे विचार करना चाहिए कि कैसी-कैसी घिनौनी वस्तुओ मे इसका निर्माण हुआ है और किस प्रकार इसमे प्राणो की स्थापना हुई है?

जीव इस शरीर को पाते समय नौ मास माता के उदर मे रहकर घोर कष्ट पाता है और नव जन्म लेकर लम्बे समय तक वडे असहाय रूप से समय व्यतीत करता है। न स्वय अपनी उदर-पूर्ति कर पाता है और न ही अन्य कार्य करने की ही क्षमता रखता है। माता दूध पिला देती है तो पी लेता है, अन्यथा भूख मे छटपटाता रहता है। न उस अवस्था मे उसे किसी प्रकार का ज्ञान होता है न बल, और न ही विवेक जागृत हो पाता है। वर्षों के पश्चात् वह समझ हासिल करता है और तब अपना कार्य स्वय करने की योग्यता प्राप्त

करता है। किन्तु ज्ञान प्राप्त करने पर और समझ आने पर भी वह यह नहीं मानता कि—

> रुधिर मांस चर्बी पुरीष की है थैली अलबेली,
> चमड़े की चादर ढकने को सब शरीर पर फैली,
> प्रवाहित होते हैं नव द्वार, हंस का जीवित कारागार ॥
> निकल रहा है जिस भोजन से सौरभ का गुब्बार,
> किसकी संगति से षटरसमय स्वाद पूर्ण आहार,
> पलक में बन जाता नीहार, हंस का जीवित कारागार ॥

मनुष्य को सोचना चाहिए कि जिस शरीर को लेकर वह गर्व करता है, वह है कैसा? रक्त, मांस, मज्जा एवं गंदगी से भरी हुई एक थैली ही तो है, जिस पर चमड़ा मढ़ा हुआ है और तब भी नौ द्वारों से मलिनता बाहर आती रहती है।

इतना ही नहीं, शरीर इतना घृणित है कि छहों रसों से परिपूर्ण, मधुर एवं स्वादिष्ट भोज्य-पदार्थ जो अत्यन्त सुगन्धित भी होते हैं, वे उदर में पहुँचते ही पल भर में आहार के अयोग्य एवं दुर्गन्धित बन जाते हैं।

वमन किया दूध क्यों नहीं पी सकते

आपको ध्यान होगा कि भगवान नेमिनाथ जब विवाह के लिए तोरण पर आकर भी बाड़े में बंद असंख्य पशुओं की आर्त-पुकार सुनकर लौट गये थे, तब राजुल ने भी संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण करने की ठान ली थी।

किन्तु नेमिनाथ के भाई रथनेमि के मन में विकार आया और वह राजीमती के समीप जाकर बोला—"राजुल! मेरे भाई चले गये तो क्या हुआ? उनके स्थान पर तुम मुझे समझ लो। मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह आवश्यक नहीं है कि मेरे भाई के चले जाने पर संयम अपनाकर तुम अपने इस अतुल सौन्दर्य को मिट्टी में मिला दो। मैं तुम्हारे रूप पर अत्यन्त मोहित हूँ और चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ जीवन का आनन्द उठाओ। आखिर यह सुन्दर शरीर क्या विनाशार्थ मिला है? मेरे साथ भोगोपभोग करके इसका सच्चा लाभ उठाओ, मेरी तुमसे यही प्रार्थना है।"

बन्धुओ, यद्यपि राजुल रथनेमि के भाई की वाग्दत्ता एवं होने वाली पत्नी होने के नाते भाभी थी और भाभी माता के समान पूजनीय होती है। किन्तु कामान्ध व्यक्ति को उचित-अनुचित का भान नहीं रहता। कहा भी है—

'अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः' ।।

अर्थात्—विषयान्ध व्यक्ति अधो मे सबसे बडा अधा है ।

तो रथनेमि भी विषय-लालसा के कारण अधा हो गया था और इसीलिए उसने मातृवत राजुल से भोगो को भोगने मे साथ देने की इच्छा प्रकट की ।

राजुल प्रथम तो रथनेमि के इस प्रस्ताव से चकित हो गई, किन्तु कुछ सोच-विचार कर उसने उत्तर दिया—

"आप कल मेरे लिए एक सर्वोत्तम पेय-पदार्थ लेकर आइयेगा, उसके बाद मैं आपको उत्तर दूंगी ।"

रथनेमि यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचार करने लगा—"निश्चय ही राजुल मेरी बात मानेगी, अन्यथा मेरे द्वारा स्वादिष्ट पेय-पदार्थ क्यो मँगवाती ?"

अगले दिन बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने रत्न जडित कटोरे मे पिस्ता केसर, इलायची आदि मिला हुआ दूध लिया और उसे लेकर राजुल के समीप आया । राजुल ने हर्ष का प्रदर्शन करते हुए सुगधित दूध के कटोरे को हाथ मे लिया और कुछ समय पूर्व ली हुई वमन-कारक औषधि के प्रभाव से दूध पीकर तुरन्त ही उसी कटोरे मे वमन कर दिया ।

तत्पश्चात् वह रथनेमि से बोली—"अब आप इसे पी लीजिए ।"

राजुल की यह बात सुनकर रथनेमि क्रोध से भर गया और बोला—"मेरा अपमान करती हो, तुम ? आखिर मैं एक राजकुमार हूँ । क्या वमन किया हुआ दूध पीऊँगा ?"

राजुल हँस दी और कहने लगी—"राजकुमार! आप अपने भाई की वमन की हुई अर्थात् छोडी हुई पत्नी को ग्रहण कर सकते है तो भला मेरा वमन किया हुआ दूध क्यो नही पी सकते ? आप तो मुझे बहुत प्यार करते है न ?"

रथनेमि स्तब्ध रह गया । उसे कोई उत्तर राजुल की बात का नही सूझा । इस पर राजुल ने उसे समझाते हुए कहा—

"भाई ! प्रथम तो मैं आपके भाई की पत्नी हूँ भले ही उन्होने मेरे साथ अग्नि के फेरे नही लगाये । तब भी मैं अन्य किसी का वरण नही कर सकती । दूसरे आप से मेरा यही कहना है कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर विकारग्रस्त हो जाना बुद्धिमानी नही है । इस शरीर मे है क्या ? केवल अशुचि और अपवित्रता होती है । अभी आपने देखा कि दूध पीकर कुछ क्षणो म बाहर निकलते ही वह कैसा दुर्गन्धिपूर्ण एव घृणित हो गया । वह क्यो ? इस सुन्दर शरीर

भक्ति भाव से भजे निरन्तर पावन परम जिनेश,
मानव अहकार बेकार, हस का जीवित कारागार।

हम देखते है कि ससार मे पशुओ का शरीर तो फिर भी उनके मरने के बाद कुछ न कुछ काम आता है। यथा—अनेक पशुओ को मार कर लोग उनका मास खाते है, ऊपर से उतारी हुई चमडी के जूते, बैग, बिस्तर-बन्द के पट्टे और इसी प्रकार अगणित वस्तुएँ बनाई जाती हैं। हाथी-दाँत की चीजे बडी सुन्दर और महँगी होती है, इसी प्रकार हिरण की नाभि मे होने वाली कस्तूरी बडी लाभदायक और कीमती मानी जाती है। पशुओ का मल-मूत्र भी अनेक रोगो को ठीक करता है। किन्तु मनुष्य का शरीर उसके मर जाने पर किसी भी काम नही आता, ज्यो का त्यो भस्म कर दिया है।

इन सब बातो का विचार करके मानव को चाहिए कि वह शरीर की अपवित्रता और असारता को समझकर इससे भगवान की यथाशक्ति भक्ति करे तथा इसके द्वारा अधिकाधिक तप एव साधना करके लाभ उठाये। अन्यथा एक दिन शरीर नष्ट हो जायेगा और पुन इसकी प्राप्ति दुर्लभ होगी। भले ही देव, तिर्यंच और नरक गति मे उसे अनेक प्रकार के शरीर मिलेंगे, किन्तु उनका मिलना न मिलना समान होगा, क्योकि आत्मा की भलाई के लिए तो वह कही भी कुछ न कर सकेगा। केवल जन्म का, मरण का तथा अन्य प्रकार के दु खो का भोगना ही हाथ आयेगा।

इसीलिए कवि सुन्दरदास जी कहते है—

घरी-घरी घटत छीजत जात छिन-छिन,
भीजत ही गलि जात माटी की सी ढेल है।
मुक्ति के द्वार आई सावधान क्यूँ न होवे ?
बेर-बेर चढत न तिया को यो तेल है॥
करि ले सुकृत हरि भज ले अखण्ड नर,
याहि मे अन्तर पड़े या मे ब्रह्म मेल है।
मनुष्य जनम यह जीत भावे हार अब,
सुन्दर कहत या मे जूआ को सो खेल है॥

पद्य अत्यन्त मार्मिक एव प्रेरणाप्रद है। महापुरुष इसी प्रकार मानव को चेतावनी देते रहते हैं, किन्तु अभागे व्यक्ति ऐसी कल्याणकर चेतावनियो के दिये जाने पर भी आत्म-बोध प्राप्त नही करते, यही खेद की बात है।

यहाँ कहा गया है—"अरे मूढ़ मानव! तेरी उम्र तो क्षण-क्षण में और घड़ी-घड़ी में कम होती जा रही है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार मिट्टी का ढेला जल से भीगते ही गलता चला जाता है। ऐसी स्थिति में मुक्ति के द्वार पर आकर भी तू सावधान क्यों नहीं होता? स्त्री को जिस प्रकार बार-बार तेल नहीं चढ़ाया जाता उसी प्रकार यह जीवन भी पुनः-पुनः मिलने वाला नहीं है।"

बन्धुओ, प्राचीन कवि और महापुरुष आज के जैसी उच्च शिक्षा हासिल न करने पर भी आध्यात्मिक ज्ञान को मानस की तह में उतार देते थे। वे भली-भाँति महसूस करते थे कि मानव-जीवन ही मुक्ति का द्वार है। यानी चार गति और चौरासी लाख योनियों में से मात्र मनुष्य योनि ऐसी है, जिसमें आकर जीव आत्मा को कर्म-मुक्त करने का प्रयत्न कर सकता है और मोक्ष हासिल करने में समर्थ बन सकता है। इसीलिए कवि ने उद्बोधन दिया है—"अज्ञानी पुरुष! इस बार तू चूक मत तथा भगवान की अखण्ड भक्ति करके जीवन का सच्चा लाभ उठा ले। इस जीवन में अगर तू पाप-कर्म करेगा तो ईश्वर से दूर होता चला जायगा और शुभ कार्य करके उससे मिल सकेगा। यह मनुष्य-भव हीरा जुए के खेल के समान है, अतः चाहे तो हारकर पुनः संसार-सागर में गोते लगाता चला जा और चाहे तो जीतकर 'ब्रह्म' की प्राप्ति कर ले।"

कहा भी गया है-

अशुचि भावना है विरक्ति का कारण सबल अनूप।
चिन्तन का चिन्तन कर चेतन! बन जा ज्योति स्वरूप।
शीघ्र ही होगा बेड़ा पार, तन का जीवित कारागार॥

अर्थात्—शरीर की अपवित्रता और अनित्यता की भावना ही मनुष्य को सच्चा विरक्त बना सकती है। अतः हे चेतन! पुनः-पुनः इसका चिन्तन कर और आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर इसके अनन्त ज्योतिर्मान रूप को उजागर कर। परिणाम यह होगा कि इस शरीर रूपी कारागार से तुझे छुटकारा मिलेगा और बेड़ा पार हो जायेगा।

जो भव्य प्राणी इस भावना को अमल में लाएँगे, वे निश्चय ही इहलोक और परलोक में सुखी बनेंगे।

१८

कर आस्रव को निर्मूल

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो मे से छत्तीस भेदो पर हम विवेचन कर चुके है आज इसके सैंतीसवे भेद पर सक्षिप्त विचार करना है। वह भेद है 'आस्रव-भावना'। वारह भावनाओ मे से यह सातवी भावना है और मानव के लिए इसका पाना आवश्यक है क्योकि आस्रव का अर्थ है—पाप-कर्मों का आना और इन अशुभ कर्मों के निरन्तर आते रहने से जीव ससार-परिभ्रमण करता हुआ घोर दु ख पाता रहता है। अत जो व्यक्ति इस भावना को ध्यान मे रखते हुए आस्रव से वचेगा, वही आत्मा को कर्मों से मुक्त करने मे समर्थ वन सकेगा।

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने आस्रव-भावना के स्वरूप को वताते हुए लिखा है—

> आस्रव है महा दुखदायी भाई जगमाही,
> श्रोतेन्द्रिय वश मृग मरत अकाल है।
> नेत्र से पतग भृ ग घ्राण, जीभ मीन जाण,
> मतग फरस मन महिम बेताल है ॥
> एक-एक इन्द्रि वश मरत अनेक जीव,
> पचेन्द्रिय वश ताको कहो कौन हाल है ?
> ऐसे अभिप्राय से ही दीक्षा ली समुद्रपाल,
> कहत त्रिलोक भावे होय सो निहाल है ॥

पद्य मे कहा गया है कि—इस ससार मे जीव को भटकाने वाला और नाना कष्टो को प्रदान करने वाला आस्रव ही है। कर्मों का आगमन आस्रव

सत-महात्मा मन को भी भ्रमर की उपमा देते हुए कहा करते है—अरे मन रूपी भँवरे ! तू माया के लोभ मे पडकर उसे बटोरता ही रहता है तथा आत्म-कल्याण के कार्य को वृद्धावस्था के लिए रख छोडता है। किन्तु याद रख जिस प्रकार सुगन्ध एव पराग के मोह मे पडा भ्रमर कमल मे कैद हो जाता है और उसके वाहर निकलने से पहले ही हाथी कमल को उखाड देता है, इसी प्रकार तू धन इकट्ठा करने के चक्कर मे रहकर आत्म-साधन नही कर पायेगा तथा कालरूपी हाथी आकर तेरी जीवन डोरी तोड डालेगा।

यद्यपि भ्रमर मे इतनी शक्ति होती है कि वह लकडी मे छेद कर देता है पर कमल की कोमल पखुडियो को नही बीध पाता। ऐसा क्यो ? इसलिए कि कमल की सुगन्ध मे वह मस्त रहता है तथा उसके प्रति अपार आसक्ति रखता है। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा मे भी अनन्त शक्ति है, जिसके द्वारा वह चाहे तो एक समय मात्र मे ही सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर सकता है, किन्तु धन-वैभव एव परिवार के प्रति मोह-ग्रस्त रहने के कारण वह न तो अपनी शक्ति का प्रयोग कर पाता है और न ही आत्म-कल्याण के लिए समय ही निकाल सकता है। परिणाम यह होता है कि मुक्ति के मनोरथ हृदय मे लिए ही काल का ग्रास वनकर दुर्गति की ओर प्रयाण कर जाता है।

तो मै आपको यह वता रहा था कि भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर मरता है और मछली रसना-इन्द्रिय के वश मे होकर। मच्छीमार व्यक्ति लोहे के काँटे मे आटा लगाकर उसे रस्सी के सहारे जल मे डाल देते है। जब मछली आटा खाने के लिए उसे निगल जाती है तो काटा उसके गले मे फँसकर रह जाता है। फल यह होता है कि डोरी के सहारे वह वाहर खीच ली जाती है और मृत्यु को प्राप्त होती है।

अव पाँचवी, स्पर्श-इन्द्रिय का नमूना देखिये। एक विशालकाय हाथी भी इस इन्द्रिय के द्वारा पराधीन होकर रह जाता है। कहते है कि हाथी को पकडने के लिए एक विशाल गड्ढा खोदा जाता है तथा हथिनी का आकार वनाकर उस गड्ढे मे उतार देते हैं। जव मद मे आया हुआ हाथी वहाँ आता है तो गड्ढे मे हथिनी समझकर उसमे गिर पडता है और फिर निकल नही पाता।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि हरिण, पतिगा, भ्रमर, मछली एव हाथी जैसे प्राणियो को एक-एक इन्द्रिय के वश मे होकर भी अपने प्राण गँवाने पडते है तो फिर मानव तो पाँचो इन्द्रियो के आकर्षण मे पडा रहकर नाना प्रकार के कर्मो का वन्धन यानी आस्रव मे उलझा रहता है, तव फिर उसकी क्या दशा होगी ? कितनी वार उसे जन्म ले-लेकर मरना पडेगा ? कोई हिसाव नही है। अत सर्वोत्तम यही है कि आस्रव को निर्मूल करने मे जुटा जाय।

को आने मे देर हो जाती तो व्यास जी भजन-कीर्तन आदि प्रारम्भ नही करते थे और जव वे आ जाते थे, तभी सत्सग किया जाता था।

व्यासजी के शिष्यो ने पहले तो इस बात पर ध्यान नही दिया, पर जव कई वार ऐसा हुआ तो उन लोगो को अपने गुरुजी की इस बात पर झुझलाहट आने लगी।

एक दिन तो जनक के आने मे देर होने पर और उनकी प्रतीक्षा मे सत्सग प्रारम्भ न किया जाने पर एक शिष्य ने कह दिया—"भगवन्! ऐसा लगता है कि सत्ता और सम्पत्ति का ही सब जगह सम्मान होता है। किन्तु आपको भी ऐसा करते देखकर हमे वडा आश्चर्य होता है।"

इस पर महर्षि ने पूछा—"किस वजह से तुम ऐसा कह रहे हो ?"

शिष्य वोला—"आप तब तक कीर्तन प्रारम्भ नही करते हे, जब तक राजा जनक यहाँ नही आ जाते। क्या इससे यह स्पष्ट नही होता कि आप भी ऐश्वर्य एव सत्ता सम्पन्न होने के कारण ही राजा जनक को महत्त्व देते है ? ऐसा क्यो ? क्या आपके हृदय मे उनसे कोई स्वार्थ है ? अगर नही है तो फिर उनकी प्रतीक्षा मे सत्सग क्यो रुका रहता है ?"

व्यासजी ने कहा—"वत्स! इस बात का उत्तर तुम्हे फिर किसी दिन दूंगा।"

और कुछ दिन पश्चात् एक दिन, जवकि सत्सग चालू था और सव उसमे भाग ले रहे थे, तव महर्षि व्यास ने अपने योगवल से राजमहल मे आग लगा दी। चारो तरफ हाहाकार मच गया और सत्सग मे उपस्थित श्रोता भी व्यग्र हो उठे। सोचने लगे—"अभी आग महल मे लगी है, पर थोडी ही देर मे वह मिथिला नगरी को भी अपनी लपेट मे ले सकती है।"

यह विचार आते ही लोग अपने-अपने घरो की ओर चल दिये। व्यासजी के शिष्य भी झटपट अपनी झोलियाँ कन्धो पर और कमडल हाथ मे लेकर वहाँ मे रवाना होने के लिए तैयार हो गये तथा गुरुजी के समीप आकर उनके भी उठने की प्रतीक्षा करने लगे।

पर उस समय सभी ने चकित होकर देखा कि राजा जनक पूर्ववत् आत्म-चिन्तन मे लीन शाति से वैठे हुए है। घवराहट का कोई चिह्न उनके सौम्य एव प्रफुल्ल मुख पर नही है। व्यासजी ने उनसे कहा—

"जनक! तुम्हारे महलो मे ही आग सवसे पहले लगी है, और तुम चुपचाप यही वैठे हो ?"

घर मे रह इसने घर मे आग लगाई।
कर आस्रव को…… ।
मिथ्यात्व-पाश मे फँसकर मनुज सयाना,
पशुओ से वदतर बना, बना दीवाना ।
जीवन-हित यह सिखलाता विष का खाना,
इसके सेवन से मिला नरक परवाना ।
मत् धर्म देव गुरु शरण गहो हे भाई।
कर आस्रव को ।

पद्य मे कहा गया है—भगवान ने मिथ्यात्व को सर्वप्रथम आस्रव जो वताया है, वह यथार्थ है। यह ऐसा सेनापति है, जिसके पीछे सारी सेना चलती है। यानी जहाँ मिथ्यात्व हृदय मे घर कर जाता है, वहाँ अविरति, प्रमाद एव कषाय आदि अन्य सभी दुर्गुण स्वय चले आते है जो कि कर्म-वन्धनो के कारण है।

वस्तुतः मिथ्यात्व सम्यक्ज्ञान को नष्ट कर देता है तथा विवेक को मिट्टी मे मिला देता है, और इन दोनो के अभाव मे भला धर्म कैसे टिक सकता है? जिस प्रकार हमारे दो नेत्र हैं और इनकी सहायता से हम शरीर-रूपी गाडी को निर्विघ्न आगे धकेलते है, इसी प्रकार ज्ञान एव विवेक रूपी नेत्रो से धर्म की गाडी भी आगे की ओर वढती है। साथ ही ध्यान मे रखने की वात तो यह है कि शरीर पर रही हुई आँखे अगर अपना काम न करे तो उससे मनुष्य की उतनी हानि नही होती, जितनी हानि ज्ञान एव विवेक रूपी नेत्रो के वन्द हो जाने पर होती है।

पाश्चात्य कवि 'मिल्टन' ससार-प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार हो चुके है। वे प्रज्ञाचक्षु थे क्योकि शरीर मे स्थित आँखो से उन्हे दिखाई नही देता था। इस पर भी वे वडे भारी विद्वान एव चमत्कारिक बुद्धि के धनी थे। उनके हृदय मे अपार उत्साह एव पूर्ण विश्वास था कि मै आँखे न होने पर भी साहित्य के भडार मे कुछ न कुछ अवश्य डाल सकूँगा। वैसा ही हुआ भी। अपनी प्रज्ञा के नेत्रो से एव अन्तर्मानस की चमत्कारिक प्रतिभा से उन्होने ससार को चकित कर दिया।

वह थी ज्ञान की एव विवेक की शक्ति। शरीर मे आँखें न होने पर भी ज्ञान-नेत्रो ने उनके द्वारा महान् काव्यो को ससार के सामने रख दिया और जीवन भर वे साहित्य सृजन करते रहे।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान और विवेक रूपी नेत्र खुले होने चाहिए। उन पर मिथ्यात्व का परदा अगर पड गया तो

अन्तरतर मे आस्रव विचार कर भाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी !

कहा गया है—"बधु ! मिथ्यात्व या अश्रद्धा का त्याग करके राग-द्वेष रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सम्पूर्ण आत्मगुणो से युक्त एव लोक-कल्याण की भावना रखने वाले प्रभु की यथार्थ, सत्य एव हितकारी वाणी पर विश्वास रखते हुए धर्म-मार्ग का अनुसरण करो।"

"वह भव्य प्राणी धन्य है, जिसने ऐसी अटल श्रद्धा प्राप्त कर ली है एव अपने सम्यक्ज्ञान के द्वारा ससार-भ्रमण के बीज आस्रव के दु खद स्वरूप को पहचान लिया है। और जिसने आस्रव को पहचान लिया है उसके लिए अन्य तत्त्व अज्ञात नही रहे। परिणाम यह हुआ है कि उसने मानव-जीवन का इच्छानुसार पूर्ण लाभ हासिल कर लिया है। अत तुम भी अन्तर की गहराई से आस्रव को समझो तथा उसके सम्पूर्ण मार्गों को अवरुद्ध करके सवर के पथ पर प्रमाद रहित होकर बढो। प्रमाद भी आस्रव का बडा जबर्दस्त कारण है और उसका अभिन्न सहचर है।"

इसीलिए मुख्य रूप से कहा गया है—

ओ मुक्तिमार्ग के पथिक न गाफिल होना,
मजिल तक पहुँचे बिना न पथ मे सोना।
चेतन गुण चोरेगी प्रमाद की सेना,
सोने का भारी मूल्य पड़ेगा देना।
दस्यु प्रमाद ने गहरी ताक लगाई।
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ॥

कितनी मार्मिक एव यथार्थ चेतावनी है ? कवि ने बड़े सशक्त एव हितकर शब्दो मे कहा है—"अरे, मुक्ति की आकाक्षा रखने वाले पथिक ! तू बिना समय मात्र का भी प्रमाद किये अविराम गति से इस मुक्ति-पथ पर बढते रहना और एक क्षण के लिए भी प्रमाद न करते हुए, तब तक अग्रसर होना, जब तक कि मन्जिल न मिल जाय।"

आगे कहा है—"अगर तू पलभर के लिए भी गाफिल हो गया तो प्रमाद रूपी चोर अपने अन्य साथियो सहित तेरे समस्त आत्म-गुण चुरा लेगा और उस पलभर की निद्रा का तुझे अनन्त काल तक भव-भ्रमण के रूप मे भारी मूल्य चुकाना पडेगा। क्योकि, जिस प्रकार जड-द्रव्य के लिए चोर-डाकू ताक लगाये रहते है कि यात्री जरा-सा गाफिल हो या सो जाय तो धन लूट ले, ठीक इसी

मनुष्य जन्म तो पा लिया। किन्तु अगर इससे आत्म-साधना करके मुक्ति रूपी लाभ को हासिल न किया तो यह मूल पूँजी भी निरर्थक जायेगी या नही ? और गहराई से सोचने की बात तो यह है कि अगर इस पूँजी के द्वारा शुभ-कर्म रूपी फल प्राप्त नही किया तो पाप-कर्म रूपी फल मिलेगा क्योकि आप दोनो मे से एक तो करेंगे ही, निश्चेष्ट तो रह नही सकते। तो, शुभ कर्मों के वजाय अगर अशुभ कर्मो का सचय किया जायगा तो आप ही विचार कीजिए कि इसका क्या परिणाम होगा ? यही कि, पुण्य रूपी पूँजी डूब जाएगी और पाप-कर्म रूपी कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा जिसे चुकाने मे न जाने कितने भव व्यतीत करने पडेंगे।

इसलिए भाइयो ! जव आप पूँजी और उससे प्राप्त होने वाले हानि-लाभ को समझते है, तब फिर अपनी पुण्य रूपी पूँजी को वढाकर मुक्ति रूपी अनन्य लाभ हासिल करने का प्रयत्न क्यो नही करते है ? आप लोगो को और किस प्रकार समझाया जाय ? भव्य पुरुष तो तनिक से इशारे या छोटे से निमित्त से ही समझ जाते है और वोध प्राप्त करके अपनी गाँठ की पूँजी को खोने के वजाय उसका सर्वोच्च लाभ प्राप्त कर लेते है।

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य मे ऐसे ही महापुरुष समुद्रपाल का उदाहरण दिया है।

कर्मोदय का पता नहीं चलता

समुद्रपाल भगवान महावीर के 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' मे पडित, पालित नामक सुश्रावक के पुत्र थे। शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् उनका विवाह हुआ और वे गृहस्थ जीवन विताने लगे।

एक दिन वे अपने महल मे बैठे हुए गवाक्ष से वाह्य दृश्य देख रहे थे कि उन्होने एक चोर को सिपाहियो के साथ जाते हुए देखा। सिपाही चोर के हाथो मे हथकडियाँ डाले हुए तो थे ही, साथ ही सरे वाजार उसे पीटते हुए ले जा रहे थे।

यह दृश्य देखना था कि समुद्रपाल के हृदय मे अनेक विचार आँधी के समान उमडने लगे। वे सोचने लगे—"क्या इस चोर ने सोचा होगा कि मेरा आज का दिन ऐसा होगा ? नही, अशुभ कर्मो के उदय का किसे पता चलता है कि वे कव उदय मे आएँगे ? मैं भी कहाँ जानता हूँ कि आज मेरे शुभ कर्मों का उदय है पर कब कौन से कर्म उदय मे आने वाले है ? इसलिए अच्छा यही है कि कम से कम अब नवीन कर्मों के वन्धन से तो वचूँ। इस चोर ने धन की लालसा के कारण ही इस जन्म मे अपने हाथो मे हथकडियाँ डलवाई है और आगे भी

मनुष्य जन्म तो पा लिया। किन्तु अगर इससे आत्म-साधना करके लाभ को हासिल न किया तो यह मूल पूँजी भी निरर्थक जायेगी या गहराई से सोचने की बात तो यह है कि अगर इस पूँजी के द्वारा फल प्राप्त नही किया तो पाप-कर्म रूपी फल मिलेगा क्योंकि एक तो करेंगे ही, निश्चेष्ट तो रह नही सकते। तो, शुभ का अशुभ कर्मो का सचय किया जायगा तो आप ही विचार क्या परिणाम होगा ? यही कि, पुण्य रूपी पूँजी डूब जाए कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा जिसे चुकाने मे न करने पडेंगे।

न जाने कब तक पापो का भुगतान करेगा । इसी प्रकार मैं भी अभी तो पाँचो इन्द्रियो के वश मे सासारिक भोग, भोग रहा हूँ पर आखिर इनके कारण जो आस्रव हो रहा है अर्थात् कर्म मेरी आत्मा पर चिपटते चले जा रहे हैं, वे किसी दिन अपना कर्ज वसूल करने उदय मे तो आयेंगे ही अत दृढ साधना करके सवर की आराधना करूँ तथा बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करूँ तभी इस शरीर का लाभ मिल सकेगा ।"

शास्त्र मे कहा गया है—

तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ।

—सूत्रकृताग १-१५-६

अर्थात्—जो नए कर्मों का बन्धन नही करता है उसके पूर्ववद्ध पाप भी नष्ट हो जाते हैं ।

'एक पथ दो काज,' इसी को कहते हैं । यानी (जो साधक आस्रव के स्वरूप को समझकर पापो के आगमन को रोक देता है उसके पूर्व कर्म भी स्वय क्षय हो चलने हैं) इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है अत प्रत्येक मोक्षा-मिलाषी को आस्रव भावना भाते हुए सवर को अपनाना चाहिए ।

O

मनुष्य जन्म तो पा लिया। किन्तु अगर इससे आत्म-साधना करके मुक्ति रूपी लाभ को हासिल न किया तो यह मूल पूँजी भी निरर्थक जायेगी या नही ? और गहराई से सोचने की वात तो यह है कि अगर इस पूँजी के द्वारा शुभ-कर्म रूपी फल प्राप्त नही किया तो पाप-कर्म रूपी फल मिलेगा क्योकि आप दोनो मे से एक तो करेगे ही, निश्चेष्ट तो रह नही सकते। तो, शुभ कर्मों के बजाय अगर अशुभ कर्मो का सचय किया जायगा तो आप ही विचार कीजिए कि इसका क्या परिणाम होगा ? यही कि, पुण्य रूपी पूँजी डूव जाएगी और पाप-कर्म रूपी कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा जिसे चुकाने मे न जाने कितने भव व्यतीत करने पडेगे।

इसलिए भाइयो ! जव आप पूँजी और उससे प्राप्त होने वाले हानि-लाभ को समझते है, तब फिर अपनी पुण्य रूपी पूँजी को वढाकर मुक्ति रूपी अनन्य लाभ हासिल करने का प्रयत्न क्यो नही करते है ? आप लोगो को और किस प्रकार समझाया जाय ? भव्य पुरुष तो तनिक से इशारे या छोटे से निमित्त से ही समझ जाते है और बोध प्राप्त करके अपनी गाँठ की पूँजी को खोने के वजाय उसका सर्वोच्च लाभ प्राप्त कर लेते है।

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य मे ऐसे ही महापुरुष समुद्रपाल का उदाहरण दिया है।

कर्मोदय का पता नहीं चलता

समुद्रपाल भगवान महावीर के 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' मे पडित, पालित नामक सुश्रावक के पुत्र थे। शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् उनका विवाह हुआ और वे गृहस्थ जीवन विताने लगे।

एक दिन वे अपने महल मे बैठे हुए गवाक्ष से बाह्य दृश्य देख रहे थे कि उन्होने एक चोर को सिपाहियो के साथ जाते हुए देखा। सिपाही चोर के हाथो मे हथकडियाँ डाले हुए तो थे ही, साथ ही सरे बाजार उसे पीटते हुए ले जा रहे थे।

यह दृश्य देखना था कि समुद्रपाल के हृदय मे अनेक विचार आँधी के समान उमडने लगे। वे सोचने लगे—"क्या इस चोर ने सोचा होगा कि मेरा आज का दिन ऐसा होगा ? नही, अशुभ कर्मों के उदय का किसे पता चलता है कि वे कव उदय मे आएँगे ? मैं भी कहाँ जानता हूँ कि आज मेरे शुभ कर्मों का उदय है पर कव कौन से कर्म उदय मे आने वाले है ? इसलिए अच्छा यही है कि कम से कम अव नवीन कर्मों के बन्धन से तो वचूँ। इस चोर ने धन की लालसा के कारण ही इस जन्म मे अपने हाथो मे हथकडियाँ डलवाई है और आगे भी

न जाने कब तक पापो का भुगतान करेगा। इसी प्रकार मैं भी अभी तो पाँचो इन्द्रियो के वश मे सासारिक भोग, भोग रहा हूँ पर आखिर इनके कारण जो आस्रव हो रहा है अर्थात् कर्म मेरी आत्मा पर चिपटते चले जा रहे हैं, वे किसी दिन अपना कर्ज वसूल करने उदय मे तो आयेंगे ही अत दृढ साधना करके सवर की आराधना करूँ तथा बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करूँ तभी इस शरीर का लाभ मिल सकेगा।"

शास्त्र मे कहा गया है—

तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ।

—सूत्रकृताग १-१५-६

अर्थात्—जो नए कर्मों का बन्धन नही करता है उसके पूर्वबद्ध पाप भी नप्ट हो जाते हैं।

'एक पथ दो काज,' इसी को कहते हैं। यानी (जो साधक आस्रव के स्वरूप को समझकर पापो के आगमन को रोक देता है उसके पूर्व कर्म भी स्वय क्षय हो चलते हैं) इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है अत प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को आस्रव भावना भाते हुए सवर को अपनाना चाहिए।

○

१९

संवर आत्म स्वरूप है

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने 'आस्रव भावना' पर विचार किया था और आज 'सवर भावना' पर विवेचन करेंगे। 'सवर भावना' सवर के सत्तावन भेदो मे से अडतीसवाँ भेद और बारह भावनाओ मे से आठवी भावना है।

सवर भावना का स्वरूप है—इन्द्रियो पर और मन पर सयम रखते हुए कर्मों के आगमन को रोके रहना। पाँचो इन्द्रियो के अपने-अपने विषय है—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। इन्ही की ओर इन्द्रियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है किन्तु इन विषयो की ओर जाने से इन्द्रियो को रोकना तथा उनमे आसक्त न होने देना ही सवर का स्वरूप है।

उदाहरणस्वरूप—आपके घरो मे नल होता है। उसे जरा-सा एक ओर घुमाते ही पानी बहने लगता है और थोडा सा दूसरी ओर करते ही पानी निकलना बन्द हो जाता है। यही पाँचो इन्द्रियो के विषय मे कहा जा सकता है कि उन पर थोडा सा नियन्त्रण हटाते ही पाप-कर्मों का आगमन या आस्रव होता है और थोडा सा काबू रखते ही वे रुक जाते है।

मन को तनिक मोड दो !

जो महापुरुष अपनी इन्द्रियो को वश मे रखते है, उनकी आत्म-शक्ति साधना को सफल बनाती है, पर जो ऐसा नही कर पाते वे अपनी शक्ति का अपव्यय या दुरुपयोग करके कुगतिगामी बनते है। यथा जो सयमी पुरुष अपनी भाषा पर काबू रखते है, उनके वचनो मे ससार के अज्ञानी प्राणियो को भी सन्मार्ग पर लाने की ताकत होती है, किन्तु जो सदा बकवाद करते रहते है, वे अपनी शक्ति का अपव्यय तो करते ही है, साथ ही उनका प्रलाप कोई पसन्द भी नही करता। धन को आप तिजोरी मे रखकर ताला लगा देते है तो वह

सुरक्षित रहता है, पर दिन भर खर्च करते रहने से कम होता चला जाता है। जीवात्मा की शक्ति भी इन्द्रियो को खुला रखने से निरर्थक चली जाती है और उसके जाने के मार्ग इन्द्रियाँ ही है।

पजाब मे भाखडा नागल बाँध बनने से पहले सम्पूर्ण जल निरर्थक चला जाता था, किन्तु उसे बाँध के रूप मे रोक देने से जल इकट्ठा हुआ और करोडो रुपयो का लाभ फसलो के रूप मे प्राप्त होने लगा। ठीक यही हाल आत्म-शक्ति का है। जब तक इन्द्रियो पर काबू नही रखा जाता, तब तक वह शक्ति पाप-कर्मों के उपार्जन मे निरर्थक चली जाती है और उस पर भी कर्म-फल दुख के रूप मे भोगने पडते हैं।

किन्तु अगर मन और इन्द्रियो पर सवर रूपी बाँध बनाया जाय तो आत्म-शक्ति रूपी जल शुभ-कर्मों के उपार्जन और मुक्ति-प्राप्ति के रूप मे महानतम फल प्रदान करता है। ध्यान मे रखने की बात है कि हमे आत्म-शक्ति को कुण्ठित या निष्क्रिय नही बनाना है, अपितु उसका सही उपयोग करना है। लोग कहते हैं—'मन को मारना चाहिए तभी मुक्ति हासिल होगी।' पर मैं ऐसा नही कहता। मन को मार दिया जायेगा तो वह न तो अशुभ की ओर प्रवृत्त होगा और न ही शुभ की ओर। आखिर मरा हुआ मन कुछ करेगा भी कैसे ? इसलिए मन रूपी घोडे को मारना नही है वरन् उसे मोडकर सवर और निर्जरा के मार्ग पर चलाना है और यह तभी हो सकता है जबकि सासारिक प्रपचो से मन को उपराम किया जाय।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी फरमाया है—

आडम्बर तज, भज सवर को सार यार !
ममता निवार तज विषय विकार है।
राग, द्वेष, खार परिहार चार कषायो को,
बारे भेदे तप धार ऐही ततसार हैं॥
भावना विचार ठार पर प्राणी-आत्मा को,
छोड के सागार अणगार पद तार है।
ऐसे हरिकेशी भाई भावना भरमटार,
कहत तिलोक भावे सो ही लहे पार है॥

कहा गया है—अरे मित्र ! इन सासारिक आडम्बरो को छोड और सवर की आराधना कर। कोई प्रश्न करे कि यह किस प्रकार किया जाय ? तो इसी

पद्य मे सक्षिप्त उत्तर है कि मोह-ममता, विषय-विकार, राग-द्वेष एव चारो कषायो को त्याग कर तप के बारहो प्रकारो को अपनाओ।

राग-द्वेष को समझने के लिए उदाहरण दिया जा सकता है—मान लीजिए, किसी अन्य व्यक्ति ने आपकी कोई प्रिय पुस्तक असावधानी से फाड डाली। यह देखकर क्रोध के मारे आपने उसे गालियाँ दी। क्यो दी आपने गालियाँ ? इसलिए कि पुस्तक के प्रति आपका राग या ममत्व था अत उसे फाड देने वाले पर आपकी कषाय उमड पडी।

किन्तु अगर आप पुस्तक के प्रति ममता नही रखते तो उसके फट जाने पर आपको दुःख नही होता और दु ख न होने पर कषायभाव जागृत नही होता। आप यही विचार कर लेते कि सयोग था अत पुस्तक फट गई, इसमे उस व्यक्ति का क्या दोष ? वह तो एक निमित्त मात्र है।

वस्तुत जो व्यक्ति मन मे ऐसा भाव रखते है, वे पुस्तक फटने जैसी छोटी बात तो क्या बडी से बडी घटनाओ के घट जाने पर भी विचलित नही होते। यहाँ तक कि किसी प्रिय से प्रिय व्यक्ति के निधन पर भी शोकाकुल नही होते वरन् होनहार मानकर समभाव मे विचरण करते है। इसी को राग का न रहना कहते है।

पद्य मे विषय-विकारो के त्याग पर भी जोर दिया है। शास्त्रो मे बताया गया है कि पचेन्द्रियो के विषय काम-विकार को बढाने वाले है—

"उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा।"

अर्थात्—शब्द, रूप, रस, गधादि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते है, दूर हटा देते है, अत इन्हे काम कहा है।

वास्तव मे ही विकार मानव को अधर्मी और अनाचारी बना देते हैं। इसीलिए बन्धुओ, आप जिस स्थिति मे हैं उसमे भी अधिक से अधिक सयमित बनने का प्रयत्न करे ताकि कर्मों का आगमन कम से कम हो। हमारा धर्म तो बडा विशाल प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्रहणीय है। उदाहरणस्वरूप—साधुओ के लिए अगर महाव्रतो का विधान है तो गृहस्थो के लिए इसमे अणुव्रत बताये गये है। सासारिक मनुष्य अगर इन आशिक व्रतो का भी पालन करे तो वह देवता से बढकर है।

गगा भी सदाचारी की प्रतीक्षा करती है

पौराणिक साहित्य मे एक लघु कथा है कि गगा नदी एक बार स्त्री का साक्षात रूप धारण करके किनारे पर बैठी हुई ऐसी दिखाई दे रही थी, जैसे

किसी की प्रतीक्षा कर रही है। वह बडी उत्कठा से अपनी निगाहे मार्ग मे बिछाये हुए थी।

उसी समय एक यात्री वहाँ आया। उसने अतुल स्वरूप वाली एव तेजस्वी नारी को देखकर समझ लिया कि आज गगा देवी स्वय ही यहाँ विराजी हुई हैं। किन्तु गगा की प्रतीक्षापूर्ण आँखो को देखकर वह यह नही समझा कि वह क्या चाहती है और किसकी प्रतीक्षा मे है अत उसने बडी श्रद्धा से उसे प्रणाम करते हुए विनयपूर्वक पूछ लिया—

"गगा मैया! लाखो व्यक्ति स्वय ही आपके दर्शन करने के लिए लालायित रहते हैं तथा अपने पापो को धोने के लिए आपके जल मे डुबकियाँ लगाया करते है। किन्तु आज आप स्वय किस भाग्यवान की प्रतीक्षा मे है?"

गगा ने उत्तर दिया—"भाई! आने के लिए तो लाखो व्यक्ति हैं जो प्रतिदिन मेरे जल का स्पर्श करते है, किन्तु जो पर-धन, पर-स्त्री एव पर-द्वेष से रहित सदाचारी व्यक्ति होते हैं, उनकी सगति से मैं स्वय भी कृतार्थ हो जाती हूँ। पर खेद है कि ऐसे व्यक्ति क्वचित् ही यहाँ आते हैं। इसलिए मैं आज स्वय बडी उत्कठा से यहाँ बैठी हुई हूँ कि कोई ऐसा आचारनिष्ठ व्यक्ति आये जिसके आगमन से मैं धन्य हो सकूँ।"

श्लोक के द्वारा यही बताया गया है—

परदार, परद्रव्य, परद्रोह पराङ्मुख.।
गगा ब्रूते कदागत्य, मामय पावयिष्यति ॥

अर्थात्—गगा कहती है—पर-स्त्री, पर-धन और पर-द्रोह से निवृत्त रहने वाला व्यक्ति मुझे कब पवित्र करेगा?

बन्धुओ, कितना सुन्दर रूपक है? इसके द्वारा यही बताया गया है कि केवल पर-स्त्री, पर-धन और पर-द्वेष से रहित मनुष्य भी उस गगा से अधिक पवित्र होता है, जिसमे नहाकर लोग अपने पापो को बहाते हैं। गगा ने यह नही कहा कि धन का और स्त्री का सर्वथा त्याग करने वाला ही महान होता है, केवल पर-धन और पर-स्त्री का त्यागी भी उसे पवित्र करने के लिए काफी है।

इस बात से आप समझ गये होंगे कि श्रावक, अगर अपने बारह व्रत भी धारण करलें और उनका सम्यक् रूप से पालन करें तो धर्मपरायण एव सदाचारी कहलाते है। यह कोई बडा त्याग नही है और न तनिक भी कष्टकर है। आप धन रख सकते हैं, पत्नी रख सकते हैं और ससार के सभी भोगो को भोग सकते हैं, केवल धोखेबाजी, बेईमानी या एक शब्द मे जिसे अनाचार कह सकते हैं, उससे बचते रहे तब भी मुक्ति के मार्ग पर शनै-शनै बढ सकते हैं।

यद्यपि मजिल तक पहुँचने के लिए तो आस्रव का पूर्णतया अवरोध और मवर का ग्रहण आवश्यक है क्योकि इस आत्मा पर न जाने कितने कर्मो का बन्धन होगा, जिसे सहज ही तोडा नही जा सकता, किन्तु कुछ नही कर सकने मे तो थोडा करना भी उत्तम है।

प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने सवर का महत्त्व बताते हुए कहा है—

आस्रव के अवरोध को सवर कहत सुजान,
मवर आत्म स्वरूप है, मुक्ति महल सोपान।
मदा काल से आ रहे कर्म अनन्तानन्त,
कर मवर आराधना, उन्हे रोकते सन्त।
मन को तन को वचन को करके निर्व्यापार,
गुप्ति साध मवर करे, आत्मनिष्ठ अनगार।

कहा गया है कि आस्रव को रोकना मवर कहलाता है और यही आत्मरूप मुक्ति का सोपान है। इस ससार मे जीव अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है और इस लम्बे काल मे अनन्तानन्त कर्म उसमे जुड गये है। इतने कर्मो का नाश सहज ही सम्भव नही है अत साधु मवर की आराधना करके नवीन कर्मो के आगमन को रोकते है तथा मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीनो को पूर्णतया सयमित एव शुद्ध बनाकर बारहो प्रकार के तप द्वारा पूर्व कर्मो की निर्जरा करते है।

आगे आत्मनिष्ठ अनगार किस प्रकार का आचरण रखते है, यह बताया गया है—

सम्यक् यतना से करे, गमनागमन विहार,
हित, मित, प्रिय बोले वचन, ले अदोष आहार।
निक्षेपण आदान मे, यतनावान अतीव,
मल-मूत्रादिक त्यागते देख भूमि निर्जीव।
समिति रत्न शोभित महा मुनिवर सदा दयाल,
मवर के शुभ शस्त्र मे, काटे कर्म कराल।

पाँच महाव्रतो के धारी अनगार तीनो गुप्तियो को साधते हुए पाँच समितियो का भी सम्यक्रूप से यतनापूर्वक पालन करते है।

(१) ईर्यासमिति—इसके अनुसार साधु-साध्वी मार्ग मे चलते समय पैरो के नीचे कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी न आजाय, इसका ध्यान रखते है। विहार

करते ममय नजरे नीची रखकर वे मार्ग को भली-भाँति देखते है और जिस मकान मे ठहरते हैं, उसमे चलते-फिरते समय 'ओघे' के द्वारा जमीन को मावधानी से साफ कर लेते है अर्थात् चीटी आदि जीव हो तो उन्हे हटा देते हैं।

मेघमुनि जव अपने पूर्व जन्म मे जब हाथी के रूप मे थे तो वन मे एक वार भयकर आग लग गई। वन मे रहने वाले बडे और छोटे सभी जीव-जन्तु भागकर एक स्थान पर, जहाँ आग का डर नही था, आकर इकट्ठे हो गये।

हाथी भी उन्ही मे से एक था। वह काफी देर तक खडा रहा पर एक वार किसी कारणवश ज्योही उसने अपना पैर ऊपर किया, उस रिक्त स्थान पर एक खरगोश आकर वैठ गया। कुछ ममय वाद ही जव उमने अपना पैर पुन नीचा किया तो उसे महसूस हुआ कि कोई जीव नीचे है। देखा तो वहाँ खरगोश दिखाई दिया। ज्योही हाथी ने खरगोश को देखा तो पुन पैर ऊँचा कर लिया। यह सोचकर कि—'अगर मैं पैर नीचे रखूंगा तो खरगोश दबकर तुरन्त मर जाएगा।'

जीव-जन्तुओ की उस स्थान पर इतनी भीड थी कि तिल रखने की भी जगह वहाँ खाली नही थी, अत हाथी अपने पैर को दूसरे स्थान पर भी नही रख सका। परिणाम यह हुआ कि जब तक वन मे लगी हुई आग शान्त नही हुई और वन के प्राणी इधर-उधर नही चले गये तव तक हाथी अपने तीन पैरो के वल पर ही खडा रहा और एक पैर पूर्ववत् ऊँचा उठाए रखा।

तीन दिन निकल गये और विशाल शरीर वाला हाथी बहुत कष्ट पाता रहा। पर जव आग वुझी और उसने पैर नीचा करना चाहा तो वह अकड जाने के कारण सीधा नही हुआ और हाथी वही लुढक गया। इतना ही नही कुछ समय पश्चात् उसने दम तोड दिया।

तो वन्धुओ, तिर्यंच गति मे जन्म लेने वाला पशु भी जव हृदय मे इतनी दया रखता है और किसी जीव की हिंसा न हो जाय इसलिए स्वय महान् कष्ट पाकर अपनी जान भी दे सकता है, तो फिर सन्त-मुनिराज किस प्रकार असावधानी रखकर हिंसा के भागी वन सकते हैं ? वे तो छहो कायो के प्राणियो की रक्षा करते हैं और उनकी हिंसा से वचते हुए गमनागमन करते हैं। यही ईर्यासमिति का पालन कहलाता है।

(२) **भाषासमिति**—यह दूसरी समिति है और मुनिराज इसका पालन करने के लिए जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। कटु-वचनो के प्रयोग से सुनने वाले का मन दुखी होता है तथा वोलने वाले के कर्म वँधते हैं। इसलिए साधु-साध्वी हितकारी, सक्षिप्त और प्रिय वचनो का ही उच्चारण करते है। वे वोलने

से पहले अपने विवेक की सहायता लेते है और तव शब्दो का उच्चारण करते है।

व्यवहारभाष्य पीठिका मे कहा गया है—

पुव्वि बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयार, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥

अर्थात्—पहले बुद्धि से परखकर फिर बोलना चाहिए। अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है।

हमारे शास्त्रो मे भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को मदाप्रिय, हितकारी और सत्यवचनो का उच्चारण करना चाहिए। पर सत्य कभी-कभी कटु भी हो जाता है तथा लोक-व्यवहार के कारण उसमे गडबड हो जाती है अत भाषा को चार वर्गो मे वाँटा गया है—(१) सत्य भाषा (२) असत्य भाषा (३) मिश्र भाषा और (४) व्यवहार भाषा।

इन चार प्रकार की भाषाओ मे से असत्य और मिश्र यानी कुछ सत्य और कुछ असत्य, ये दोनो हेय हैं अत साधु पुरुप इन दोनो को काम मे नही लेते। वे या तो सत्य का प्रयोग करते है या व्यवहार भाषा का। व्यवहार भाषा मे सत्य या असत्य का ध्यान नही रखा जाता, फिर भी वह असत्य नही कहलाती। यथा—किसी ने मार्ग वताते समय कहा—यह रास्ता वम्बई जाता है। यद्यपि मार्ग कही नही जाता, वह वही रहता है केवल यात्री जाते है पर लोक-व्यवहार मे यही कहा जाता है। ऐसी भाषा व्यवहार भाषा कहलाती है।

यहाँ एक बात और ध्यान मे रखने की है कि कभी-कभी सत्य का प्रयोग करना भी किसी प्राणी के लिए पीडा का कारण बन जाता है। अत उस समय वैसा सत्य न बोलकर मौन रहना ही अधिक अच्छा रहता है। इस दृष्टि से सत्य के भी दो प्रकार वताये गये है—(१) वक्तव्य, (२) अवक्तव्य।

महापुरुप सत्यवादी होने पर भी वक्तव्य सत्य ही बोलते है तथा सत्य होने पर भी पापमय, कर्कश, पीडाजनक, सन्देहयुक्त एव असभ्य भाषा काम मे नही लेते। क्योकि ऐसी भाषा से भी अन्य प्राणियो को दु ख होता है और वह कर्म-वन्धन का कारण बन जाता है। जहाँ कर्म-वन्धन होता रहेगा वहाँ सवर नही हो सकेगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्पुरुष को सत्य वोलना चाहिये, किन्तु वह प्रिय, सक्षिप्त एव हितकारी भी हो, यह आवश्यक है। जो व्यक्ति परिमित

भाषा न बोलकर वाचालता अधिक रखेगा वह भाषा पर सयम नही रख पायेगा।

कहा जाता है कि एक बार सुकरात के पास एक व्यक्ति आया और बहुत देर तक इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् बोला—"मैं आपसे भाषण देने की कला सीखना चाहता हूँ।"

सुकरात जो कि चुपचाप उसकी बातें सुन रहे थे, बोले—"तुम्हे भाषण देने की कला सीखने से पहले एक और कला सीखनी पड़ेगी।"

व्यक्ति ने बडी उत्सुकता से पूछा—"वह कौनसी कला है ?"

सुकरात ने उत्तर दिया—"मौन रहने की।"

व्यक्ति तुरन्त सुकरात की बात का अर्थ समझ गया और अपनी वाचालता पर बड़ा लज्जित हुआ।

इस प्रकार भाषा समिति का पालन करने के लिए बहुत-सी बातो का ध्यान रखना आवश्यक होता है। एक बात और भी है, वह यह है कि मुँह से प्रिय बोलते हुए भी मन मे किसी के प्रति दुर्भावना, ईर्ष्या या कपट-भाव न रखा जाय। अगर मन मे ऐसा कलुष भाव रहा और जबान से मधुर शब्दो का उच्चारण किया तो उन शब्दो का कोई लाभ नही होगा तथा एक समय ऐसा अवश्य आएगा जबकि उसे पश्चात्ताप होगा और स्वय उसका मन ही धिक्कारेगा।

एक उर्दू भाषा के कवि ने कहा है --

> शखसम बचश्मे आलिमियाँ खूब मनजरस्त।
> वज खुब से बातनम सरे खिजलत फगन्दाह पेश॥

अर्थात्—मेरे बाहरी आचरण एव भाषा से लोग मुझे अच्छा समझते हैं परन्तु अपनी आन्तरिक नीचता से मेरा मस्तक शर्म से नीचे झुका हुआ है।

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि मुनिराज कर्म-बन्धनो की बारीकियो को भली-भाँति समझ लेने के कारण अपनी भाषा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते है तथा अपनी बुद्धि और विवेक की तुला पर तोलकर ही शब्दो का सक्षिप्त उच्चारण करते हैं। भाषा समिति के द्वारा ही वचन-गुप्ति भी उनकी सध जाती है। यह सवर की आराधना मे बहुत सहायक है, क्योकि कटु एव क्रूर शब्दो के द्वारा मन पर हुआ घाव जीवन भर नही मिटता यानी सदा याद रहता है तथा वैर-विरोध के कारण कर्मो का आगमन जारी रहता है।

उर्दू मे ही इस विषय पर भी कहा गया है—

> छुरी का, तीर का, तलवार का तो घाव भरा।
> लगा जो जख्म जवाँ का रहा हमेशा हरा ॥

पद्य मे यथार्थ कहा गया है। वस्तुत छुरी, तीर या तलवार का शरीर पर घाव हो जाय तो वह थोडे समय मे भर जाता है, किन्तु जबान का जख्म हमेशा हरा रहता है, यानी वह कभी नही मिटता। परिणाम यही होता है कि आस्रव होता रहता है तथा सवर की बारी ही नही आती क्योकि कटु एव क्रूर शब्दो का प्रयोग कहने वाले और सुनने वाले के बीच मे द्वेष एव बदले की भावना जगा देता है, जो कभी-कभी तो जीवन भर नही मिटती चाहे अनेको सवत्सरी या क्षमापन के दिन निकल जायँ। सवत्सरी के दिन लोग अपने मित्रो या सम्पूर्ण गाँव वालो से क्षमा याचना कर लेंगे किन्तु जिससे वैर-विरोध होगा उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखेंगे। इस प्रकार जिस दिन के पीछे ससार के समस्त प्राणियो के प्रति करुणा रखने का तथा सच्चे हृदय से जगत के समस्त जीवो से क्षमा-याचना करके और क्षमा प्रदान करके हृदय को पूर्णतया कषायरहित कर लेने का रहस्य छिपा हुआ है वह पूर्णतया निरर्थक चला जायेगा।

क्षमा याचना कैसी हो ?

अरे भाई! सच्ची क्षमा-याचना तो उसी से की जाती है, जिसके प्रति अपराध किया गया हो या जिसका दिल दुखाया गया हो। पर उसी से क्षमा न माँग कर मित्र-स्नेहियो से खमा-खमा कहने पर वह तोता-रटन्त के अलावा और क्या होगा ? लाभ तो उससे रचमात्र भी होने वाला नही है। वह तभी होगा, जबकि अपने विरोधी या दुश्मन से क्षमा-याचना की जाय और वह भी इस शर्त पर कि 'क्षमा' शब्द केवल जबान पर ही न हो वरन् हृदय से निकले उद्गार हो। अनेक बार हम देखते है कि यहाँ धर्म-स्थानक मे भी लोग समझा-बुझाकर दो कट्टर विरोधी व्यक्तियो को आपस मे क्षमा याचना करने के लिए बाध्य करते है और लोक-लज्जा के कारण वे किसी तरह हाथ जोडकर 'क्षमा' शब्दो का उच्चारण भी कर लेते है। परन्तु वे शब्द केवल जबान से निकलते है, अन्तर्मानस मे नही उभरते। आप अच्छी तरह जान लीजिए कि मात्र जबान से कहे गये वे शब्द रचमात्र भी हृदय को पवित्र नही बनाते और उनसे तनिक भी लाभ नहीं होता, क्योकि महत्त्व शब्दो की बजाय भावना का अधिक और अधिक ही क्या पूर्णतया होता है। माता-पिता अपने बच्चो को भूल कर देने पर गालिया देते है और यहाँ तक भी कह देते है—'तू मर जाए तो पाप

कटे।' किन्तु उन शब्दो के पीछे वैसी भावना नाममात्र की भी नही होती अत उन गालियो से या वालक के लिए जवानी की गई मरण-कामना से कुछ भी नही विगडता क्योकि वे शब्द केवल जवान पर होते हैं, हृदय मे तो वच्चे के लिए स्नेह का मागर लहराता है और शुभ-कामना उसमे ज्वार की भाँति उमडती रहती है।

इसके विपरीत अनेक व्यक्ति जो माया या कपट से ग्रस्त रहते है, हृदय मे किसी के प्रति घोर ईर्ष्या या द्वेष की भावना रखते हुए उससे मीठी-मीठी बाते करते हैं। वे मीठी वातें आत्मा को लाभ नही पहुँचाती उलटे तिर्यंच गति का वध करती हैं। कहा भी है—

'माया तैर्यग्योनस्य।'

अर्थात्—माया तिर्यंच योनि को देने वाली है।

इस प्रकार मायावी या हृदय मे कलुष रखते हुए ऊपर से मीठा बोलने वाले समझते हैं कि हमने बडी चतुराई से दूमरो को मूर्ख वना दिया, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि मूर्ख वह स्वय बनता है।

'उपदेश प्रासाद' मे एक स्थान पर है—

'भुवन वञ्चयमाना, वंचयन्ति स्वमेव हि।'

अर्थात्—जगत को ठगते हुए कपटी पुरुप वास्तव मे अपने आपको ही ठगते हैं।

इसलिए वन्धुओ, अगर आप किसी को मधुर वचन कहते हैं या किसी से क्षमा-याचना करते है तो ध्यान रखें कि वे शब्द मात्र जवान पर ही न हो, वरन् आपका मानस भी वही कहे, इसका प्रयत्न करें। ऐसा करने वाले ही महापुरुष एव सच्चे सत कहला सकते हैं। इतिहास ऐसे महामानवो के उदाहरणो से भरा हुआ है। हमे उनसे ही शिक्षा लेनी चाहिए।

गौतम बुद्ध को एक वार किसी व्यक्ति ने जी भरकर गालियाँ दी, पर वे पूर्ववत् मुस्कुराते रहे। जव उस व्यक्ति का गालियो का कोष रिक्त हो गया और वह चुप हुआ तो बुद्ध वोले—"भाई! मैंने तुम्हारी एक भी गाली नही ली, अपनी वस्तु तुम ही अपने पास ही रखो।"

ईसामसीह को उनके कट्टर विरोधियो ने शूली पर चढा दिया, पर उस समय भी उन्होंने भगवान से प्रार्थना की—"हे भगवान! इन नादान व्यक्तियो को क्षमा करना।"

गजसुकुमाल ने मस्तक पर अगारे रखने वाले मोमिल व्राह्मण से एक भी दुर्वचन नही कहा उलटे मौन एव ध्यानस्थ रहकर उसे क्षमा प्रदान की।

इस प्रकार यक्ष के प्रभाव से प्रतिदिन नर हत्याएँ करने वाले अर्जुनमाली जव मुनि वन गये तो मृतको के सम्वन्धियो ने सुअवमर जानकर उनकी मुनि अवस्था मे छ महीने तक पत्थरो से मारा, डडो के प्रहार किये और गालियो का तो कहना ही क्या है कि कितनी दी गई, पर धन्य थे वे मुनि जिन्होने छ महीनो मे जिन असख्य पाप-कर्मों का वन्धन किया था, मुनि बन जाने पर छ महीनो के अल्प-काल मे ही पूर्ण क्षमाभाव धारण करके निर्मल परिणामो द्वारा उन मवका क्षय कर लिया और मुक्ति हासिल की।

तो बधुओ, भाषा समिति के अन्तर्गत प्रसगवश मैंने आपको यही बताया है कि भापा की मधुरता एव वाक्-चतुराई के साथ-साथ हृदय मे भी पूर्ण निर्मलता, पवित्रता तथा क्षमा की भावना होनी चाहिए तभी भाषा समिति का यथाविधि मच्चाईपूर्वक पालन हो सकता है। अगर ऐसा न हुआ तो व्यक्ति चाहे महा-विद्वान, पडित, ज्ञानी या मुनि ही क्यो न हो कोई लाभ प्राप्त नही कर सकता। उमका ज्ञान अज्ञान एव मूढता की कोटि मे ही रहता है।

सत तुलसीदास जी ने अपनी सहज एव सरल भापा मे कहा भी है—

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लौ मन मे खान।
तव लौ पडित मूरखा, तुलसी एक समान॥

इसलिए महापुरुष और महामुनि आस्रव के स्वरूप और उससे होने वाली भयकर हानि को समझकर सवर की आराधना करते है तथा भाषा समिति का मन की भी पूर्ण विशुद्धता के साथ पालन करते है।

(३) **एषणा समिति**—एषणा का अर्थ है गवेषणा। पचमहाव्रतधारी मुनि जव भिक्षा लेने के लिए निकलते है तो पूर्ण गवेषणा या खोज करके निर्दोप आहार ही लाते है। निर्दोष आहार न मिलने पर भी वे सदोष आहार कभी नही लेते, चाहे भूखा रहना पडे और प्राण जाने की नौवत भी क्यो न आ जाय। आहार ही क्या वे सचित्त जल भी ग्रहण नही करते भले ही प्याम के कारण शरीर की कोई भी स्थिति क्यो न हो।

कई वार हम मुनते हैं कि ग्रीष्म के दिनो मे उग्र विहार और ऊपर से निर्दोप जल न मिलने से अमुक मुनि का देहावसान हो गया। ऐसे अनेक प्रसग पूर्वकाल मे घट चुके है और वर्तमान मे भी आते रहते है। क्योकि आहार के अभाव मे तो शरीर फिर भी कुछ दिन टिका रहता है, किन्तु जल के अभाव मे उमका अधिक टिकना मम्भव नही होता।

पर मच्चे सतो को शरीर की परवाह नही होती। वे निर्दोप आहार भी

उसे केवल इसलिए देते हैं कि उसकी सहायता से तप एव साधना की जाती है। वे साधना मे तथा सयम-निर्वाह मे सहायक होने के कारण रूखा-सूखा एव अल्प आहार अगर निर्दोष मिलता है तो उदर को प्रदान करते है। रस-लोलुपता एव सरस व्यञ्जन का आनन्द लेने की इच्छा से खूब पेट भर कर खाना है यह वे कभी स्वप्न मे भी नही सोचते। इसीलिए नीरस और अल्प खुराक ग्रहण करते हैं। ऐसा करने से क्या लाभ है ? यह बृहत्कल्पभाष्य मे बताया गया है—

अप्पाहारस्स न इदियाइ, विसएसु सपत्तति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥

अर्थात्—जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोग की ओर नही दोडती। तप का प्रसग आने पर भी वह क्लात नही होता और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है।

इस गाथा के द्वारा आप समझ गये होगे कि महामुनि क्यो निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं, क्यो रूखा-सूखा, नीरस और अल्प आहार ग्रहण करते हैं तथा निर्दोष आहार न मिलने पर चाहे प्राण चले जायँ पर दोषयुक्त पदार्थ नही लाते। अव हम चौथी समिति को लेते हैं।

(४) **आदान-निक्षेप समिति**—इस समिति का पालन करने के लिए साधु-साध्वी अपने पात्रादि बडी यतना से लेते हैं एव उसी प्रकार यतना से ही रखते है। इससे दो लाभ होते हैं। प्रथम तो पात्र टूटते नही, असावधानी से रखने पर अथवा जोर से रखने पर सूक्ष्म जीवो की हिंसा नहीं होती, दूसरे खट-पट करते हुए रखने पर असभ्यता भी जाहिर होती है अत उससे बचा जा सकता है।

(५) **परिष्ठापना समिति**—यह पाँचवी समिति है। इसके अनुसार सन्त मल-मूत्रादि का त्याग जीवरहित भूमि देखकर करते हैं ताकि उनकी हिंसा न हो पाये। मल-मूत्रादि के अलावा भी कोई वस्तु परठनी होती है तो वे ऐसे स्थान पर उसे डालते हैं, जहाँ जीव न हो।

धर्मरुचि मुनि के विषय मे आपने पढा या सुना ही होगा। नागश्री नामक एक स्त्री ने अपने घर पर तुम्बे का शाक वनाया, किन्तु पहले उसकी जाँच न करने से पता नही चला कि वह तुम्बा कडवा है। जव शाक वन गया तो उसे मालूम हुआ कि यह तो जहर के समान कडवा है।

नागश्री सोचने लगी—"अव क्या किया जाय ? घरवालो को पता पडेगा तो नाराज होंगे तथा मेरी मूर्खता पर मुझे तिरस्कृत करेंगे।"

वह इस विचार मे डूबी हुई थी कि सन्त धर्मरुचि उसके घर आहार के लिए आ गये। उसने ज्योही सन्त को देखा, मन मे प्रसन्न हुई तथा अन्य वस्तुओ के साथ कडवे तुम्बे के शाक का पात्र पूरा ही उनके पात्र मे उडेल दिया। यानी पूरा शाक उन्हे बहरा दिया।

धर्मरुचि अणगार भिक्षा लेकर अपने स्थान पर लौटे तथा अपने गुरु व अन्य सन्तो के साथ आहार करने के लिए बैठे। जब तुम्बे का शाक चखा गया तो ज्ञात हुआ कि यह अत्यन्त कडवा है। यह जानकर धर्मरुचि के गुरुजी ने उन्हे शाक का पात्र देते हुए कहा—"वत्स! निर्वद्य या निर्जीव स्थान देखकर इसे बाहर फेंक आओ।"

धर्मरुचि गुरु की आज्ञा से पात्र लेकर स्थानक से बाहर आये और एक स्थान पर खडे हो गये। उन्होने शाक उडेलने के लिए पात्र झुकाया ही था कि अचानक उनके मन मे कुछ विचार आया और उन्होने शाक के एक दो टुकडे जमीन पर डाले। कुछ ही क्षणो के बाद वे देखते क्या है कि शाक मे डाले हुए मीठे के कारण उन जमीन पर डाले हुए टुकडो के आस-पास अनेक चीटियाँ आ गई हैं और कडवेपन से मर रही हैं।

यह देखकर धर्मरुचि ने उन प्राणियो की मृत्यु का कारण स्वय को मान-कर घोर पश्चात्ताप किया साथ ही सोचा—"मैंने एक-दो बूंद या सूक्ष्म टुकडे जमीन पर डाले, केवल उतने से ही इतनी चीटियाँ मर गई है तो अगर यह सम्पूर्ण शाक जमीन पर डाल दूँगा तो इस विषवत् वस्तु से तो न जाने कितनी चीटियाँ या अन्य सूक्ष्म जीव मर जाएँगे।"

इस समस्या का हल उन्हे जब और कुछ नही सूझा तो वे स्वय ही समस्त शाक खा गये। यह विचारकर कि—"अगर मैं यह शाक उदरस्थ कर लूँगा तो असख्य प्राणियो की रक्षा तो हो जाएगी भले ही मुझ एक का कुछ भी हो जाय।"

हुआ भी ऐसा ही, अनिष्ट उनका हुआ। अर्थात् कडवे तुम्बे के कारण कुछ समय छटपटाने के पश्चात् उनका देहान्त हो गया। पर उनके हृदय मे अन्त तक अपार प्रसन्नता इस बात की रही कि मैं असख्य जीवो के प्राण-नाश से बच गया। इस शरीर को तो एक दिन जाना ही था, आज ही सही।

तो बन्धुओ, सच्चाई से महाव्रतो का तथा समितियो का पालन करने वाले मुनि केवल मल-मूत्र आदि ही नही, कोई भी ऐसी वस्तु जिससे अन्य जीवो की हिंसा हो सकती हो, सजीव स्थान पर नही डालते।

इतनी सावधानी और यतना रखने के कारण ही वे आस्रव से बचते हुए

सवर की उपासना करते हैं तथा सवर रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से कर्मों को काटते हैं।

आगे कहा गया है—

> क्षमा आदि दस धर्म से, मण्डित चेतन-राम।
> निर्विकार निर्लेप हो, बने पूर्ण निष्काम॥
> सुधा सदृश फल से सहित, धर्म वृक्ष अवदात।
> तेरे प्रागण मे खडा मूढ ! क्यो न फल खात॥
> है जननी वैराग्य की, समता रस की स्रोत।
> भव्य भावनाएँ सदा, भवसागर की पोत॥

कवि भारिल्ल जी ने व्यक्ति को उद्‌बोधन देते हुए कहा है—"अरे अज्ञानी पुरुष ! तू मुक्ति की कामना तो करता है, किन्तु अपनी आत्मा को क्षमा आदि दस धर्मों से युक्त बनाकर निर्विकार, ससार से अलिप्त और निष्काम क्यो नही बनाता ? तेरी आत्मा के आँगन मे ही धर्म रूपी कल्पवृक्ष अमृत के सदृश मुक्ति रूपी फल लिए खडा है, पर तू अपनी करनी से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न क्यो नही करता ?"

क्या तू नही जानता कि समता आत्मिक आनन्द और वैराग्य की जननी है ? अगर तू समभाव अपना ले तो स्वय ही तेरा मन ससार से उपराम हो जाएगा और हृदय मे भव्य एव उत्तम भावनाएँ अपना स्थान बना लेंगी जोकि इस भव-सागर की नौका के समान हैं। जो महामानव इन्हें अपना आधार बना लेता है, वह फिर कभी ससार-सागर मे नहीं डूब पाता।

आगे कहा है—

> अरे जीव ! दुख नरक के सहे अनन्ती बार।
> आज सहा जाता नही, तनिक परिषह भार॥
> त्याग अशुभ व्यापार को, रहना शुभ मे लीन।
> है सम्यक् चारित्र यह, कहते धर्म प्रवीन॥
> अष्टम सवर भावना, आत्म-शुद्धि का मूल।
> चिंतन कर पाले सुजन, भव-सागर का कूल॥

बन्धुओ, आज व्यक्ति जबान से तो स्वर्ग और मोक्ष की बातें करते हैं और इन्हे पाना चाहते है, किन्तु धर्म-क्रिया की उपासना करने का जब [illegible]

आता है तब तुरन्त पीछे हट जाते है। उन्हे सामायिक करने के लिए कहो तो कहेगे—बैठे-बैठे कमर दुखने लगती है, पौषध को कहा जाय तो जमीन चुभती है बिना रुई भरे गद्दे के, और उपवास आयबिल होता नही क्योकि न भूखा रहा जाता है और न ही घी, दूध, दही और मीठे के अभाव मे रूखा-सूखा खाया जाता है। ऐसी स्थिति मे मोक्ष की प्राप्ति करना सभव है क्या ?

कवि ने कहा है—अरे जीव ! तूने तो नरक के दुःख भी अनन्तो बार सह लिये है फिर उसके मुकाबले मे धर्म-ध्यान या तप से होने वाले ये तुच्छ परिषह क्या मूल्य रखते है जो तुझसे नही सहे जाते ? तनिक विचार करके देख कि अब तक जो भव्य आत्माएँ सम्पूर्ण परिषहो को सहन करके सयम की दृढ साधना कर चुकी है, क्या उनके शरीर तेरे जैसे नही थे ?

धर्म के लिए तो गुरु गोबिन्दसिंह के दो छोटे-छोटे बच्चे हँसते हुए स्वय ही दीवार मे चुने जाने को तैयार हो गये थे। छोटा सा बालक ध्रुव जो आज ध्रुवतारे के रूप मे माना जाता है अपनी सौतेली माता के तनिक से तिरस्कार पर ही घोर तपस्या मे लीन हो गया था।

भगवान की गोद

आपने ध्रुव की कहानी अवश्य ही पढी होगी। एक बार जब वह अपने पिता की गोद मे बैठने जा रहा था, उसकी सौतेली माँ ने सौतेले भाई को पिता की गोद मे बैठाया और उसका अनादर करते हुए कहा—"तुम यहाँ नही बैठ सकते, तुम केवल आधा सेर अनाज के अधिकारी हो।"

बालक ध्रुव को बात लग गई और उसने सोचा "अब तो मैं भगवान की गोद मे ही बैठूंगा।"

पर भगवान की गोद मे बैठना क्या सरल है? उसके लिए निराली ही भक्ति और साधना चाहिये। भगवान की भक्ति करने वाला भगवान के प्रेम मे ऐसा गर्क हो जाता है कि उसे ससार की अन्य कोई वस्तु दिखाई ही नही देती। जिस प्रकार पतिगा दीपक से प्रेम करने पर अन्य किसी की ओर नही देखता केवल उस पर मडराता हुआ अपने प्राण त्याग देता है, इसी प्रकार ईश्वर मे लौ लगाने वाले का हाल होता है।

उर्दू कवि जौक ने कहा भी है—

> कहा पतग ने यह दारे शमा पर चढकर।
> अजब मजा है, जो मर ले किसी के सर चढकर।।

तो मैं ध्रुव के विषय मे कह रहा था कि उस छोटे से बालक ने जब यह

प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अव भगवान की गोद मे ही वैठूंगा जहाँ से मुझे कोई नही हटा सकेगा तो अपने निश्चय और दृढ इच्छा को पूरा करने के लिए वह तपस्या करने चल दिया ।

उसके पिता को जब यह मालूम हुआ कि उनका छोटा-सा पुत्र तपस्या करने के लिए जा रहा है तो उन्होने स्वय जाकर उसे समझाने का प्रत्यन किया और वड़े प्यार से वोले—

"वेटा ! तुम वालक हो, अभी क्या जानो कि तपस्या कितनी कठिन होती है ? तुम वापिस लौट चलो मैं आधा राज्य तुम्हे देता हूँ ।"

पर ध्रुव ने उत्तर दिया—"पिताजी ! अभी तो मैंने भगवान को पाने का प्रयत्न ही नही किया कि आप मुझे आधा सेर अनाज के वदले आधा राज्य देने को तैयार हो गये । पर अगर मैं भगवान को पाने का प्रयत्न करूँगा तो मुझे क्या नही मिलेगा ? सभी कुछ मिल जाएगा । अत अब वापिस नही लौट सकता ।"

अपने कथनानुसार ध्रुव ने निर्जन वन मे जाकर घोर और अद्‌भुत तप प्रारम्भ कर दिया तथा कडाके की सरदी, भयानक गरमी और घनघोर वर्षा की भी परवाह न करते हुए जव तक भगवान को प्राप्त नही कर लिया, अपनी तपस्या भग नही की ।

वधुओ, यह कथा वैष्णव साहित्य मे प्रसिद्ध है पर अपने जैन साहित्य मे भी वालक गजसुकुमाल, जिनका शरीर गज यानी हाथी के तालू के समान कोमल था और इसीलिए गजसुकुमाल नाम रखा गया था । दूसरे, मृगापुत्र एव अयवताकुमार आदि छोटे-छोटे वालको ने मुनिधर्म ग्रहण कर लिया था और सम्पूर्ण परिषहो पर पूर्ण विजय प्राप्त करते हुए आत्म-कल्याण किया था ।

तो वालक ध्रुव, गजसुकुमाल, मृगापुत्र एव ऐवन्ताकुमार आदि वाल-मुनियो ने भी जव घोर परिषह सहन कर लिये थे तो क्या आप धर्म-क्रियाएँ, तप या साधना नही कर सकते ? अवश्य कर सकते है, आवश्यकता दृढ सकल्प की है । जव मानव आस्रव के सही स्वरूप को समझकर उससे भयभीत हो जाता है तव स्वय ही सवर की उपासना मे लग जाता है तथा इस मार्ग मे आने वाले प्रत्येक परिषह को नरक एव तिर्यंच योनि के कष्टो से अत्यन्त तुच्छ एव कम समझकर उन्हे हँसते-हँसते सहन कर लेता है । ये परिषह उसे परिषह के समान ही महसूस नही होते ।

कवि ने भी यही कहा है कि सवर की आराधना करते समय किसी भी प्रकार के कष्ट या परिपह से घवराकर अपने कदम मत रोको या उन्हे आस्रव

के मार्ग पर मत चलने दो, यही विचार करो कि—'मेरे जीव ने जब अनन्तानन्त वार नरकों का कष्ट भोग लिया है तब उनके मुकाबले मे ये साधारण से कष्ट क्या महत्त्व रखते है ?'

किनारे पर आकर निष्क्रिय मत बनो

वीतराग के वचनो पर आस्था रखने वाले धर्मात्मा पुरुष भी कहते है—"भाई ! आठवी 'सवर भावना' एक प्रकार से भव-समुद्र का नजदीक आया हुआ किनारा है, अत अव पुन आस्रव के द्वारा फिसल कर समुद्र मे गोते लगाने के लिए मत चले जाओ, वरन् इस भावना को भाते हुए थोडी श्रम-भावना करके वाहर निकल आओ।"

यह वात अक्षरश यथार्थ है। अनन्तकाल तक चौरासी लाख योनियो मे पुन-पुन जन्म-मरण करना ससार-सागर या भव-समुद्र मे गोते लगाना ही है। वह तो जीव कर चुका। पर अब स्वर्ण-सयोग से मनुष्य जन्म, उच्च कुल, आर्य क्षेत्र एव सन्त-समागम की सुविधा रूप भव सागर का किनारा प्राप्त हो गया है तथा थोडे से प्रयत्न से ही जब इससे वाहर निकल कर मुक्ति का शाश्वत आनन्द प्राप्त किया जा सकता है तो असावधानी, मिथ्यात्व, प्रमाद या अश्रद्धा के कारण किनारे की ओर न आकर पुन मझधार की ओर चले जाना कहाँ की वुद्धिमानी है ? दूसरी वात, अनन्तकाल से घोर परिश्रम करके जो पुण्य जुटाये है तथा मानव-जन्म रूपी किनारा पा लिया है तो फिर थोड़े-से परिश्रम के लिए प्रमाद क्यो करना ? जबकि थोडा सा आगे वढने पर शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, और थोडा सा पीछे हटते ही घोर दु खो के वीच जाना होता है।

बन्धुओ, आप जानते है कि तराजू के दो पलडे होते है। किन्तु एक पलडे मे तनिक-सा वजन डाल देने पर वह झुक जाता है और दूसरे पलडे मे वही वजन डाल देने पर वह झुकता है। मानव-जन्म भी तराजू की ऐसी ही डण्डी है, जिसके एक पलडे मे ससार से मुक्ति है और दूसरे मे अनन्तानन्त दु ख। अव आप ही विचार कीजिये कि ऐसी स्थिति मे हमे किस पलडे को झुकाना चाहिये ? सवर की भावना को ग्रहण करते हुए उसके अनुसार साधना करली तो मुक्ति रूपी पलडा झुक जाएगा यानी जीव ससार-मुक्त हो सकेगा और असावधानी या प्रमाद से आस्रव कर लिया तो भवसागर के दु खो वाला पलडा झुकेगा तथा जीव पुन भवसागर मे अनन्तकाल तक गोते लगाने के लिए चल देगा।

इसलिए कवि के कथनानुसार मनुष्य को अपने जीवन का महत्त्व समझते

हुए अशुभ-व्यापार से वचकर शुभ-व्यापार मे लगना चाहिए। अर्थात् आस्रव के मार्ग को छोडकर सवर का मार्ग अपनाना चाहिए। जो भव्यप्राणी सवर को उसके शुद्ध स्वरूप सहित ग्रहण कर लेते हैं वे समार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी से निरासक्त रहते हैं। वे विचार करते है—

करें जुदाई का किस-किस की रज हम ए जौक।
कि होने वाले हैं सब हमसे अनकरीब जुदा।।

कवि जौक का कहना है—"हम किस-किस की जुदाई या वियोग का रज करे ?" सभी तो एक दिन हमसे दूर होने वाले हैं।"

वस्तुत ऐसी अनित्य भावना जब मानस मे उत्पन्न हो जाती है, तब सवर के मार्ग पर चलना तनिक भी कठिन नही होता। इसलिए प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी को 'सवर-भावना' भाते हुए त्याग, तप एव सयमपूर्वक अपने कर्मो की निर्जरा करके इस दुर्लभ जीवन का सर्वोच्च लाभ 'मोक्ष' हासिल करने मे जुट जाना चाहिए ताकि भव-सागर का निकट आया हुआ किनारा कही पुन दूर न चला जाय। ऐसा करने पर ही शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

O

२०

कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने सवरतत्त्व या सवर भावना के विपय मे सक्षिप्त विवेचन किया था । आस्रव के अवरोध को सवर कहते है । अनन्तकाल से जो कर्म आ-आकर आत्मा को आच्छादित करते जा रहे है, उनके आगमन को सन्त-महापुरुप सवर की आराधना करके रोकते है । जो मुमुक्षु अपनी इन्द्रियो पर और मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए राग-द्वेष से निवृत्त होते है, वे ही सच्चे अर्थो मे सवर की उपासना कर पाते है यानी कर्मो के आगमन को रोक सकते है ।

सवर-भावना के बाद आज हमे 'निर्जरा-भावना' को लेना है । कोई यह प्रश्न कर सकता है कि कर्मो के आगमन या आस्रव को सवर के द्वारा रोक लिया जाय तो फिर और क्या करना बाकी रह जाता है ? कर्मो का बँधना ही तो दु ख की बात है और उन्हे ही जब बँधने से रोक लिया तो काफी है । पर ऐसा विचार करना और सवर से ही सन्तुष्ट हो जाना आत्म-मुक्ति के लिए काफी नही है ।

यह सही है कि सवर से नवीन कर्मो का आगमन रुक सकता है, किन्तु भाइयो ! जो पूर्वबद्ध कर्म होते है उन्हे भी तो क्षय करना आवश्यक है । अगर उन्हे नष्ट नही किया जायेगा तो वे उदय मे निश्चय ही आएँगे और न जाने कितने काल तक घोर दु खो के रूप मे अपना फल प्रदान करेगे । अनिच्छा होने पर भी उनके आक्रमण से जीव बच नही सकेगा । इसलिए आवश्यक है कि बद्ध कर्मो का क्षय किया जाय और उन्हे क्षय करना ही निर्जरा कहलाता है ।

प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने निर्जरा के विषय मे लिखा है—

> चेतन से कुछ-कुछ कर्म दूर होते है,
> निर्जरा तत्त्व जिनदेव उसे कहते है ।

है सुख का सागर यही मोक्ष का कारण,
आराधन इसका सकल कर्म सहारण।
पहले जो बाँधे कर्म स्व-फल देते हैं,
फल देकर फिर वे तुरत दूर होते हैं।

कवि ने कहा है—'जिन भगवान के कथनानुसार जब आत्मा से क्रमश कर्म हटते जाते हैं तब उसे निर्जरा कहते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान मे रखने की है कि 'निर्जरा' शब्द केवल जैनदर्शन मे ही आया है। अन्य किसी भी धर्म या दर्शन मे यह नही पाया जाता। हाँ, सस्कृत मे देवता का एक नाम अवश्य निर्जर बताया गया है।

तो कविता मे कर्मो के विषय मे कहा गया है कि पूर्व मे बँधे हुए कर्मो मे से जब जिन कर्मो के उदय का समय आता है, तब वे उदित होते है और अपना फल प्रदान करके फिर तुरन्त दूर हो जाते हैं। पुन वे आत्मा को नही घेरते।

आगम मे कहा भी है—

पक्के फलम्मि पडिए, जहण फल बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई॥

—समयसार-१६८

अर्थात्—जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन वृन्त यानी वृक्ष से नही लगता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से विलग होने के पश्चात् पुन आत्मा को नही लग सकते।

आशय यही है कि वीतराग अपने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर देते हैं और फिर वे कभी भी कर्म-बन्धनो से नही जकडते। कर्मो का क्षय करना निर्जरा है तथा निर्जरा ही मोक्ष एव शाश्वत सुख का कारण है। आत्मा तभी परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति करती है या अपने शुद्ध स्वरूप मे आती है, जबकि उसके शुभ एव अशुभ, सभी कर्म उससे दूर हो जाते है। उस अवस्था को ही हम मोक्ष कहते हैं।

निर्जरा के प्रकार

निर्जरा दो प्रकार की बताई गई हैं। पहली सकाम निर्जरा और दूसरी निष्काम निर्जरा। इस विषय मे कविता मे आगे कहा है—

है द्विविध निर्जरा जिनवर ने बतलाई।
पहली सकाम निष्काम दूसरी भाई।

वढता है उपशम भाव चित्त मे जैसे,
तप-वह्नि प्रज्वलित होती जैसे-जैसे।
ज्यो धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान चढता है,
त्यो-त्यो विशुद्ध निर्जरा मान वढता है।

भगवान ने सकाम और निष्काम, दो प्रकार की निर्जरा वताई है। जो आत्म-साधक अपने कर्मो को नष्ट करना चाहता है, वह तप का आराधन करता है क्योकि—

"तपसा क्षीयते कर्मः।"

यानी—तप से कर्म क्षीण होते है।

कविता मे भी यही कहा गया है कि ज्यो-ज्यो तप की अग्नि तेज होती जाती है, त्यो-त्यो उपशम भाव वढता है और कर्म क्षीण हो चलते है। तपस्वी वारहो प्रकार के तपो मे जुट जाता है तथा उसकी आत्मा मे धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की धारा जितनी वढती है, उतनी ही तीव्रता से कर्मों की निर्जरा होने लगती है।

पर मुझे आपको अभी यह वताना है कैसे तप से कर्मो की निर्जरा होती है? तप भी सकाम और निष्काम होता है तथा कामनारहित तप निर्जरा का हेतु वनता है।

(१) **अकाम निर्जरा**—जो तपस्वी किसी फल की कामना से तप करता है, उसको भले ही स्वर्ग-सुख हासिल हो सकता है, किन्तु कर्मो की निर्जरा वह नही कर पाता। अनेक व्यक्ति तपस्या करते है, किन्तु साथ ही किसी न किसी फल की इच्छा रखते है कि मेरी तपस्या का अमुक फल मिलना चाहिए। ऐसे निदान का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति यश, कीर्ति प्राप्त कर लेता है, सेठ, राजा, देवता या इन्द्र भी वन सकता है किन्तु कर्मों का क्षय नही कर पाता अत अपनी आत्मा को ससार-मुक्त नही कर सकता। उसका तप वाल-तप या अज्ञान-तप कहलाता है।

इसलिए आचार्य शय्यभव ने तपाराधन करने वाले को उद्वोधन दिया है—

"नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्ण सद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तव मिहिट्ठिज्जा।"

अर्थात्—इस लोक की कामना को लेकर यथा—धन, प्रसिद्धि या सम्मान आदि के लिए, परलोक की कामना से देव, इन्द्र, अहमिन्द्र या चक्रवर्ती वनने के

लिए तप नही करना चाहिए। तप केवल निर्जरा के लिए यानी कर्मों को नष्ट करने का सकल्प रखकर करना चाहिए।

निर्जरा के लिए किये हुए तप के द्वारा आत्मा कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष-फल की प्राप्ति भी कर सकती है, तो इस लोक और परलोक मे कुछ प्राप्त हो जाना कोई बडी बात नही है वह सब तो बिना इच्छा के भी मिल जाता है। जिस प्रकार किसान को खेती करने पर उसका सर्वोत्तम फल धान्य तो प्राप्त होता ही है, साथ ही भूसा आदि उसके साथ यो ही मिल जाता है। इनके लिए इच्छा करने की आवश्यकता नही होती।

तप का अभीष्ट फल भी कर्मों से सर्वथा मुक्ति या मोक्ष है, बाकी इस लोक मे कीर्ति, प्रशसा, श्लाघा और धन या परलोक मे जैसा कि मैंने अभी बताया, देव, इन्द्र या चक्रवर्ती होना भूसे के समान है, जो स्वय ही मिलता रहता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी फल-प्राप्ति की इच्छा से घोर तप करके शरीर को सुखा देना निरर्थक है, उससे कर्मों का क्षय न होकर उलटे बध होता है। इसी प्रकार परिषहो या उपसर्गों के कष्टो को हाय-हाय करते हुए भोगना भी निरर्थक है, क्योकि उससे नवीन कर्मों का बध होता जाता है। सक्षेप मे अज्ञानपूर्वक कष्टो को सहन करने से कोई लाभ नही है।

इस विषय मे एक सुन्दर श्लोक है—

अज्ञानकष्टम् नरके च ताडनम्
तिर्यक्षु तृट्क्षुधवध बध वेदनम्।
एते अकामा भवतीति निर्जरा,
इच्छा विना यत् किल शीलपालनम् ?

अर्थात्—नरक मे जीव ताडन, फाडन, छेदन एव भेदन आदि के कारण घोर कष्ट सहन करता है और तिर्यंच गति मे भूख, प्यास, वध, बन्धन एव पीटे जाने के कष्ट भी भोगता है। परन्तु उन कष्टो को वह समभाव से सहन नही करता एव ज्ञानपूर्वक मेरे कर्मों की निर्जरा होगी यह समझकर नही भोगता अत कष्ट सहने पर भी कर्मों का क्षय नही होता।

उदाहरणस्वरूप—एक स्त्री, जिसका पति विदेश चला जाता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह लोक व्यवहार और सामाजिक भय से शील का पालन करती है, किन्तु उसके मन मे पति के विद्यमान न होने का दुख रहता है तथा अगले जन्म मे वह उससे मिलने की कामना रखती है। ऐसी स्थिति मे भले ही मजबूरी और लोकलज्जा से शील का पालन करने पर उसे उच्चगति

प्राप्त हो सकती है, पर उसका शील पालना धर्म नही कहलाता और निर्जरा का कारण नही बनता ।

इसी विषय पर पुन कहा गया है—

> अज्ञानकष्टार्जित तापसादयोः,
> यद्कर्मनिघ्नंति हि वर्षकोटिभि ।
> ज्ञानी क्षणेनैव निहन्ति तद्ध्रुव,
> ज्ञान ततो निर्जरणार्थभिर्जय· ॥

अर्थात्—हम देखते है कि अनेक तपस्वी भूखे रहते है, पचाग्नि तप तपते है, पेड से औंधे लटके रहते है, और इसी प्रकार कई तरह से शरीर को सुखा देते है, किन्तु अज्ञान के कारण ऐसी तपस्या से करोडो वर्षों मे वे जितने कर्मों का क्षय कर पाते हैं, उतने कर्मों का ज्ञानी समभाव, विवेक और ससार के स्वरूप से विरक्त होकर कुछ क्षणो के तप से ही नाश कर लेते है । इस प्रकार वही तप कर्मो की निर्जरा करता है जो फलेच्छा से रहित, ज्ञानसहित और निष्कपट होकर किया जाता है ।

मनुष्य आडम्बर, ढोग या कपट करके मनुष्यो की आँखो मे धूल झोक सकता है, किन्तु कर्मों की आँखो मे नही । कर्मो के नेत्र तो इतने पैने होते हैं कि जिस प्रकार दर्पण चेहरे को अपने मे ज्यो का त्यो प्रतिबिम्बित कर देता है, रचमात्र भी भूल नही करता, इसी प्रकार वे भी मानव की बाह्यक्रिया तथा अन्तर के विचारो को ज्यो का त्यो ग्रहण करके या जान के ठीक वैसा ही फल प्रदान करते है ।

कपटपूर्वक किये गये तप का एक उदाहरण ज्ञातासूत्र मे है कि हमारे उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ प्रभु को भी स्त्री वेद का बन्ध भोगना पडा था। क्योकि उन्होने अपने पूर्व जन्म मे महाबल के जीवन मे अपने साथियो से छल या कपट रखकर तपाराधन किया था । स्पष्ट है कि साथियो को वे भ्रम मे डाल सके थे, किन्तु कर्मों को नहीं । कर्मों ने अपना कार्य किया और उनकी कपट-तपस्या का फल स्त्री वेद के रूप मे दे दिया ।

इसलिए बन्धुओ ! कर्मों की निर्जरा के लिए तप करना आवश्यक है पर वह किस प्रकार किया जाना चाहिए यह समझना मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है। अन्यथा तप भी किया और उसे करते समय नाना प्रकार के कष्ट उठाकर शरीर को सुखा भी दिया पर जैसा मिलना चाहिए वैसा लाभ नही मिल पाया तो उस तप से क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नही ।

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी तपस्या के महत्त्व को बताते हुए, कैसी तपस्या करनी चाहिए इसे अपने एक सुन्दर पद्य मे समझाया है। पद्य इस प्रकार है—

तपस्या के किये विना हटे न करम पुंज,
इहलोक आरशे सो तप नही करवो।
परलोक इन्द्रादिक पदवी न चाहे भव,
जस कीरति के लिए सोही परिहरवो॥
करम कलेश लेश तप नाश कर करवे को,
निर्जरा प्रमाण अरु पाप सेती डरवो।
भावना अर्जुनमाली भाई पाये शिवपद,
कहत तिलोक भावे जाके जग तरवो॥

महाराज श्री का कथन है कि तप किये विना अनन्तकाल से इकट्ठे हुए कर्मो के भारी समूह को नष्ट नही किया जा सकता अत तप करना आवश्यक है, किन्तु अपने तप के पीछे हमे इस लोक मे सुख एव यशादि मिले तथा परलोक मे उच्च गति प्राप्त हो, ऐसी भावना मत रखो। तप के साथ केवल यही विचार करो कि मुझे अपने पूर्वबद्ध समस्त कर्मो का क्षय करना है तथा सदा के लिए ससार के क्लेशो से छुटकारा पाना है।

कर्मो की निर्जरा किस प्रकार की जाती है, इसका उत्तम प्रमाण हमारे सामने अर्जुनमाली का है। अर्जुनमाली साधुत्व ग्रहण करने के पश्चात् तपाराधन मे लग गये। उस समय उनके शत्रुओ ने पत्थरो से तथा डण्डो से प्रहार कर-करके उन्हे महान् कष्ट दिया।

किन्तु उस कष्ट को उन्होंने दु ख या त्राहि-त्राहि करके सहन नही किया, अपितु दु ख देने वालो को क्षमा करते हुए पूर्ण समत्व भाव से 'मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है' यह विचार करते हुए शान्त-भाव से सहा। परिणाम यह हुआ कि वे कर्म-मुक्त हुए और ससार से छुटकारा पा गये।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधु-साध्वी या अन्य स्त्री-पुरुष इस ससार मे नाना प्रकार के सकटो से घिरते है और उनके कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, किन्तु कर्मो की निर्जरा केवल वही कर पाते हैं जो ज्ञानी एव समभाव से परिपूर्ण होते हैं। सक्षेप मे कर्मो की निर्जरा होना भावनाओ पर निर्भर है। कष्ट एक सरीखे हो सकते हैं, पर उन्हे व्यक्ति किस भावना

सहता है यही महत्त्वपूर्ण है और उसी पर निर्जरा का होना न होना निर्भर करता है।

खाना न मिल पाने से भिखारी छः दिन तक भूखा रहता है पर भूख के कष्ट को वह कितने आर्त-ध्यान एव शोक से सहता है? अन्न के दाने प्राप्त करने के लिए वह कितना व्याकुल रहता है? तो ऐसे भूखे रहने से क्या उसके कर्मो की निर्जरा होगी? नही, निर्जरा उस व्यक्ति के कर्मो की होगी जो भोजन प्राप्त होने पर भी उसका एक-दो या अधिक दिन के लिए पूर्ण शान्ति तथा सन्तोष से त्याग करेगा और वह समय धर्म-क्रिया, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन और आत्म-रमण मे लगायेगा।

कर्मो की निर्जरा किस प्रकार व्यक्ति कर पाते है या कर चुके है, इस विषय मे कहा गया है—

> सह लेते है जो दुष्ट वचन हँस करके,
> उत्तेजित होते क्रोध मे न फँस करके।
> उपसर्गों को उपकारक जिनने माना,
> कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।
> उपसर्ग और परिषह है ऋण का देना,
> वदला लेकर क्यो नया कर्ज फिर लेना?
> मानापमान जिनने समान पहचाना,
> कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना॥

कवि ने सरल भाषा मे समझा दिया है कि जो क्षमाशील व्यक्ति औरो के कटु-वचनो को मुस्कुराते हुए शान्त भाव से और तनिक भी उत्तेजित हुए बिना सहन कर लेते है तथा उपसर्गों को अपने कर्मो की निर्जरा का सयोग समझ कर उन्हे उपकारी मानते है, वे ही मोक्ष रूपी ठिकाना प्राप्त करते है।

ऐसे भव्य प्राणी सदा यही भावना रखते हैं कि उपसर्ग और परिषह तो ऋण है जिसे चुकाना पडेगा। यानी पूर्व मे जो कर्म-बन्धन किये हैं उन्हे तो भोगना ही है। फिर क्यो नही समाधि-भाव और शान्तिपूर्वक प्रसन्नता से वह चुकाया जाय? ऐसा करने पर कर्ज चुक जायेगा यानी कर्म झड जायेंगे, किन्तु उस कर्ज को चुकाते समय यानी उपसर्गों और परिषहो को सहन करते समय अगर पुन आर्तध्यान किया और हाय-हाय करते रहे तो नये कर्मो का बन्धन होगा अर्थात् फिर से कर्मों का कर्ज सिर पर सवार हो जाएगा। कवि का भी यही कहना है कि पुराने कर्ज को चुकाते हुए उसके बदले मे फिर से नया कर्ज

क्यो लेना चाहिए ? यह विचार जो करते है, वे मोक्ष रूपी सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर लेते है ।

(२) **सकाम निर्जरा**—यद्यपि अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का झडना तो अज्ञानी को भी होता रहता है। किन्तु उसे शुद्धि का कारण या निर्जरा नही कहा जा सकता । सकाम निर्जरा तव कहलाती है, जबकि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र द्वारा तप करके व्यक्ति अपने कर्मो का नाश करता है और ऐसे समय मे उसके सामने जो उपसर्ग और परिषह आते हैं उन्हे वह पूर्ण समभाव से सहन कर लेता है ।

हमारे आगम कहते हैं—

जह पसु गुंडिया, विहुणिय धसयई सिय रयं ।
एव दविओवहाणव, कम्म खवई तवस्सि माहणे ॥

अर्थात्—सच्चा तपस्वी अपने उज्ज्वल तप से कृत कर्मों को बहुत शीघ्र समाप्त कर देता है, जैसे पक्षी अपने परो को फडफडाकर उन पर लगी हुई धूल झाड देता है ।

ऐसी तपस्या किस काम की ?

खेद की बात है कि आज हमारे समाज मे तप करने की विशेष परम्परा तो है पर उसके साथ दान, दया, सामायिक, स्वाध्याय, ज्ञान-ध्यान एव चिन्तन-मनन आदि की प्रवृत्ति का लोप हो गया है । तपस्या खूब की जाती है महीने-महीने तक की और उससे भी अधिक, किन्तु उस समय कर्मो की निर्जरा के प्रति जो एकान्त उत्साह होना चाहिए तथा आरम्भ-परिग्रह कम से कम किया जाना चाहिए वह नही होता । तप के नाम पर जीमनवार होते हैं, जिनमे हजारो रुपये खर्च किये जाते हैं, हजारो रुपये नारियल, वतासे, लड्डू या अन्य चीजो को वांटने मे पूरे किये जाते है और पीहर व सम्बन्धियो के घरो से वस्त्राभूषण आते हैं वह अलग । इसी प्रकार खूब गीत गाये जाते हैं, धूमधाम से जुलूस निकलता है और कहा जाता है वडी भारी तपस्या की गई ।

कई वार तो आर्थिक स्थिति ठीक न होने पर लोग बहू-वेटियो को अठाई आदि तप करने से मना कर देते हैं और वहने भी तपस्या करने का विचार छोड देती है कि जब धूम-धाम नही होगी, वस्त्राभूषण नही आएँगे और जीमण आदि के अभाव मे लोगो को उनकी तपस्या का पता भी नही चल पायगा तो फिर करने मे क्या लाभ है ? यह हाल है आज के तप का । ऐसी स्थिति मे

भला कर्म-निर्जरा कैसे होगी ? तप का ढिंढोरा पिट जाने मे और तपस्वी कहला जाने से कभी तप का सच्चा लाभ हासिल हो सकता है ? यानी कर्म झड सकते है ? कभी नही । मैंने अभी कहा भी था कि मनुष्यो की आँखो मे धूल झोकी जा सकती है पर कर्मों की आँखो मे नही । वे मनुष्य की भावनाओ को ज्यो का त्यो पढ लेते हैं और उन्ही के अनुसार आकर आत्मा को घेर लेते है । इसलिए तप का महत्त्व तथा निर्जरा के रहस्य को समझकर ही तपानुष्ठान करना चाहिए ।

कविता मे आगे कहा गया है—

जननी ममत्व की यह नश्वर काया है,
अत्यन्त अशुचि दुखधाम महामाया है ।
रत्नत्रय को ही द्वार मुक्ति का जाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।
अपने अवगुण की जो निन्दा करते है,
पर पर-निन्दा से सदा काल डरते है ।
गुणवानो के सद्गुण का गाते गाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ।

जो महापुरुष शरीर को मोह-ममता की जननी और अशुद्ध, नश्वर तथा दु ख का घर समझ लेते हैं, साथ ही सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वे ही अन्त मे कर्मों से मुक्त होते है ।

इसके अलावा साधु-पुरुष कभी औरो के अवगुणो को देखकर उनकी निन्दा नही करते । वे अपने ही दोषो को देखते है तथा उनकी निन्दा करते हुए पश्चात्ताप करते-रहते हैं । महात्मा कबीर ने आत्मानुभव से कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय ।
जो दिल देख्या आपना, मुझ सा बुरा न कोय ॥

तो बन्धुओ, महापुरुष पर-निन्दा न करके स्व-निन्दा करते है और इस प्रकार एक-एक अवगुण अपनी आत्मा मे से खोजकर नष्ट कर देते है । तभी उनकी आत्मा निर्मल बनती है तथा परमात्म-पद की प्राप्ति होती है ।

वस्तुत इस ससार मे सर्वगुणसम्पन्न तो कोई भी व्यक्ति नही होता, तब फिर हम औरो के अवगुणो को ढूंढकर और उनकी निन्दा करके अपने जीवन का अमूल्य समय क्यो वृथा करे, साथ ही कर्म-बन्धन मे बँधे ? छद्मस्थ होने

के कारण दोप तो हममे भी हैं। अगर ऐसा नही होता तो कर्मों से सर्वथा मुक्ति हासिल हो जाती। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति मे गुण और अवगुण होते हैं अत एक का दूसरे के अवगुण देखना और उनकी आलोचना करना निरर्थक है।

महामूर्ख हू ?

कहते हैं कि एक वार स्वामी दयानन्द सरस्वती किसी कॉलेज मे भाषण देने के लिए आमन्त्रित किये गये। स्वामीजी समय पर वहाँ पहुँचे और अपने स्थान पर वैठे।

आप जानते ही हैं कि कॉलेज मे पढने वाले छात्र जितना पढते है, उसकी अपेक्षा शैतानियाँ अधिक करते हैं। एक ऐसे ही उद्दड छात्र ने स्वामीजी से कहा—

"महाराज आपसे एक प्रश्न पूछू ?"

"अवश्य पूछो!" दयानन्द सरस्वती ने उत्तर दिया।

छात्र ने पूछा—"आप विद्वान हैं या मूर्ख ?"

प्रश्न सुनकर स्वामी जी तनिक भी क्रोधित न हुए और न ही आवेश मे आए। उन्होने पूर्ववत् सौम्य चेहरे से उत्तर दिया—"भाई! मैं विद्वान भी हूँ और मूर्ख भी।"

अब चकराने की वारी छात्र की थी। वह स्वामी जी का उपहास करना भूलकर आश्चर्य से वोला—"वह कैसे ?"

"इस प्रकार कि सस्कृत भाषा मे लोग मुझे विद्वान कहते हैं पर मैं वढई-गीरी, खेती एव डॉक्टरी आदि अनेक विषयो मे महामूर्ख हूँ, कुछ भी नही जानता।"

स्वामी जी के ऐसे शातिपूर्ण एव सच्चाई के साथ दिये गये उत्तर से वह विद्यार्थी अपने मूर्खतापूर्ण प्रश्न के लिए वडा लज्जित हुआ और उसने उनसे नम्रतापूर्वक क्षमा-याचना की।

इस उदाहरण से यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हम कभी औरो के अवगुणो को खोजने का प्रयत्न न करें। अन्यथा हमे ही शर्मिन्दा होना पडेगा तथा किसी की निन्दा या उपहास करने से हमारी आत्मा मलिन एव दोपयुक्त वनेगी। परिणाम यह होगा कि कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने की महान् अभिलाषा भव-सागर के अतल मे विलीन हो जायेगी।

कविता मे आगे कहा है—

मन और इन्द्रियाँ वश मे है हो जाती,
जिनकी चेतन मे चित्तवृत्ति रम जाती।
धारा जिन सत्पुरुषो ने सुविरति बाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।
है मानव-जीवन सफल उसी नरवर का,
जिसने सोखा जल सकल कर्म-सागर का।
अति पुन्यधाम महिमानिधान जग जाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

जो महापुरुष अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझ लेते है तथा इस पर दृढ विश्वास करते हैं कि हमारे अन्दर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एव अनन्त-चारित्र रूप असीम शक्ति का सागर लहरा रहा है, उनका मन सदा अपनी आत्मा मे रमण करता रहता है और इसके कारण पाँचो इन्द्रियाँ भी सयमित रहती है।

इन्द्रियो का सयम सवर का हेतु बनता है तथा निर्जरा की ओर मन को प्रेरित करता रहता है। ऐसे सयमित मन और इन्द्रियो वाले भव्य पुरुष कर्म-रूपी असीम सागर के जल को सुखाकर अपने जीवन को सार्थक बना लेते हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के रूप मे सर्वोच्च फल प्राप्त करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि जो व्यक्ति आत्मा पर, कर्मो पर, पाप-पुण्य पर एव परलोक पर विश्वास करते है वे इस जगत को असार और हेय न मानकर महामहिम और पुण्य का धाम मानते हैं। आप कहेगे—"ऐसा क्यो ? यह ससार तो दु खो से भरा हुआ है तथा आत्मा को भिन्न-भिन्न गतियो मे भटकाने वाला है। फिर यह पुण्य-धाम कैसे कहला सकता है ?"

बन्धुओ, इस प्रश्न के उत्तर मे हमे सावधानी से विचार करना है। बात यह है कि ससार मनुष्य को अपनी विचारधारा के अनुसार ही अच्छा या बुरा दिखाई देता है। दूसरे शब्दो मे, जिसकी गुण-दृष्टि होती है, वह ससार मे अच्छाई देखता है और जिसकी दोष-दृष्टि होती है वह मात्र बुराई का अवलो-कन करता है।

पृथ्वी पापधाम है या पुण्यधाम ?

यह सत्य है कि हमारे समक्ष इस पृथ्वी पर अच्छी और बुरी सभी वस्तुएँ बिखरी पडी है, पर यह भी सत्य है कि हम चाहे तो बुराइयो को ग्रहण करके

अच्छाइयाँ छोड सकते हैं और चाहे तो अच्छाइयो को ग्रहण करके बुराइयो का त्याग कर सकते हैं। आवश्यकता है हमारी ग्राह्य-शक्ति को अच्छाइयो की तरफ रखने की और उनसे लाभ उठाने की। इतना ही नही, हम चाहे तो बुरी वस्तुओ मे से भी अच्छाई निकाल सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप हमारे पाँच इन्द्रियाँ है। इन्ही से हम अच्छे काम कर सकते हैं और बुरे भी। एक इन्द्रिय कान है। पर इनसे अगर अश्लील गाने सुने जा सकते हैं तो क्या भक्तिपूर्ण भजन और आत्मानन्द को जगाने वाले वैराग्य-रस के गीत नही सुने जा सकते ? चक्षु भी इन्द्रिय है। इनसे भी नाटक-सिनेमा या उत्तेजक चित्रादि देखने के बजाय क्या देव-दर्शन, सत-दर्शन या महापुरुषो और वीतरागो के चित्र देखकर अपने चित्त को भी उन्ही के समान निर्दोष बनाने का प्रयत्न नही किया जा सकता ? रसनाइन्द्रिय से भी मास, शराब एव अभक्ष्य सेवन करने और क्रूर, कटु तथा अश्लील शब्दो का उच्चारण करने की बजाय लोलुपतारहित भाव से निर्दोष पदार्थों को ग्रहण करते हुए साधना मे शक्ति नही बढाई जा सकती क्या ? साथ ही असभ्यतापूर्ण एव व्यर्थ प्रलाप न करके वाणी से भगवद्भजन एव ईश-प्रार्थना करके क्या मन को निर्मल नही बनाया जा सकता ? इस प्रकार हमारे पैर जो सैर-सपाटे की ओर तथा सिनेमा-घरो और वेश्याओ के मुहल्ले की ओर उठते हैं, क्या उन्हे मन्दिर, धर्म-स्थानक या तीर्थो मे नही ले जाया जा सकता ?

अवश्य ले जाया जा सकता है। सभी इन्द्रियो को निश्चय ही अगर व्यक्ति चाहे तो अशुभ प्रवृत्तियो की ओर से हटाकर शुभ मे प्रवृत्त किया जा सकता है महापुरुषो ने ऐसा ही किया भी है, इसीलिए यह पृथ्वी जो दुर्जनो के लिए पाप-धाम बनती है, उनके लिए पुण्य-धाम बन जाती है। अन्तर केवल दृष्टि का है। इस विषय मे एक सुन्दर उदाहरण भी है जो शायद एक बार मैंने आपके समक्ष रखा था पर प्रसगवश पुन सक्षेप मे रखता हूँ।

दुख धाम और सुख धाम

किसी गांव के बाहर उस गांव का एक वयोवृद्ध व्यक्ति एक पेड के नीचे बैठा हुआ था। पेड मार्ग के किनारे पर था जिसके द्वारा पिछले गांव मे गुजरते हुए आगे भी जाया जाता था। अब कुछ समय पश्चात् एक यात्री उस मार्ग से चलता हुआ वृद्ध के समीप आया और उसी पेड के नीचे विश्राम करने बैठ गया।

यात्री के पास छोटा सा बिस्तर, थैला और इसी प्रकार का काफी सामान था। यह देखकर वृद्ध ने पूछ लिया—

"क्यो भाई, यह डेरा उठाकर कहाँ लिए जा रहे हो ?"

यात्री कुछ झुंझलाता हुआ बोला—"किसी गाँव मे जाकर निवास करना है । क्या यही तुम्हारे गाँव मे मैं भी रह सकता हूँ ?"

वृद्ध ने उसके प्रश्न का उत्तर न देते हुए स्वय ही पुन प्रश्न किया—"पहले यह तो बताओ कि तुम्हारे गाँव के व्यक्ति कैसे है ?"

यात्री गुस्से से बोला—"सबके सब नीच और गँवार है । एक दिन भी वहाँ रहने की इच्छा नही होती ।"

वृद्ध व्यक्ति ने गम्भीरता से कुछ क्षण विचार किया और उत्तर दिया—"भाई, मेरे इस गाँव के व्यक्ति तो तुम्हारे गाँव के व्यक्तियो से भी बुरे, पूरे राक्षस है । एक दिन भी तुम्हे टिकने नही देंगे ।"

यह सुनकर यात्री क्रोध से भुन-भुनाता हुआ आगे चल दिया । पर सयोग-वश थोडी ही देर मे एक और व्यक्ति अपना सामान लिये हुए आया और उसी पेड के नीचे कुछ देर के लिए ठहर गया ।

वृद्ध व्यक्ति ने उससे भी उसके गाँव का नाम और यात्रा का कारण पूछ लिया ।

व्यक्ति ने बड़े विनय से अपने गाँव का नाम बताया और पूछा—"दादा ! क्या मैं आपके गाँव मे रह सकता हूँ ?"

वृद्ध व्यक्ति ने जब गाँव का वही नाम सुना जहाँ से पहला व्यक्ति आया था, तब उसने कुतूहलपूर्वक उस दूसरे यात्री से भी पूछ लिया—"क्यो भाई ! तुम्हारे गाँव के लोग कैसे है ?"

प्रश्न सुनकर आने वाले दूसरे यात्री की आँखो मे आँसू आ गये और वह गद्गद होकर बोला—"दादा ! मेरे गाँव के सभी लोग देवता स्वरूप है । उन्हे छोडकर आने मे मुझे अपार दु ख हुआ है, पर क्या करूँ रोजी-रोटी के लिए गाँव छोडना पडा है । जब कुछ समय मे यह समस्या हल हो जाएगी तो मैं पुन अपने गाँव मे उन सज्जन व्यक्तियो के साथ ही रहूँगा ।"

वृद्ध व्यक्ति ने यात्री की बात सुनकर पुन गम्भीरता से कुछ सोचा और तब बोला—"भाई ! तुम मेरे इसी गाँव मे चलकर जब तक इच्छा हो रहो, यहाँ के सब व्यक्ति तुम्हारा स्वागत करेगे और तुम्हारी रोजी-रोटी की भी कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य हो जाएगी ।"

बन्धुओ ! आप समझ गये होंगे कि यह उदाहरण हमे क्या बता रहा है ? इस लघुकथा मे कहा गया है कि दो यात्री एक ही गाँव से, एक ही उद्देश्य को

लेकर निकले थे। किन्तु अपने गाँव के व्यक्तियो के लिए दोनो के मन मे कितनी भिन्न धारणा थी ? एक ने गाँव के लोगो को नीच और गँवार वताया था, तथा दूसरे ने उन्हीं लोगो को देवता के समान उत्तम और सज्जन कहा था।

इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि स्वय के दोषपूर्ण एव दुर्जन होने के कारण पहले यात्री को गाँव के लोग दुर्जन और दुष्ट दिखाई देते थे तथा दूसरे यात्री को वे ही गाँव के निवासी सज्जन और उत्तम पुरुष लगते थे। लोग तो वही थे पर दोनो व्यक्तियो की दृष्टि मे अन्तर था ? पहले यात्री की दोष-दृष्टि थी और दूसरे की गुण-दृष्टि।

इसके अलावा जो दुर्जन था, उसने अपने दुर्गुणो से गाँव के लोगो को अपना दुश्मन वना लिया था और सज्जन व्यक्ति ने अपने गुणो से सभी को मोहित करके उन्हे हितैपी वनाया था। पर यह हुआ कैसे ? दोनो व्यक्तियो के शरीर और इन्द्रियो मे तो कोई अन्तर था नही, सभी कुछ समान था। वात केवल यही थी कि पहले वाले यात्री ने अपनी इन्द्रियो का और मन का दुरुपयोग किया था यानी उनसे लडने-झगडने तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि का काम लिया था, किन्तु दूसरे व्यक्ति ने अपनी उन्ही इन्द्रियो को और मन को प्रेम, सहानुभूति, सेवा, सहायता आदि शुभ-कार्यों मे प्रवृत्त किया था।

इसीलिए पहले व्यक्ति के लिए गाँव दु ख का धाम वना और दूसरे के लिए सुख का धाम। गाँव और गाँव के लोगो मे कोई अन्तर नही था, अन्तर था उन दोनो व्यक्तियो के विचारो मे और प्रवृत्तियो मे।

ठीक यही हाल इस मानव लोक का भी है। जो महापुरुष अपने मन को एव इन्द्रियो को वश मे करके उन्हे शुभ प्रवृत्तियो की ओर रखते हैं, वे इसी भूतल पर अपने सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष-धाम को प्राप्त कर लेते हैं और इसके विपरीत जो दुर्जन व्यक्ति इन्द्रियो को तथा मन को स्वतन्त्र छोडकर भोगो मे लिप्त रहते हैं और आत्मा के दु ख-सुख की फिक्र नही करते, वे इसी पृथ्वी को नरक वना लेते हैं तथा परलोक मे भी नरक या तिर्यंच गति प्राप्त करके सदा कष्ट पाते हैं। यह मानव-लोक इसीलिए महिमामय है कि जीव केवल मानव-शरीर धारण करके ही आत्म-साधना कर सकता है तथा कर्मों की निर्जरा करते हुए अपनी उत्कृष्ट करणी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मे भी समर्थ वन सकता है। अन्य किसी भी गति मे प्राणी ऐसा नही कर पाता। यहाँ तक कि जिस स्वर्ग की सभी कामना करते हैं उसमे जाकर और देव वन कर भी वह कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न नही कर सकता। वहाँ पर जीव केवल पूर्वोपार्जित पुण्यो के वल पर अपार सुख-भोग ही करता है और उन पुण्यो के समाप्त होते ही पुन ससार-चक्र मे घूमने लगता है।

कवि ने आगे लिखा है—

> निर्जरा तत्त्व आराध मुक्ति के कामी,
> वन गये देव पूजित त्रिलोक के स्वामी।
> सीखा है जिनने जीवन सफल विताना,
> कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।
> हे तात! वात अवदात सुनो यह मेरी,
> कर कर्म-चमू चकचूर हो रही देरी।
> निर्जरा भावना शुद्ध हृदय से भाते,
> वे पुरुप रत्न है लोकोत्तर सुख पाते।

इन पद्यो मे भी यही वताया गया है कि जिन महामानवो ने मानव जन्म की महत्ता समझ ली थी वे निर्जरा-तत्त्व की आराधना करके देव-पूज्य और त्रिलोक के स्वामी वन गये एव मोक्ष रूपी ठिकाने पर पहुँच चुके। न उन्हे पुन पुन· जन्म लेने की आवश्यकता रही और न मरने की।

आगे बडे मार्मिक शब्दो मे मानव को प्रेरणा दी है कि— "हे भाई! अव तो तुम मेरी बात मानकर कर्मो के इस पुज को नष्ट करने का प्रयत्न करो। देखो तुम्हारा जीव अनन्त-काल से चारो गतियो मे वार-वार जन्म लेकर असह्य दुख उठाता आ रहा है और इसके छुटकारे मे कितनी देरी होती जा रही है? अगर इस जीवन मे भी तुम नही चेत पाये तो फिर क्या होगा? फिर से न जाने कितने समय तक दुख उठाना पडेगा। इसलिए शुद्ध हृदय से सवर-मार्ग पर चलो और कर्मों का क्षय करके लोकोत्तर सुख की प्राप्ति करो ताकि वह सुख शाश्वत रहे।"

तो बधुओ! हमे और आपको कर्मों की निर्जरा मे जुट जाना है, साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि वह अकाम निर्जरा न रह जाय। मैं यह नही कहता कि आप तप नही करते। करते है, यह दिखाई देता है, किन्तु उसके पीछे भावना क्या होती है, यह आप स्वय ही समझ सकते है। इसलिए यह भली-भाँति समझ लीजिए कि आपकी तपस्या के पीछे किसी प्रकार की लोके-पणा या परलोकेपणा तो नही है? अगर आपके द्वारा इहलौकिक प्राप्ति या पारलौकिक प्राप्ति की इच्छा से तपस्या की जायेगी तो इच्छानुसार फल की प्राप्ति होना भी सभव है पर वह फल सीमित है अत अपनी तपस्या के फल को बाँधने का प्रयत्न नही करना है। तपस्या करना है निष्काम भावना से। तभी उसका कभी सीमातीत फल मोक्ष भी हासिल हो सकने की सभावना रहेगी।

यहाँ एक वात आपको वताना आवश्यक है कि तप से कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु तप का अर्थ आप केवल उपवास करना ही न समझें। तप वारह प्रकार का होता है। जिनमें से छः प्रकार का वाह्य तप कहलाता है और छः प्रकार का तप अतरग।

(१) वाह्य तप

शास्त्रों मे वाह्य तप के विषय मे वताया है—

"अणसण, मुणोयरिया, भिक्खायरियाय रस परिच्चाओ।
कायकिलेसो, सलीणया य, वज्झो तवो होई।"

(२) अन्तरग तप

"पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो।"

अर्थात्—वाह्य तप हैं—अनशन, उनोदरी, भिक्षाचरी, रस परित्याग, कायक्लेश एव प्रतिसलीनता।

तथा अन्तरग तप इस प्रकार है—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एव व्युत्सर्ग।

तो वधुओ, ये वारहों प्रकार के वाह्य एव आभ्यतर तप कर्मों की निर्जरा करते हैं। समय अधिक न होने से इन सभी के विषय मे विस्तृत रूप से नही वताया जा सकता, किन्तु आप यह भली-भाँति समझ ले कि जिस प्रकार ज्ञान-पूर्वक अनशन करके कर्मों की निर्जरा की जा सकती है, उसी प्रकार विनयभाव एव सेवा आदि करके भी कर्मों का क्षय किया जा सकता है। कोई भी तप एक-दूसरे से कम महत्त्व का नही है। महत्त्व की कमी-वेशी भावना पर निर्भर होती है। यथा—कोई मुमुक्षु अनशन या उपवास शारीरिक स्थिति के कारण नही कर सकता तो भी वह अपने कर्मों की निर्जरा स्वाध्याय, ध्यान, पापो का प्रायश्चित, विनय या सेवा करके भी निश्चय ही कर सकता है।

अत मे केवल इतना ही कहना है कि हमे ज्ञानपूर्वक तप करके कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए। किसी भी प्रकार के फल की इच्छा से किया गया तप हमारे असली उद्देश्य की प्राप्ति नही करा सकता और न ही मजवूरी से भोगा हुआ कष्ट भी निर्जरा का कारण वनता है।

जो भव्य प्राणी निर्जरा के सही स्वरूप को समझकर निष्काम भावना से अतरग एव वाह्य तप की आराधना करेंगे, वे ही इस लोक और परलोक मे सुखी वन सकेंगे।

२१

सोचो लोक स्वरूप को

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहिनो !

सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो मे से हम उन्चालीस भेदो का विवेचन कर चुके है। आज चालीसवाँ भेद 'लोक-भावना' को लेना है। लोक भावना बारह भावनाओ मे से ग्यारहवी भावना भी है।

इस भावना को भाने के लिए अधिक चिन्तन-मनन की आवश्यकता नही है अपितु समझने की आवश्यकता है कि लोक का क्या स्वरूप है या उसके कितने प्रकार है ? यह समझने से ज्ञात हो जाता है कि जीव अनतकाल से किस-किस लोक मे भ्रमण करता चला आ रहा है। लोक त्रिकाल, ध्रुव, नित्य एव शाश्वत है। जीव इसी मे, जैसा कि आगे बताया जायगा, ऊपर, नीचे और मध्य मे जन्म-मरण करता हुआ परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए लोक के विपय मे समझना आवश्यक है। इसके विषय मे जानने से और चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है, मन बाह्य विषयो से हटकर स्थिर हो जाता है तथा मानसिक स्थिरता के कारण आध्यात्मिक शाति और सुख की प्राप्ति होती है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि जहाँ छहो द्रव्य रहते है वह लोकाकाश कहलाता है और जहाँ जीव की गति नही होती, वह सम्पूर्ण स्थान महाशून्य या अलोकाकाश कहलाता है। उसके विषय मे कुछ भी जानने-समझने या चिन्तन करने की आवश्यकता नही है। अत हमे लोक के सम्बन्ध मे विचार करना है।

एक विद्वान कवि ने लोक के विपय मे लिखा है—

लोक अनादि अनन्त है, नर्तक पुरुषाकार,
ऊँचा चौदह राजु है, चेतन-कारागार।

जनम-जनम मरते यही, मर-मर पैदा होत,
फिर पैदा हो फिर मरे, जन्म मृत्यु का स्रोत।
है इस लोकाकाश के, सख्यातीत प्रदेश,
जन्म-मरण कर जीव ने, छुआ न कौन प्रदेश।
एक जगह पर जीव है, जन्मा वार अनन्त,
मरा अनन्तो वार है, कहते ज्ञानी सत।

पद्यो मे लोक के विषय मे बताया गया है कि यह अनादि है और अनन्त है। यानी कब इसका प्रारम्भ हुआ यह नही कहा जा सकता और अन्त कब होगा यह भी कोई नही जानता। स्पष्ट है कि अन्त कभी नहीं होगा।

उस लोक के सख्यातीत प्रदेश है और उन समस्त प्रदेशो को प्रत्येक जीव ने छुआ है तथा एक ही वार नही अपितु अनेक-अनेक वार छुआ है। अर्थात्—लोक के प्रत्येक प्रदेशो मे जीव अनन्तो वार जन्मा है और मरा है। यह लोक चौदह राजू ऊँचा है तथा आकार की दृष्टि से कमर पर हाथ रखकर नाचते हुए पुरुष के समान है। उस पुरुष के कमर से नीचे का भाग अधोलोक, कमर से ऊपर कठ तक का भाग मध्य लोक एव कठ से ऊपर का भाग उर्ध्वलोक कहा जा सकता है।

इस प्रकार लोक के तीन भाग है—(१) उर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक एव (३) अधोलोक। ये कहाँ हैं और इनमे कौन-कौन रहते है, इस विषय मे पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने भी अपने सुन्दर पद्य मे कहा है—

वेगे वेगे करे कहाँ सठाण आलोक लोक,
नीचे हैं नरक सात वेदना अपार है।
भौनपति तथा तिर्यकलोक मे व्यतर नर,
ज्योतिषी तिर्यंच द्वीप सागर विचार है।
ऊर्ध्वलोक कल्प अहमिंद्र अनुत्तर सुर,
सिद्ध शिला उर्ध्वदिश सिद्ध निराकार है।
करत सज्झाय ऐसी नमिराज रिषि भाई,
भावना तिलोक भावे सो ही लहे पार है।

कविश्री प्राणी को प्रतिबोध देते हुए कहते हैं—"अरे जीव! तू दिन-रात सासारिक कार्यो के लिए ही शीघ्रतापूर्वक दौड-धूप करता रहता है, पर जरा लोक के स्वरूप पर भी तो विचार कर जिससे समझ सके कि तुझे अन—

मे अब तक कहाँ-कहाँ गमनागमन करना पडा है और कितने-कितने कष्ट भोगने पडे है ?

(१) अधोलोक

लोक के स्वरूप को जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि अधोलोक मे सात नरक है। शास्त्रकार सदा प्रारम्भ मे अधोलोक का वर्णन करते है। हमारा शरीर भी ऐसा है कि जब पैर गति करेंगे तब शरीर आगे बढेगा। थोकडो मे चौबीस दडक आते है, उनमे पहला दडक नारकीय है।

तो सातो नरको मे अपार वेदना भोगनी पडती है। अपने पापो के कारण जब जीव उनमे जाता है तो वहाँ विद्यमान पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देव एव दस भवनपति असुर कुमार, नाग कुमार तथा सुपर्णकुमार आदि अत्यन्त क्रूर एव निर्दय असुर जीव को घोर या असह्य कष्ट पहुँचाते है। वे नारकीय शरीर को पारे के समान कण-कण के रूप मे पुन-पुन बिखेर देते है, असीम भूख और प्यास लगने पर भी अनाज का एक भी कण या पानी की एक बूँद भी नही देते, आपस मे बुरी तरह लडाते है तथा शरीर को क्षत-विक्षत कराकर आनन्दित होते है। इसके अलावा नरक की भूमि का तो स्पर्श भी हजारो बिच्छुओ के एक साथ डक मारने की वेदना के समान कष्टकर होता है। वहाँ के पेड भी ऐसे पत्तो वाले होते है, जो एक भी शरीर पर गिर जाये तो तलवार के समान शरीर को चीर डालता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधोलोक मे जीव नरको की घोर यातनाएँ सहता है। इसीलिए महापुरुष प्राणियो को बार-बार उद्बोधन एव उपदेश देते है कि पाप-कर्मो मे यानी आस्रव मे बचो तथा सवर और निर्जरा की आराधना करो। अन्यथा नरक गति मे जाना पड़ेगा और दीर्घकाल तक वहाँ से छुटकारा नही मिलेगा। नरक गति मे आयुष्य भी कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक होने पर तेतीस सागरोपम तक का होता है। क्या यह कम समय है ? हम तो वर्तमान काल मे अनुभव करते है कि ऐश-आराम और सुखो मे तो समय का पता नही चलता, किन्तु दु ख के समय मे एक-एक क्षण निकलना भी कठिन हो जाता है। तब फिर नरक मे हजारो वर्ष प्रतिपल असह्य दु ख मे बिताना जीव के लिए कितना कठिन होता होगा ? स्पष्ट है कि अत्यन्त कठिन और कष्टकर होता है, पर मानव इस बात को समझे तथा वीतराग की वाणी पर विश्वास करके नरक मे ले जाने वाले पाप-कर्मो से बचे, तभी सन्त-महापुरुषो का उपदेश सार्थक हो सकता है। भव्य पुरुष तो सन्त-समागम एव शास्त्रीय वचनो पर आस्था रखने के कारण अधोलोक के स्वरूप को समझकर ही भयभीत हो जाते

है तथा अपने जीवन को अशुभ से शुभ की ओर अविलम्ब मोड लेते है। किन्तु अभव्य या नास्तिक व्यक्ति सन्तो के उपदेशो से शिक्षा तो लेते नही, उलटे प्रश्नोत्तर करके उनका समय बर्बाद करते है। हमारे पास अनेक बार ऐसे व्यक्ति, जिनमे से अधिकांश नवयुवक होते है, आते है तथा व्यर्थ के कुतर्क करके हमारा और अपना समय नष्ट करते है। दुख की बात तो यह है कि वे कुतर्क करने मे भी अपनी बुद्धिमानी समझते है।

नरक तो सात ही है, तब फिक्र किस बात की ?

एक महात्मा जी किसी नगर मे पहुंचे और वहां के धर्म-परायण व्यक्तियो के अनुरोध मे उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। प्रवचन मे उन्होने कहा—"भाइयो ! आपने जब अनन्तानन्त पुण्यो के फलस्वरूप यह दुर्लभ मानव-जीवन पा लिया है तो उससे लाभ उठाओ। इसका लाभ आपको तभी मिलेगा जबकि आप सातो कुव्यसनो का त्याग करेंगे। मासाहार, मदिरापान, जुआ, वेश्यागमन, शिकार एव चोरी, ये सभी कुव्यसन महान् पाप-कर्मो का बन्धन करने वाले है और आत्मा को नरको मे ले जाने वाले है। इन व्यसनो मे से जो व्यक्ति एक को भी अपना लेता है, उसके पीछे अन्य व्यसनो की सेना भी चुपचाप आ जाती है तथा मनुष्य को धर दबोचती है।

महाकवि कालिदास ने यही बात राजा भोज को एक बार बडे मनोरजक ढग से समझाई थी। हुआ यह कि कालिदास ने एक बार भिखारी का वेश धारण किया और ऊपर से ऐसी कथडी ओढी, जिसमे हजारो बड़े-बडे छिद्र थे। ऐसे ही वेश मे वे राजा भोज के दरबार मे पहुच गये। भोज ने कवि को नही पहचाना और अत्यन्त साधारण भिक्षुक समझकर हंसते हुए कहा—"वाह भिक्षुक राज ! कथा तो तुमने बडी अच्छी ओढ रखी है ? कितने छेद है इसमे ?

भिक्षुक रूपी कालिदास ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"महाराज यह कथा नही, मछलियां पकडने का जाल है।"

"अरे ! तुम क्या मछलियां खाते हो ?" राजा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"हां, क्योकि शराब पीता हूं। शराब पीने पर मांस खाने की इच्छा तो होती ही है।"

"शराब भी पीते हो ?" भोज को बडा आश्चर्य हुआ। पर भिक्षुक ने तुरन्त उत्तर दिया—

"शराब तो पीनी ही पडती है, क्योकि मै वेश्या के यहां जाता हूं। भला आप ही बताइये ? वेश्या के यहां शराब न पीने पर कैसे चल सकता है ?"

बेचारे भोज के लिए भिक्षुक की बातें बड़ी विस्मयजनक भावित हो रही थी। उन्होने बड़े आश्चर्य से फिर भी पूछा—"तुम वेश्याओ के यहाँ जाते हो? पर उन्हे देने के लिए पैसा कहाँ से आता है तुम्हारे पास? बिना पैसे के वेश्या तो अपनी देहरी भी लाँघने नही दे सकती।"

भिखारी ने पूर्ववत् गम्भीरता से उत्तर दिया—"आपकी बात सच है। वेश्या बिना पैसे के अपने यहाँ नही आने देती, पर मैं जुआ खेलकर या चोरी करके पैसा भी तो ले आता हूँ।"

राजा भोज की आँखे तो मानो कपाल पर ही चढ गई। उन्होंने घोर आश्चर्य से कहा—"तब तो लगता है कि तुम मे सारे ही दुर्गुण एक के बाद एक करके इकट्ठे हो गये हैं।"

"हाँ महाराज! सत्य यही है कि एक दोष के आते ही दूसरे सम्पूर्ण दोष भी स्वय उसके पास आ जाते हैं। क्या आपने वह कहावत नही सुनी—"**छिद्रेष्वनर्था बहुली भवति।**" यानी—एक छेद मे बहुत से छेद तैयार हो जाते है, इसलिए हमे अपने आचरण मे एक भी दोष रूपी सुराख नही रहने देना चाहिए।

भिक्षुक के इस प्रकार कहते ही भोज ने अपने प्रिय कवि कालिदास को पहचान लिया और हँस पडे।

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि महात्मा जी ने अपने उपदेश मे लोगो से यही कहा कि जो व्यक्ति जीवन मे एक भी व्यसन अपना लेता है वह नेस्तनाबूद हो जाता है, तब फिर जो अज्ञानी व्यक्ति सातो ही व्यसन ग्रहण कर लेते हैं, उनको नरक के सिवाय और कहाँ स्थान मिलेगा?

महात्मा जी की यह बात सुनते ही श्रोताओ मे से एक व्यक्ति उठ खडा हुआ, जिसमे बताए हुए सभी व्यसन थे। वह पूछ बैठा—"महाराज, नरक कितने है?"

सन्त ने सहजभाव से उत्तर दिया—"सात।"

यह सुनकर वह व्यसनी पुरुष बोला—"तब ठीक है कि नरक सात ही हैं। अन्यथा मेरी तो चौदह नरक तक जाने की तैयारी की हुई है।"

मुनिराज ने कहा—"भाई! एक ही नरक का दुःख असहनीय है, तुम तो सातो नरको की परवाह नही करते। पर जब जीव वहाँ जाता है तब पता चलता है।"

वह व्यक्ति कुतर्की था अतः सत के उपदेश पर ध्यान न देते हुए फिर पूछ बैठा—"अच्छा महाराज! मान लीजिये कि नरक सात है और सभी एक-से

एक बढकर है यानी वहाँ घोर दुःख है। पर उनमे जाने वाले जायेंगे और दुःख भोगेंगे। किन्तु आप क्यो फिक्र करते है और क्यो उपदेश देते है ?"

संभवत ऐसे ही प्रश्नो के उत्तर मे संत तुकाराम जी ने कहा है—

उपकारासाठी बोलो हे उपाय, येण विण काय आम्हा चाड ?
बुडता हे जन, न देखवे डोला, ये तो कलवला म्हणोनि।
तुका म्हणे माझो देखनील डोले, भोग देते वैकठे येईल कलो।

संत कहते है—"भाई! हमे तुमसे कोई स्वार्थ नही है, न ही तुमसे कुछ लेना-देना है। हम तो केवल यही चाहते है कि परलोक मे तुम्हे कष्ट न भोगना पडे, इसीलिए तुम्हारी आत्मा की भलाई के लिए उपदेश देते हैं ताकि तुम शुभ कार्य मे प्रवृत्ति करो और आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढो।"

आगे कहा है—"जो व्यक्ति धर्म-साधना नही करेगा वह संसार-सागर मे गोते लगायेगा और यह हमसे देखा नही जाएगा। हमारी आत्मा जीवो के कष्ट मे अत्यन्त कलपेगी मात्र इसीलिए हम तुम्हे समझाते है।"

"यह निश्चय है कि अशुभ मे प्रवृत्त न होने वाला जीव शुभगति मे जायेगा अपने ज्ञान के द्वारा नरक एव तिर्यंच गति मे जो जीव होंगे उन्हे कष्ट पाते हुए देख सकेगा, इसीलिए हम तुम्हे समझाने का प्रयत्न करते है कि पाप-कार्यों को तथा कुव्यसनो को छोड दो ताकि हमे यह देखना न पडे कि तुम निम्न गति मे असहनीय दुःख भोग रहे हो।"

वस्तुत संत-महापुरुष इसी प्रकार अपनी आत्मा की भलाई करने के साथ-साथ अन्य प्राणियो की भलाई करने का भी प्रयत्न करते है और इस प्रकार आठ प्रकार की दया मे से 'स्व-दया' एव 'पर-दया' का पालन करते हैं। वे स्वय तो पाँच समिति तथा तीन गुप्ति, जिन्हें अष्ट प्रवचन रूपी माता कहा गया है, उसे अपनाकर अपने पांच महाव्रतो का रक्षण करते ही हैं, साथ ही श्रावको को भी बारह अणुव्रतो के पालन की प्रेरणा अपने सदुपदेशो से देते है जिससे अपने कल्याण के साथ-साथ अन्य व्यक्तियो का भी कल्याण हो सके। भले ही अणुव्रतो का पालन करने वाले संवर, निर्जरा और मोक्ष के मार्ग पर शनै-शनै बढेंगे, किन्तु सही मार्ग पर चलेंगे तो देर से ही सही पर मंजिल अवश्य मिलेगी। इसी उद्देश्य को लेकर वे पाप के गलत मार्ग पर चलने वाले अज्ञानी व्यक्तियो को संवर रूपी सही मार्ग बताते है तथा उस पर बढाने का प्रयत्न करते हैं।

तो बन्धुओ प्रसगवश कुछ आवश्यक बाते आपको बताई गई है जोकि अधो-

लोक या नरको से सम्बन्धित है। अधोलोक लोक का निचला हिस्सा है और जीव के लिए घोर कष्टो का प्रदाता भी है। उस लोक मे पहुँच जाने पर जैसा कि अभी मैने आपको बताया है जीव कम से कम भी दस हजार वर्ष तक घोर यातनाएँ सहता है और अगर पापो का विशाल पुज साथ ले गया तो तेतीस सागरोपम तक उसी प्रकार दुःख के सागर मे डूबा रहता है। इसलिए लोक के स्वरूप की जानकारी करते समय अधोलोक के विषय मे चिंतन करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि आत्मा को लोक के उस भयानक हिस्से मे जाने से बचाया जा सके। जो भव्य प्राणी वीतराग के वचनो पर विश्वास रखते हुए अधोलोक की भयकरता को समझ लेगे, वे ऐसी करणी स्वप्न मे भी नही करेंगे, जिसके कारण वहाँ जाना पडे।

(२) मध्यलोक या तिरछा लोक

यह मध्यलोक अधोलोक से ऊपर और ऊर्ध्वलोक से नीचे है तथा इसकी क्षेत्र मर्यादा अठारह सौ योजन की है। इस समतल भूमि मे नौ सौ योजन नीचे से लेकर नौ सौ योजन ऊपर तक। अब यह देखना है कि इस लोक मे कौन-कौन रहते है?

मैने अभी आपको बताया था कि अधोलोक मे दस प्रकार के भवनपति असुर एव पन्द्रह प्रकार के अम्ब एव अम्बरीष आदि परमाधार्मिक देवता उनके २० इन्द्र तथा नारकीय जीव होते हैं। पर मध्यलोक मे उनसे भिन्न प्राणी निवास करते है, जिनकी सख्या गणनातीत है।

तो इस मध्यलोक मे प्रथम तो मैं आपको यह बता दूं कि यहाँ पर निम्न जाति के सोलह प्रकार के देव होते हैं, जिन्हे वाणव्यन्तर कहा जाता है। वाण-व्यन्तरो मे पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर एव गन्धर्व आदि होते हैं जिनके बत्तीस इन्द्र भी रहते है। इनके अलावा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इन पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव जिनमे सूर्य तथा चन्द्र, इन्द्र कहलाते हैं। ये सभी इस मध्य या तिरछे लोक मे निवास करते हैं। भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि वाणव्यतर इस पृथ्वी पर जगलो मे, वृक्षो पर, झाडियो पर या सूने और टूटे-फूटे घरो मे रहा करते है।

इन सबके अलावा जैसा कि हम देखते है, यहाँ पर असख्य तिर्यंच एव मनुष्य अपना-आपना जीवन बिताते है। मध्य लोक मे असख्य द्वीप और असख्य सागर हैं। जिन्हे हम नही देख पाते किन्तु सर्वज्ञो ने कर-ककणवत् इन्हे देखा है तथा इनका वर्णन किया है।

(३) ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक मध्यलोक की इस समतल भूमि से नौ सौ योजन की ऊँचाई के बाद है। उसमें बारह देवलोक हैं। नौ लोकान्तिक और तीन किल्विषी। किल्विषी यानी पापी। आपके हृदय में आश्चर्य और सन्देह होगा कि देव बन जाने के बाद भी पापी कैसे? इसका कारण यही है कि उच्च करणी तो की किन्तु साथ में पाप भी किया। परिणाम यही हुआ कि देव बनने पर भी निम्न या हेय जाति के किल्विषी देव बने। हम देखते हैं कि मनुष्यों में ऊँची जाति के व्यक्ति भी होते हैं, तथा अस्पृश्य जाति के भी। इसी प्रकार लोकान्तिक देव-लोकों में उच्च जाति के देव होते हैं तथा किल्विषी निम्न जाति के। ऐसे देव स्वर्गों में हेय समझे जाते हैं तथा इनका जीवन बड़े निकृष्ट ढंग से बीतता है। ये लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और वैर-विरोध के कारण कर्म-बन्धन करते रहते हैं।

किल्विषी का परिणाम

आप प्रश्न करेंगे, किल्विषी देव बनने के क्या कारण होते हैं? जबकि वे उत्तम करणी करके देव बन जाते हैं फिर भी पापी तथा हेय क्यों कहलाते हैं?

इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्याय की एक गाथा में बताया गया है—

> **नाणस्स केवलीण, धम्मायरियस्स संघसाहूण।**
> **माई अवण्णवाई, किब्बिसिय भावण कुणइ ॥३६-२६६॥**

इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि—"नाणस्स यानी ज्ञान का, केवल-ज्ञानी प्रभु का, धर्माचार्य का, संघ का एवं साहूण अर्थात् साधुओं का अवर्णवाद बोलने वाला माई यानी मायावी व्यक्ति किल्विषिकी भावना का सम्पादन करता है।"

किल्विष का अर्थ कालिमा या कलुष होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में औरों की निन्दा, अपवाद या अवहेलना करने की भावना होती है उसे किल्विषी भावना वाला कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति 'श्रुत' की निन्दा करके ज्ञान की अवहेलना करता है, केवलज्ञानी की सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता आदि में शंकाएँ करता हुआ उनमें दोष बताता है, आचार्यों के अवगुण निकालता है तथा संघ की निन्दा करता हुआ साधु-साध्वियों की भी अवहेलना करता रहता है।

परिणाम यह होता है कि स्वयं अच्छी साधना या करणी करते हुए भी कपटपूर्वक ज्ञानियों की, केवलियों की, आचार्यों की, संघ की तथा साधु-साध्वियों

की निन्दा, अवहेलना तथा अपवाद करने के कारण वह अपनी आत्मा को किल्विष युक्त तथा अवगुणो का घर बना लेता है और मरने के पश्चात् किल्विष जाति का देव बनता है जो कि अन्य स्वर्गीय देवो के सामने चाण्डाल के समान निंद्य एव हेय माना जाता है। ऐसे नीच माने जाने वाले देव देवलोको के बाह्यवर्ती स्थानो मे रहते है तथा वहाँ का आयुष्य समाप्त करके मूक तिर्यंच प्राणी बनते है।

आपने भगवान महावीर के जामाता जमाली मुनि के बारे मे सुना ही होगा। वे स्वय तो करनी करते ही थे, किन्तु भगवान महावीर की, उनके ज्ञान एव सर्वज्ञता की घोर निन्दा करते थे। ऐसे व्यक्ति ही अपनी तपस्या के कारण देवगति प्राप्त करके भी अपनी किल्विष भावना के कारण चाण्डाल के समान किल्विषी देवता बनते है। साधना करते हुए भी कपट रखना तथा ज्ञान, भगवान, धर्माचार्य, सत तथा साधु की निन्दा करना किल्विषी होने के लक्षण है।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि बारह देवलोक तक देव और इन्द्र रहते है और उससे ऊपर अहमिन्द्र। उनसे ऊपर पाँच विमान और फिर सिद्धशिला स्थित है। इन सबको उलाँघ जाने वाला जीव जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। नृत्य करते हुए मानवाकार लोक के ऊपरी हिस्से मे कपाल का स्थान सिद्धशिला कहलाता है तथा उसके ऊपर निराकार भाग है। इस प्रकार अधोलोक मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक का स्वरूप वर्णन किया जाता है।

तीनो लोको मे उत्तम कौनसा है ?

बन्धुओ ! अभी हमने लोक के तीनो अगो का स्वरूप समझा है। पर केवल उनकी रचना, क्षेत्र या उनमे कौन-कौन रहते है यह जान लेने मात्र से ही हमारा विशेष लाभ नही है। लाभ हमे तभी हासिल हो सकता है जबकि हम उन तीनो लोको के स्वरूपादि को समझकर आत्मा को इन तीनो से ऊपर मुक्ति-धाम मे पहुंचाएँ। हमे यही जानना है कि कौनसा लोक ऐसा है, जिसमे रहकर हम अपने उस उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करते है ?

तीनो लोको के स्वरूपो को जानने के लिए अभी हमने अधोलोक को लिया था, जिसमे नारकीयो, असुरो और परम-अधर्मी देवो का निवास है। मैं जानता हूँ कि आपमे से एक भी व्यक्ति नारकीय जीवन को स्वप्न मे भी अपनाना पसन्द नही करेगा। यह ठीक भी है, भला नारकीय बनना किसे पसन्द आ सकता है? यही बात वहाँ रहने वाले भवनवासी या परमाधर्मी देवो की। भले ही वे देव कहलाते है, किन्तु वैसे देव बनने मे भी कौनसा लाभ है ?

रहने

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

> अणुबद्धरोसपसरो,
> तह य निमित्तम्मि होई पडिसेवि ।
> एएहि कारणेहि,
> आसुरियं भावण कुणइ ॥ ३६-२६७॥

अर्थात्—निरन्तर अपार क्रोध करने वाला और निमित्तादि का शुभाशुभ फल बताने वाला आसुरी-भावना को उत्पन्न करता है ।

गाथा का भावार्थ यही है कि हर समय क्रोध करना तथा शुभाशुभ फल के उपदेश में प्रवृत्त रहना आसुरी भावना का द्योतक है । जो व्यक्ति इस प्रकार की आसुरी भावना निरन्तर रखता है तथा अन्त तक भी अपने पापों की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह विराधक होता है । ऐसा जीव मृत्यु के पश्चात् नरक में असुर बनता है । असुर देव कहलाते हुए भी ऊँचे स्वर्गों के वैमानिक देवों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं । उनका काम नारकीय जीवों को घोर दुःख पहुँचाना होता है ।

नारकीय जीवों के लिए 'छहढाला' पुस्तक में कहा है—

> तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचण्ड ।

प्रथम तो नारकीय जीव ही आपस में कुत्तों के समान लड़ते हैं और एक-दूसरे के शरीर के तिल के जितने-जितने टुकड़े कर देते हैं । पर उनके शरीर पारे के समान पुनः जुड़ जाते हैं । आगे कहा है—अत्यन्त दुष्ट एवं क्रूर भावना रखने वाले असुर जाति के देव भी पहले, दूसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर नारकीयों को अपने अवधिज्ञान के द्वारा आपसी वैर की याद दिलाकर बुरी तरह लड़ने के लिए भिड़ा देते हैं और स्वयं उन्हें लड़ते हुए देखकर आनन्दित होते हैं ।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि नारकीय बनना तो महान दुर्भाग्य है ही, साथ ही वहाँ पर भवनवासी असुर या परम-अधर्मी देव बनना भी निकृष्ट है । दूसरे शब्दों में अधोलोक स्वप्न में भी वाञ्छा करने लायक नहीं है ।

इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक का भी हाल है । भले ही साधना करके देवगति का बंध कर लिया, किन्तु साथ में किल्विष भावना रहने के कारण कपटपूर्वक ज्ञान, ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ एवं साधु-साध्वी की निन्दा, आलोचना या अवहेलना की तो वहाँ भी चाण्डाल के समान देव बने और अगर पुण्य के जोर मारा तथा ऊपरी स्वर्गों में देवयोनि प्राप्त कर भी ली तो लाभ केवल यही हुआ कि जब तक वहाँ का आयुष्य रहा भोगों को भोगने में पूर्व पुण्यों को तो समाप्त कर लिया

पर नया उपार्जन रचमात्र भी नही किया अर्थात् मूल पूंजी बैठे-बैठे खा गये, नया एक पैसा भी नही कमाया। फल यह हुआ कि दिवालिया वनकर फिर नीचे उतर आये और हाथ-पैर मारने लगे।

मेरी इस बात से आप समझ गये होगे कि जीव का स्वर्ग मे पहुँच जाना या उच्च देवलोको मे देव वन जाना भी कोई महत्त्व नही रखता। सिवाय सचित पुण्यो को समाप्त करने के वह आत्मा की भलाई के लिए वह वहाँ पर कुछ भी नही कर सकता। इसलिए स्वर्ग की इच्छा करना भी व्यर्थ है।

अव हमारे सामने तिरछालोक या मध्यलोक आता है। आप अवश्य ही समझते है कि मध्यलोक—अधोलोक और उर्ध्वलोक से उत्तम है। किन्तु यह भी समझ लीजिए कि मध्यलोक मे जन्म लेने वाले सभी प्राणी इसकी उत्तमता का लाभ नही उठा सकते। इस मध्यलोक मे असख्य तिर्यंच प्राणी है। वे नारकीयो के समान ही कष्टकर जीवन व्यतीत करते हैं। हिसक पशु अन्य जीवो को मारकर खाते है और निरीह प्राणी मौत के घाट उतरते हैं। घोडे, बैल, गधे आदि शक्ति से अधिक भार वाहन करके और ऊपर से मार खा-खाकर अधमरे बने रहते हैं। इन सबके अलावा यहाँ वाणव्यतर देव, यक्ष, राक्षस, भूत एव पिशाच आदि भी है जो अपनी निम्न करणी या अन्य किन्ही पापो के कारण या तो अन्य प्राणियो को सताते फिरते है या उद्देश्य-हीन भटकते है। अपनी आत्मा की भलाई यानी उसे कर्म-मुक्त करने के लिए वे कुछ नही कर सकते।

अव वचे मनुष्य। मनुष्यो मे भी सभी आत्म-कल्याण का प्रयत्न नही कर पाते। असख्य मनुष्य तो जन्म से ही गूंगे, वहरे, अपग या रोगी होते है, असख्य ऐसे होते है जो अनार्य कुल, क्षेत्र या जाति मे उत्पन्न होने के कारण जीवन भर धर्म किस चिडिया का नाम है यह नही जान पाते। अनेक ऐसे भी होते है जो कि अच्छे कुल या क्षेत्र मे जन्म लेने पर भी सत्सगति के अभाव से धर्म के मर्म को नही समझते।

इस प्रकार वहुत थोडे व्यक्ति ही ऐसे मिलते है जो मनुष्य-जीवन को लाभान्वित करने का मार्ग सन्तो के समागम से या शास्त्रीय वचनो से जान लेते है, उस पर विश्वास करते है और विश्वास करने के पश्चात् आचरण मे भी उतारते है।

'छहढाला' मे वताया गया है—

> यह मानुप पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवाणी,
> इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यो उदधि समानी।

कहा गया है कि—यह मानव-जीवन, उत्तम कुल और जिन वचनों के श्रवण का सुयोग बीत जाने पर पुनः-पुनः नहीं मिलते, जिस प्रकार समुद्र में गिरा हुआ रत्न पुनः हाथ में नहीं आता।

इस बात को वे ही व्यक्ति समझ पाते हैं जो सन्तों के द्वारा वीतराग-प्ररूपित वचनों को सुनते हैं। सन्त-महात्मा किसी से धन-पैसा नहीं लेते और न ही किसी तरह की स्वार्थ-भावना उनके हृदय में रहती है। वे प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा भाव होने के कारण सदुपदेश देते हैं और उन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए भव्य प्राणी उनके समागम से प्रसन्न होता है तथा अपनी आत्मा के लिए हितकारी प्रेरणा ग्रहण करता है। कहा भी है—

धुनोति दवथुं स्वान्तात्तनोत्यानन्दथुं परम्।
धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधु-समागमः॥

—आदिपुराण, ९-१९०

अर्थात्—साधु-पुरुषों का समागम मन के सन्ताप को दूर करता है, आनन्द की वृद्धि करता है और चित्तवृत्ति को सन्तोष देता है।

किन्तु बन्धुओ, इस संसार में सभी मनुष्यों की विचारधारा समान नहीं होती। किन्हीं को त्याग-तपस्या से आत्मिक सुख हासिल होता है और किन्हीं को सांसारिक सुखोपभोगों में। इसी प्रकार कोई सन्त-महात्माओं की संगति में रहना पसन्द करता है और कोई कुव्यसनधारी दुर्जन व्यक्तियों का साथ करता है।

सन्त तुकाराम जी ऐसे मूर्ख और दुराचारी व्यक्तियों को ताड़ना देते हुए कहते हैं—

साधु दर्शना न जासी गवारा,
वेश्येचिया घरा, पुष्पे नेसी।
वेश्यादासी मुरली जगाची ओंगली,
ती तुज सोवली-गोड कैसी?
तुका म्हणे काही लाज धरी लुच्च्या,
टाचराच्या कुच्या भारा वेगी॥

यानी—"अरे गँवार! तू सन्त-महात्माओं के यहाँ अथवा मन्दिर में देव-दर्शनों के लिए तो जाता नहीं है पर वेश्या के यहाँ फूल लेकर चल देता है जो कि दुनिया के लिए अमंगल स्वरूप और मनुष्य के जीवन को ही सर्वथा निर्धन कर देने वाली होती है।

आगे कुछ और भी कडे शब्दो मे कहते है—"रे लुच्चे दुराचारी ! कुछ तो लज्जा रख, अन्यथा लोग तुझे ठोकरो से मारकर एक ओर कर देंगे।"

कहने का अभिप्राय यही है कि अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति जो कि लोक के स्वरूप को नही जानते और तीनो लोको मे प्राप्त होने वाले घोर दु खो के या अल्पकालीन मिथ्या सुखो की वास्तविकता नही समझते, वे अकरणीय कार्य करते है और करणीय के समीप भी नही फटकते। अपने अज्ञान या मिथ्याज्ञान के कारण ऐसे व्यक्ति सद्गुणो का सग्रह करने की बजाय दुर्गुणो मे आनन्द मानते है और उनके अनुसार पाप-कार्यों मे प्रवृत्त रहकर अपना परलोक बिगाड लेते है।

इस प्रकार के दुर्जनो को साधु-पुरुष येन-केन-प्रकारेण सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते है। कभी वे दुर्गुणी व्यक्तियो को स्नेहपूर्वक समझाते है, न समझने पर ताडना देते है और कभी-कभी चतुराई से उलटी बातो के द्वारा भी उन्हे सीधा रास्ता बताते है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

महात्माजी की बुद्धिमानी से व्यसन छूटे !

किसी गाँव मे एक धनी और सब तरह से सम्पन्न व्यक्ति रहता था। उसके एक ही लडका था अत. अधिक लाड-प्यार पाने के कारण वह कुव्यसनो मे पड गया। परिणाम यह हुआ कि मद्य, मांस तथा वेश्या-गमन आदि भयानक व्यसनो का उसके शरीर पर कुप्रभाव हुआ और वह बीमार हो गया।

पिता के पास धन की कमी तो थी नही, अत उसने अनेक वैद्यो और हकीमो का इलाज कराया तथा कीमती दवाओ का सेवन कराया। किन्तु उन सबका कोई फल नही मिला अर्थात् लडके की बीमारी ठीक नही हो सकी।

बेचारा बाप इकलौते बेटे की चिन्ता के कारण घुला जा रहा था कि उस गाँव मे एक दिन सत-प्रकृति के एक वैद्यजी आये। धनी व्यक्ति ने उन्हे भी बुलाया और अपने पुत्र की बीमारी के विषय मे बताया। वैद्यजी सत थे और नि स्वार्थ भाव से दवा आदि दिया करते थे। स्वय उनका जीवन बडा सयमित, त्यागमय एव साधनापूर्ण था। लडके को देखकर वे जान गये कि इसकी हालत कुव्यसनो के कारण बिगडी है और जब तक उन्हे नही छुडाया जायेगा, कोई दवा कारगर नही हो सकेगी। अत मन ही मन विचार करके उन्होने रोगी को पहले कुछ साधारण औषधि प्रदान की।

लडके की बुरी आदतें छूटी नही थी अत उसने पूछा—

"महाराज ! मुझे पथ्य परहेज क्या रखना पडेगा ? वह सब मेरे लिए बडा कठिन है।"

वैद्यजी ने शाति से उत्तर दिया—"डरो मत, मेरी दवा लेते समय तुम्हे कोई व्यसन छोडना नही पडेगा ।"

लडका यह सुनकर बडा प्रसन्न हुआ और दवा लेने लगा । परहेज तो कोई था नही अत मदिरा-मासादि नशीली चीजो को भी वह काम मे लेता रहा । वैद्यजी ने भी कुछ नही कहा और धैर्यपूर्वक दवा देते रहे ।

एक दिन अचानक ही बीमार लडके ने महात्माजी, जो कि बडे अनुभवी चिकित्सक भी थे, उनसे पूछा—"अब तक जितने वैद्य-हकीम आये, सब मुझे शराब आदि व्यसन छोडने के लिए कहते रहे अत मुझे चोरी-चोरी उन्हे लेना पडा । किन्तु आप तो बहुत अच्छे वैद्य है कि मुझे कुछ भी छोडने के लिए नही कहते । पर मै सोचता हूँ कि आपने मुझे व्यसन छोडने के लिए क्यो नही कहा ?"

अब सुन्दर सुयोग पाकर महात्मा जी ने कहा—"बेटा ! व्यसन तो बहुत लाभकारी होते है इसीलिए मैंने तुमसे उन्हें छोडने के लिए नही कहा ।"

लडका चकित हुआ और बोला—"व्यसन लाभकारी होते है वह कैसे ? मुझे तो यह बात आज तक किसी ने नही बताई । सभी उन्हे बुरा-बुरा कहते है । आप ही बताइये कि इनमे कौन-कौन से लाभ या गुण है ?"

वैद्यजी बोले—"भाई ! शास्त्रो मे व्यसनो के चार गुण बताये गये है । जो मनुष्य व्यसनी एव नशेबाज होता है उसके यहाँ एक तो चोर नही आते, दूसरे शरीर मोटा-ताजा हो जाता है, तीसरे उसे पैदल नही चलना पडता और चौथा सबसे बडा लाभ यह है कि उसे वृद्धावस्था का दुख ही नही उठाना पडता ।"

बीमार लडका महात्माजी की ये बाते सुनकर और भी अधिक चकित हुआ और आश्चर्य से पूछने लगा—"महात्मा जी ! ये चारो लाभ किस प्रकार होते है, जरा समझाकर बताइये ।"

वैद्यजी बोले—"देखो ! जो व्यक्ति नशा करता है उसे खाँसी का ऐसा महान् रोग हो जाता है कि रातभर खाँसते रहने से चोर यह समझकर घर मे नही घुसते कि कोई व्यक्ति जाग रहा है । दूसरे व्यसनी का शरीर सूजन से फूल जाता है अत वह खूब मोटा-ताजा दिखाई देता है । तीसरा लाभ इस प्रकार है कि नशेबाज की शारीरिक शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह चल ही नही पाता अत उसे पैदल नही चलना पडता और चौथा या सबसे बडा लाभ यही

है कि उमकी मृत्यु युवावस्था मे ही हो जाती है अत वृद्धावस्था का दु ख नही भुगतना पडता ।"

वैद्यजी की यह बात सुनते ही लडके को तो मानो काठ मार गया । कुछ ममय स्तब्ध रहकर वह बोला—"महात्माजी ! मैं आपकी चतुराई एव बुद्धिमानी का कायल हो गया हूँ कि आपने कितने सुन्दर ढग से मुझे व्यसनो की भयकरता तथा उनसे होने वाले दुष्परिणामो के विषय मे समझाया है । आज से मै मभी व्यसनो का सर्वथा त्याग करता हूँ ।"

महात्माजी लडके की बात सुनकर बडे सन्तुष्ट हुए और आशीर्वाद देते हुए उसे दवा दी । जिसका सेवन करके वह कुछ दिनो मे ही पूर्ण स्वस्थ हो गया ।

बन्धुओ ! सन्त-पुरुष इस प्रकार भी लोगो को सत्पथ पर लाते है । जैसा कि अभी मैंने कहा था साधु-पुरुष कुमार्गगामी व्यक्तियो को स्नेह से उपदेश देते हुए समझाते है, कभी भर्त्सना करके भी सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करते है और आवश्यकता होने पर बुद्धिमानी से भी लोगो के दिल बदलने की कोशिश करते है । यह सब वे पूर्ण निस्वार्थता एव करुणा की भावना से करते है । कोई भी लोभ, लालच या स्वार्थ उनके हृदय मे नही होता ।

इसीलिए शास्त्रो मे कहा गया है—

"कुज्जा साहूहिं सथव ।"

अर्थात्—हमेशा साधुजनो के साथ ही सस्तव अर्थात् सम्पर्क रखना चाहिए ।

वस्तुत साधु-पुरुष ही मानव को लोक के सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन कराते है, उनमे प्राप्त होने वाले दु खो के विषय मे बताते है तथा उसे इस ससार से यानी तीनो लोको से ऊपर मुक्तिधाम मे पहुँचाने का तप, त्याग, साधना एव धर्ममय मार्ग सुझाते है ।

प० दौलतराम जी ने भी लोक भावना का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए यह बताते हुए कहा है—

किनहू न करौ न धरै को पड्द्रव्यमयी न हरै को ।
सो लोक माहि बिन ममता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ।।

भव्य पुरुष को विचार करना चाहिए कि—"इस लोक को जैसा कि अन्य मतो मे कहा जाता है, ब्रह्मा आदि किसी ने नही बनाया है, शेषनाग आदि ने अपने ऊपर टिका भी नही रखा है तथा महादेव आदि किसी के द्वारा नष्ट भी नही किया जा सकता है ।"

"यह षट् द्रव्यमय लोक स्वयं से ही अनादि अनन्त है तथा सभी द्रव्य स्व-स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अपनी पर्यायों में उत्पाद एवं व्यय रूप परिणमन करते रहते हैं। किसी द्रव्य का दूसरे में अधिकार नहीं है, ऐसा यह लोक मुझसे भिन्न है, मैं भी उससे भिन्न हूँ। मेरा स्वरूप तो शाश्वत चैतन्य लोक है। समता या वीतरागता के अभाव में जीव कर्म-बन्धन करता हुआ तीनों लोकों में भ्रमण करता रहता है तथा नाना प्रकार के दुःख भोगता है। इसलिए मुझे इस दुःखमय लोक से मुक्त होना है तथा शुभ करणी करके शिवलोक में शाश्वत आनन्द प्राप्त करना है।"

जो भव्य प्राणी इस प्रकार 'लोक-भावना' भाते हैं, वे निश्चय ही अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके पाँचवीं गति या मोक्ष-लोक को हासिल करते हैं। कहा भी है—

विषयों से कर विमुख मन, करो सदा शुभ ध्यान।
सोचो लोक स्वरूप को पाओ पद निर्वाण॥

०

२२

हे धर्म ! तू ही जग का सहारा

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव बहनो !

हमारा विषय सवर तत्त्व के सत्तावन भेदो को लेकर चल रहा है और उनमे से चालीस भेदो पर विवेचन किया जा चुका है । आज इकतालीसवे भेद को लेना है जो कि 'धर्म-भावना' है । यह भावना वारह भावनाओ मे से ग्यारहवी है तथा आत्मा का उद्धार करने वाली है ।

आप जानते हैं कि धर्माचरण से जीवात्मा कर्म-मुक्त होता है, किन्तु धर्माचरण से पहले धर्म-भावना अन्तर्मानस मे आनी चाहिए, तभी वह धीरे-धीरे आचरण को धर्ममय वना सकेगी । उदाहरणस्वरूप वृक्ष मे पहले फूल आते हैं और तव फल होते हैं । पर वडी गम्भीरता से विचार किया जाय तो एक वडी महत्त्वपूर्ण वात सामने आती है कि वृक्ष मे जितने फूल लगते हैं, उतने फल नही लगते क्योकि हवा के झोको से या किसी भी प्रकार के साधारण आघात से ही अनेक फूल झड जाते हैं । इसके पश्चात् जितने फूल, फल मे परिणत होते हैं वे भी सभी नही पक पाते, क्योकि अनेक प्रकार के पक्षी या गिलहरी आदि जानवर कच्चे फलो को खाते है या कुतर-कुतर कर पेड से गिरा देते है ।

यही हाल धर्माचरण का भी होता है । धर्माचरण फल है और धर्म-भावना फूल, जिसके पहले आने पर ही आचरण रूपी फल प्राप्त होता है । भले ही अनेक वार धर्म-भावना रूपी फूल आने पर भी आचरण रूपी फल हासिल नही हो पाता, क्योकि भावना मिथ्यात्व, प्रमाद, कुसग या सन्देह के कारण वदल जाती है या मिट जाती है, पर फल हासिल तो तभी होगा, जवकि भावना रूपी फूल पहले होगा ही ।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को धर्माचरण से पहले धर्म-भावना का चिन्तन करना चाहिए और उसके मानस मे उत्पन्न हो जाने पर कषाय एव मिथ्यात्व

आदि जन्तुओं से उसे बचाकर सुरक्षित रखना चाहिए। यह भी ख्याल रखना चाहिए कि अज्ञान के झोंके उसे आत्मा से पुनः अलग न कर दें तथा अविश्वास एवं शंका रूपी कीड़े पकने से पहले ही फल को खोखला न बना दें।

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने धर्म-भावना के विषय में लिखा है—

> अहो चिदानन्द परछन्द बन्ध भयावह
>
> देख तू सिद्धान्त सदवद दुखदायी है।
>
> देव गुरु धर्म तीन, निश्चय व्यवहार चिह्न,
>
> समकित सत्य बिन नाम ये भराई है॥
>
> यह सन्त सार यार तजे सो कुवार होई,
>
> एक बार फसे से तो निश्चय बुराई है।
>
> आदिश्वर नन्द सुखकंद भाई भावना को,
>
> कहत तिलोक भावे सोही मुक्ति जाई है॥

कविश्री पद्य में बड़ी मार्मिकता से अपनी आत्मा को ही समझाते हैं और यही महानता का लक्षण है। हम देखते ही हैं कि इस संसार में लोग अपने अवगुण नहीं देखते, औरों के देखते हैं। स्वयं को उपदेश नहीं देते, दूसरों को देने के लिए तैयार रहते हैं।

संस्कृत में कहा भी है—

"परोपदेशे पाण्डित्यम् सर्वेषाम् सुकरं नृणाम्।"

यानी—दूसरों को उपदेश देने में पाण्डित्य का प्रदर्शन करना मनुष्यों के लिए बड़ा सरल है।

वस्तुतः औरों को शिक्षा देने का जहाँ सवाल है, वहाँ मनुष्य नहीं चूकता। फौरन और बातें नीति के रूप में कह देता है। जैसे—"दान दो, शील पालो, तप करो, इत्यादि इत्यादि।" किन्तु अगर उन्हीं बातों को स्वयं करने का प्रसंग आ जाता है तो धन पर आसक्ति होने के कारण वह खर्च नहीं किया जाता, मन पर वश न होने से शील नहीं पाला जाता और शरीर को कष्ट होता है इसलिए तपाचरण नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि औरों को उपदेश देना सरल है पर उस उपदेश को स्वयं अपने आचरण में उतारना कठिन है।

किन्तु संसार के सभी मानव एक सरीखे नहीं होते। कुछ ऐसे महामानव होते हैं जो औरों को उपदेश देने से पहले उसे अपने जीवन में उतारते हैं।

दूसरे शब्दो मे जब वे अपने जीवन को दोष-रहित बना लेते हैं, तब औरो को दोषो या दुर्गुणो का त्याग करने के लिए कहते है।

पूज्यश्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ही ऐसे महापुरुष थे। वे अपनी आत्मा से ही कहते है—"हे आत्मन् ! तू अपनी ओर देख तथा अपने स्वरूप की पहचान कर। दूसरा क्या करता है, उस ओर तुझे देखने की आवश्यकता ही क्या है ? तेरी आत्मा ही तुझे ससार-सागर मे डुबोने वाली है और वही इससे पार उतारने वाली भी है।"

आगे कहा है—"दूसरो के स्वभाव-धर्म को पकडना छन्द है, तकलीफ देने वाला है। यहाँ जानने की आवश्यकता है कि 'स्व-धर्म और 'पर-धर्म' क्या है ? स्व-धर्म है अपनी आत्मा मे रहा हुआ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तथा शक्ति, सतोष एव सरलता आदि और पर-धर्म है क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एव द्वेष आदि।"

तो निज-धर्म को छोडकर पर-धर्म को अपनाना अत्यन्त हानिकर एव भयावह है। भगवद्गीता मे तो यहाँ तक कहा गया है कि—

"स्वधर्मे निधनं श्रेय· परधर्मो भयावह·।"

अर्थात्—निज-धर्म मे रमण करते हुए तो मरण भी श्रेयस्कर है किन्तु पर-धर्म को अपनाना उससे कई गुना भयानक एव कष्टकर है।

उदाहरणस्वरूप स्व-धर्म मे रमण करने वाले प्राणी ससार-सागर से तैर गये, किन्तु पर-धर्म को ग्रहण करने वाले आज भी कुख्यात है तथा निन्दा के पात्र बनकर स्मरण किये जाते है। यथा—पूर्वजन्म मे मुनि होने पर भी क्रोध के कारण उनका जीव चण्ड कौशिक सर्प बना, उस योनि मे नाना यातनाएँ सही और आज भी किसी क्रोधी को उपमा देने के लिए चण्डकौशिक सर्प को याद किया जाता है।

मान के कारण रावण, दुर्योधन और दु शासन की क्या दशा हुई थी इसे आप अच्छी तरह जानते ही है। वे लोग निन्दा और धिक्कार के ऐसे पात्र बने कि प्रात काल उनका नाम लेना भी कोई पसन्द नही करता और न ही कोई भूलकर भी अपने बच्चो का रावण, कस या दुर्योधन नाम ही रखता है।

इसी प्रकार माया या कपट का हाल है। 'सत्यकोष चरित्र' मे वर्णन है कि कपट के कारण गोबर खाया गया, फिर भी सत्य बाहर आ ही गया। चौथा कषाय लोभ है। लोभी व्यक्ति की दुर्दशा भी हम आये दिन देखते रहते है। इसी जीवन मे और अगले जीवन मे तो उनका भगवान ही मालिक होता है।

चाहूँ तो क्षण भर मे ही इसके एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँच जाऊँ। उस सिंह के बच्चे के समान जो कि तब तक भेडो के साथ खूंटे से वँधा रहा, जगलो मे भटकता रहा और गडरिये की मार खाता रहा, जब तक कि दूसरे सिंह को देखकर उसे अपनी शक्ति का भान नही हुआ।

पद्य मे कवि इसीलिए अपनी आत्मा को जगाने का प्रयत्न करते है तथा अन्य महापुरुष और सत-महात्मा भी प्राणियो को अपनी आत्म-शक्ति का भान उपदेशो के द्वारा कराने की कोशिश करते है। पर जो भव्य-प्राणी होते है वे उस सिंह के बच्चे के समान जो एक ही गर्जना से अपनी शक्ति को पहचान गया था, तनिक से उपदेश से ही चेत जाते है पर बाकी अनेक मनुष्य जीवन भर उपदेश सुनकर भी अपनी आत्मा मे छिपे हुए महान् गुणो को तथा उनकी शक्तियो को नही जान पाते। ऐसा इसीलिए होता है कि वे आत्म-धर्म को जानने के बजाय पर-धर्म के पीछे दौडते हैं।

पूज्य महाराज श्री आगे कहते है—"अरे आत्मन्! अगर तू अपना भला चाहता है तो सच्चे देव, सच्चे गुरु एव सच्चे धर्म को समझ, निश्चय एव व्यवहार को पहचान तथा भली-भाँति समझ ले कि सच्चे सम्यक्त्व के बिना तू नाम का ही मानव है, मनुष्य-जन्म को सार्थक करने की योग्यता तुझमे नही है।

सच्चे देव

इस ससार मे हम देखते है कि देवताओ की कमी नही है। सभवत तेतीस करोड देवी-देवताओ को लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करते है। अब इन सबमे से सच्चे देव कौन से हैं यह पहचान करना बडा कठिन है।

किसी ने कहा है—

> जगत के देव सब देखे, सभी को क्रोध भारी है,
> कोई कामी कोई लोभी, किसी के सग नारी है।

वस्तुत सच्चे देव की पहचान करने के लिए गम्भीर चिंतन की आवश्यकता है। देखा जाता है कि अनेक देवो की मूर्तियाँ अपनी पत्नी सहित होती है। शिव के साथ पार्वती, कृष्ण के साथ राधा, विष्णु के साथ लक्ष्मी और राम के साथ सीता रहती है। तो जो देव नारी के मोह से स्वय को नही छुडा पाते, वे भला वीतराग कैसे माने जा सकते है? इसी प्रकार किसी देव के साथ मुद्गर या गदा रहती है, जिससे साबित होता है कि उन्हे अपनी शक्ति का गर्व है और किसी पर क्रोध आ जाये तो वे उसका नाश कर सकते है। शीतला देवी या महाकाली के प्रकोप से लोग कितना डरते है, यह हम आये दिन देखते

कहलवाने लगते हैं। पर सोचा जाय कि उनमे गुरु बनने के लक्षण है या नही तभी पहचान हो सकती है और वे सच्चे गुरु कहला सकते है।

योगशास्त्र मे गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये है—

महाव्रतधरा, धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मतः॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह, इन पाँचो महान्-व्रतो का पालन करने वाले, धैर्यवान, शुद्ध भिक्षा से जीवन-निर्वाह करने वाले, सयम मे स्थिर रहने वाले तथा सच्चे धर्म का उपदेश देने वाले महात्मा गुरु माने गये है।

वन्धुओ, इन लक्षणो की कसौटी पर कसकर ही हम जान सकते है कि गुरु कहलाने की क्षमता किसमे है। आज हम देखते है कि अनेक शहरो मे बडे-बडे मन्दिर है और उनमे महन्त होते हैं। लोग उन्हे गुरु मानकर पूजते हैं। किन्तु उनका जीवन कैसा होता है? मन्दिरो मे आने वाला अपार द्रव्य एव भोग आदि का भडार उनके हस्तगत रहता है अत बडे ठाट-बाट से वे अपने पत्नी, पुत्र एव पौत्रादि का पालन करते है तथा सम्पूर्ण भोग-विलास के साधनो से युक्त विशाल भवनो मे बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाये आनन्दपूर्वक निवास करते है। त्याग के नाम पर वहाँ शून्य होता है तथा क्रोध, मान, माया एव लोभादि कषायो मे कमी नही रहती। क्या हम उन्हे सच्चे गुरु मान सकते है? नही, गुरु उसे ही कहा जा सकता है जो—'आप तिरे औरन को तारे।'

तो जो गुरु स्वय ही मोह-माया मे लिप्त रहते है, वे स्वय कैसे भव-सागर पार कर सकते है तथा दूसरो को पार उतारने मे सहायक बन सकते है? ऐसा कभी नही हो सकता। जबकि गुरु और चेले, दोनो को ही धन, माल खेती बाडी, व्यापार-धन्धा करना है तथा पत्नी एव पुत्रादि की इच्छा रखनी है तो कैसे गुरु तैरेगे और किस प्रकार अपने चेलो को तैरायेंगे? यह तो वही बात हुई कि एक खम्भे मे एक व्यक्ति बँधा है और दूसरे खम्भे से दूसरा। क्या वे एक-दूसरे को बन्धन मुक्त कर सकते है? नही, दोनो ही तो बँधे है, फिर कौन किसको मुक्त करेगा? इसी प्रकार तृष्णा, इच्छा एव आशा के नागपाश मे जब गुरु और चेले बँधे रहते है तो न गुरु ही चेलो को कर्म-मुक्त कर सकते है और न चेले गुरु को।

गुरुजी विचार करते है—मेरे धनी भक्तो का गाँव है और यहाँ मैंने चार महीने कथा सुनाई है अत पाँच सौ रुपये तो दक्षिणा मे मिलेंगे ही।" उधर चेला सोचता है— "इन दिनो दुकान मे कमाई नही हो रही है और महाराज

सच्चा धर्म

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य मे सच्चे गुरु एव मच्चे धर्म की पहचान करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर वढने की प्रेरणा दी है। उसी के अनुसार हमने सक्षिप्त मे सच्चे देव एव गुरु के लक्षण ज्ञात किये हैं और अव धर्म के विपय मे ज्ञान करना है। वैसे भी हमारा आज का विपय 'धर्म-भावना' है जिसे भाना प्रत्येक आत्मार्थी के लिए आवश्यक है। धर्म-भावना के अभाव मे कोई भी व्यक्ति कल्याण के पथ पर एक कदम भी आगे नही बढा सकता।

विद्वतवर्य प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने 'धर्म-भावना' पर एक कविता लिखी है उसमे धर्म का महत्त्व वताते हुए लिखा है—

ससार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निस्सार मसान जैसा।
साकार है शाति वसुन्धरा की, हे धर्म तू ही जग का सहारा॥
जो जीव ससार समुद्र मध्य, है डूबते पार उन्हे लगाता।
त्राता नही और समर्थ कोई, आनन्द का धाम सदा तुही है॥
माता-पिता, वन्धु, सखा अनोखा, तू है हमारा वर देवता भी।
साथी सगा है परलोक का तू, सर्वस्व मेरा इस लोक का है॥

कवि ने धर्म की स्तुति करते हुए धर्म को ही सम्बोधित कर कहा है—"हे धर्म! तू ही जगत के सम्पूर्ण प्राणियो का सहारा है तथा इस पृथ्वी पर शान्ति का साकार रूप है। अगर तू इस ससार मे न रहे तो यह श्मशानवत् शून्य और निस्सार हो जाय।"

क्योकि, इस जगत के प्रत्येक प्राणी को भव-सागर मे डूबने से तू ही वचा सकता है, अन्य किसी मे भी यह क्षमता नही है। दूसरे शब्दो मे, तुझे अपनाये बिना कोई जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त नही कर सकता, तू ही आनन्द का एक धाम है जहाँ पहुँचकर जीवात्मा पूर्ण शान्ति, सन्तोष एव सुख का अनुभव करता है।"

इस लोक मे हमारे अनेक सम्बन्धी हैं और वे सदा सगे होने का दावा करते हैं, किन्तु दुर्दिन मे कोई आडे नही आता और तो और जन्म देने वाली माता भी मुँह फेर लेती है।

महासती अजना को गर्भवती होने पर ससुराल वालो ने घर से निकाल दिया तथा सगे सास-ससुर ने इतना भी सब्र नही रखा कि पुत्र पवनजय को युद्ध से लौटने दे तथा उससे मालूम करे कि वह अपनी पत्नी से मिला था या नही।

सच्चा धर्म

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने पद्य मे सच्चे गुरु एव सच्चे धर्म की पहचान करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढने की प्रेरणा दी है। उसी के अनुसार हमने सक्षिप्त मे सच्चे देव एव गुरु के लक्षण ज्ञात किये है और अब धर्म के विषय मे ज्ञान करना है। वैसे भी हमारा आज का विषय 'धर्म-भावना' है जिसे माना प्रत्येक आत्मार्थी के लिए आवश्यक है। धर्म-भावना के अभाव मे कोई भी व्यक्ति कल्याण के पथ पर एक कदम भी आगे नही बढा सकता।

विद्वतवर्य प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने 'धर्म-भावना' पर एक कविता लिखी है उसमे धर्म का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

ससार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निस्सार मसान जैसा।
साकार है शाति वसुन्धरा की, हे धर्म तू ही जग का सहारा॥
जो जीव ससार समुद्र मध्य, है डूबते पार उन्हे लगाता।
त्राता नही और समर्थ कोई, आनन्द का धाम सदा तुही है॥
माता-पिता, बन्धु, सखा अनोखा, तू है हमारा वर देवता भी।
साथी सगा है परलोक का तू, सर्वस्व मेरा इस लोक का है॥

कवि ने धर्म की स्तुति करते हुए धर्म को ही सम्बोधित कर कहा है— "हे धर्म! तू ही जगत के सम्पूर्ण प्राणियो का सहारा है तथा इस पृथ्वी पर शान्ति का साकार रूप है। अगर तू इस ससार मे न रहे तो यह श्मशानवत् शून्य और निस्सार हो जाय।"

क्योकि, इस जगत के प्रत्येक प्राणी को भव-सागर मे डूबने से तू ही बचा सकता है, अन्य किसी मे भी यह क्षमता नही है। दूसरे शब्दो मे, तुझे अपनाये बिना कोई जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त नही कर सकता, तू ही आनन्द का एक धाम है जहाँ पहुँचकर जीवात्मा पूर्ण शान्ति, सन्तोष एव सुख का अनुभव करता है।"

इस लोक मे हमारे अनेक सम्बन्धी है और वे सदा सगे होने का दावा करते है, किन्तु दुर्दिन मे कोई आडे नही आता और तो और जन्म देने वाली माता भी मुँह फेर लेती है।

महासती अजना को गर्भवती होने पर ससुराल वालो ने घर से निकाल दिया तथा सगे सास-ससुर ने इतना भी सब्र नही रखा कि पुत्र पवनजय को युद्ध से लौटने दे तथा उससे मालूम करे कि वह अपनी पत्नी से मिला था या नही।

अजना श्वसुर गृह से निकाली जाकर अपनी सखी सहित पीहर गई। पीहर मे उसके माता-पिता तथा सगे सौ भाई थे। किन्तु आप जानते हैं कि वहाँ उसका क्या हाल हुआ ? यही कि, सौ भाइयो मे से एक ने भी उसे आश्रय नही दिया तथा जन्म देने वाले पिता और माता ने भी उसे महल की ड्योढियाँ नही लाँघने दी, जल का एक घूंट भी पीने को नही दिया। इतना ही नही, अपने शहर मे मुनादी करवा दी कि कोई भी नगर-निवासी अगर अजना को आश्रय देगा तो उसका सर्वस्व छीन लिया जायेगा तथा कडी सजा और मिलेगी। अत स्वय राजा के भय से सम्पूर्ण नगर मे कोई भी व्यक्ति अजना को आश्रय नही दे सका और उस भूखी-प्यासी राजकुमारी को एक वक्त का खाना तो दूर जल-पान भी नही मिला। फलस्वरूप वह सीधी जगल मे गई और वही पर कुछ काल पश्चात् हनुमान का जन्म हुआ।

कहने का अभिप्राय यही है कि सौ भाइयो की एक बहन जिस पर माता-पिता कभी जान देते थे, उसके सकट के समय काम नही आये। जिसको सास-ससुर ने त्याग दिया था, उस दु ख मे डूबी कन्या को जन्म-दायिनी माता ने भी हृदय से नही लगाया और खडे-खडे निकलवा दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ससार के सब नाते झूठे हैं। कोई भी सम्बन्धी सच्चा साथी या सहायक नही है। सब रिश्तेदार या तो इस जीवन मे ही साथ छोड देते हैं और नही तो इस देह के नष्ट होते ही स्वय छूट जाते हैं। सदा साथ केवल धर्म देता है, इसीलिए कवि ने कहा है—"हे धर्म ! तू ही मेरी माता, पिता, मित्र और देवता है। इस लोक मे भी तू मेरा सगा साथी और सर्वस्व है तथा परलोक मे भी साथ देने वाला सहायक और हितैषी है।"

आगे कहा गया है—

तीर्थेश चक्री अवलम्ब लेके, ससार से हैं तरते सदा ही।
आराधना को मुनिराज तेरी, आगार को त्याग अरण्य जाते ॥
तेरे लिए प्राण तजे जिन्होने, टूटा उन्ही का यमराज-पाश।
रक्षा सदा जो करता तिहारी, तू भी बचाता उनको दुखो से ॥
आराधते निर्मल चित्त मे जो, पाते वही जीवन-लाभ पूरा।
जो मूढ धी हैं करते विनाश होता उन्ही का जग मे विनाश ॥

कवि का कथन है—"हे धर्म ! तेरा अवलम्बन लेकर ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बडे-बडे वैभवशाली इस ससार-सागर से पार उतरते हैं और अपना ऐश्वर्य एव आगार त्यागकर महामुनि केवल तेरी आराधना करने के लिए ही घोर वन मे जाकर तपस्या एव साधना करते है।"

"तेरी खातिर जो प्राण त्याग देता है, उसका काल रूपी पाश भी सदा के लिए टूट जाता है। तू ही उन सबको सब प्रकार के दुखो से मुक्त करता है, जो तेरी रक्षा करते है। किन्तु जो मूर्ख तेरी आराधना नही करते और अपनी आत्मा से बाहर कर देते है वे महान् दुखो के भागी बनते है तथा अनन्त काल तक ससार मे भटकते रहते है। स्पष्ट है कि वे ही भव्य पुरुष जो पवित्र और निर्मल भावनाओ के साथ तेरी आराधना करते है, मानव-जीवन का सच्चा लाभ हासिल कर लेते है।"

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥

अर्थात्—जरा और मरण के प्रवाह मे डूबते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप है, गति है और उत्तम शरण का स्थान है।

धर्मद्वीप का अवलम्बन

कहते है कि एक बार अनेक यात्री किसी विशाल जहाज मे बैठकर यात्रा कर रहे थे। वहाँ कुछ कार्य न होने से कुछ व्यक्ति तत्त्व-चर्चा मे लगे हुए थे तथा समाधि भाव की महत्ता पर एक से बढकर एक दलीले पेश कर रहे थे।

ठीक उसी समय समुद्र मे अचानक ही भीषण तूफान आ गया और वह जहाज पत्ते के समान डगमगाने लगा। लोग यह देखकर बहुत घबराये और बढ-बढकर समाधिभाव की महत्ता को साबित करने वाले लोग व्याकुल होकर इधर से उधर दौड-भाग करने लगे।

किन्तु एक व्यक्ति जो प्रारम्भ से ही चुपचाप बैठा था तथा वाद-विवाद मे तनिक भी भाग नही ले रहा था वह तूफान से जहाज के डोलते ही आँखे बन्द कर समाधि मे लीन हो गया। न उसके चेहरे पर भय का भाव था और न ही व्याकुलता का। आत्मिक शान्ति की दिव्य आभा उसके मुख मण्डल को और भी तेजस्वी बनाये हुई थी।

कुछ देर बाद तूफान थमा और जहाज पुन पूर्ववत् चलने लगा। यह देखकर लोग शान्त हुए तथा अपनी घबराहट पर काबू पाते हुए सुस्थिर होकर बैठे। उन्होने देखा कि तूफान के रुक जाने पर ही समाधिस्थ व्यक्ति ने भी अपनी आँखे खोली है और ध्यान समाप्त किया है।

सभी व्यक्ति हैरत से उसे देखने लगे और बोले—

"भाई! तूफान के कारण हमारी तो जान सूख गई थी पर तुम हो कि और

भी आत्म-समाधि मे लीन हो गये थे । क्या तुम्हे जहाज के डगमगाने से प्राण जाने का भय नही हुआ था ?"

वह व्यक्ति तनिक मुस्कराकर बोला—"बन्धुओ, जब तक मैंने धर्म का मर्म और समाधि-भाव का अर्थ नही समझा था, तब तक मैं भी तूफान से बहुत डरता था । किन्तु तुम लोगो की समाधि पर की गई तत्त्व-चर्चा से मैंने उसका महत्व समझ लिया और समुद्र मे तूफान के आते ही मैं समाधिपूर्वक अपने अन्दर के विशाल धर्म-द्वीप पर जा बैठा । मैंने समझ लिया था कि इस द्वीप तक तूफान से उठी हुई कोई भी लहर नही आ सकती ।"

उस ज्ञानी पुरुष की यह बात सुनते ही प्रश्न करने वाले सभी बडे लज्जित हुए और समझ गये कि खूब तर्क-वितर्क करने से और धर्म के मर्म को शब्दो के द्वारा समझ लेने से ही कोई लाभ नही होता । लाभ तभी होता है, जबकि थोडे कहे गये या सुने हुए को जीवन मे उतारा जाय ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो मुमुक्षु धर्म की शरण लेता है, धर्म उसकी रक्षा अवश्य करता है । कवि ने आगे बडे सुन्दर शब्दो मे धर्म के परिवार के विषय मे बताया है—

माता दया है जननी मनोज्ञा, सम्यक्त्व तेरा सुपिता कहाता ।
भाई क्षमा मार्दव आर्जवादि, हैं साम्यभावादि सपूत तेरे ॥
जो तू दया-प्रेरित हो न आता, ससार मे जो न सुधा बहाता ।
स्वर्गीय आलोक नही दिखाता, तो दीखता रौरव का नजारा ॥
दानादि हैं रूप अनेक तेरे, जो विश्व को स्वर्ग बना रहे है ।
निष्पाप निस्ताप विशुद्ध तेरा, है चित्त ही आलय एक रम्य ॥

कहा गया है—"हे धर्म ! तुम्हारा तो सम्पूर्ण कुल ही जगत के लिए मगलमय है । क्योकि तुम्हारी मनोज्ञ माता दया है और सम्यक्त्व पिता है ।"

वस्तुत सम्यक्त्व के आने पर ही आत्मा मे धर्म उत्पन्न होता है और सम्यक्त्वी जीव जिस प्रकार धागा पिरोई हुई सुई खोती नही, मिल ही जाती है, उसी प्रकार ससार मे परिभ्रमण करके भी अन्त मे मुक्ति-धाम को प्राप्त कर लेता है । सम्यक्त्व की महत्ता बताने हुए योगशास्त्र मे कहा गया है—

स्थैर्यं प्रभावना भक्ति कौशल जिनशासने ।
तीर्थ सेवा च पञ्चापि, भूषणानि प्रचक्षते ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व के पांच अमूल्य भूषण हैं—(१) धर्म म स्थिरता, (२) धर्म की प्रभावना—उपदेशादि के द्वारा, (३) जिन शासन की भक्ति, (४)

अज्ञानी व्यक्तियो को धर्म का रहस्य समझाने की निपुणता तथा (५) साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका, इन चारो तीर्थो की सेवा भावना।

जो भव्य पुरुष सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेता है, वह इन गुणो से विभूषित होकर धर्म को सच्चे मायने मे धारण करता है। इसीलिए उसे कवि ने धर्म का जनक बताया है। आगे कहा है—मुनियो के दस धर्म जो—क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग एव ब्रह्मचर्य हैं, वे तेरे भाई है और साम्य-भाव आदि उत्तम विचार तेरे सुपुत्र हैं।

आगे प्रशस्ति करते हुए कृतज्ञतापूर्ण शब्दो मे धर्म के प्रति आभार-प्रदर्शन है—"हे धर्म! अगर तू अपनी माता दया से प्रेरित होकर इस ससार मे नही आता और आत्मा की अनन्त ज्योति का आलोक नही दिखाता तो निश्चय ही इस पृथ्वी पर रौरव नरक के जैसा दृश्य दिखाई देता। क्योकि मानव का मन एक असीम सागर है, जिसमे क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, ममता एव आसक्ति आदि के भयानक तूफान उठा करते हैं। छद्मस्थ होने के कारण यह स्वाभाविक भी है, किन्तु इन तूफानो से बचने के लिए मनुष्य अपनी आत्मा मे स्थित धर्म रूपी उच्च द्वीप पर पहुँचकर तब तक वहाँ निरापद होकर ठहर सकता है, जब तक कि वे तूफान पुन शान्त नही हो जाते।"

"अगर ऐसा न होता, अर्थात् मानस मे धर्म-द्वीप का अस्तित्व न होता तो विषय-विकारो, कामनाओ और इच्छाओ की तरगो के थपेडो से घबराकर मनुष्य बाह्य जगत मे भी मार-काट, खून-खराबी करता रहता एव नाना प्रकार के पापो का उपार्जन करने मे ही अपना सम्पूर्ण जीवन निरर्थक बना लेता। उसे कभी भी सन्तोष, शान्ति, सुख-चैन या समता नसीब नही होती और इसीलिए यह मानव लोक भी नरकवत् बन जाता।"

"किन्तु हे धर्म! तूने जगत के निरीह प्राणियो पर दया करके अपने नाना रूपो से इन्हे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया है। दान, शील, तप, भाव, समत्व, त्याग एव सहानुभूति आदि सभी तेरे ही तो रूप है, जिन्हे अपनाकर महापुरुष इस लोक को स्वर्ग बनाये हुए है। यही नही, अगर स्वर्गलोक से इस भूलोक की तुलना की जाय तो स्वर्ग से यह लोक उत्तम माना जा सकता है। वह क्यो? इसलिए कि स्वर्ग के देव केवल प्राप्त सुखो का भोग तो करते हैं किन्तु तेरी आराधना करके ससार-मुक्त होने का प्रयत्न नही करते। पर इस लोक मे महा-मानव चक्रवर्ती एव महान् सम्राट होकर भी मिथ्या सुखो को ठोकर मारकर केवल तुझे साथ रखते है तथा तेरी कृपा से शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए स्वर्ग की भी परवाह न करते हुए मुक्ति-धाम तक जा पहुँचते है। ऐसा वे

इसीलिए कर पाते हैं कि सदा अपने मन रूपी मन्दिर मे तेरा समस्त पाप एव ताप रहित शुद्ध रूप प्रतिष्ठित रखते हैं और बाह्य-ससार से मुँह मोडकर तेरी पूजा-अर्चना करते हैं।" क्योंकि—

तू सार है वेद पुराण का औ, तू सार है शास्त्र कुरान का भी।
तेरे लिए ग्रन्थ समूह सारा, गाती सुगाथा तव शारदा है।।
मैले कुचैले मन मे हमारे, आओ विराजो करके विशुद्ध।
मिथ्यात्व अज्ञान कषाय भागे, आलोक से पूरित पूर्ण होवे।।
ध्याते सदा जो नर भावनाएँ, सम्पूर्ण होती शुभ कामनाएँ।
वे पुण्यशाली महिमा-निधान, होते सदा नायक धर्म के हैं।।

कवि ने अत्यन्त गद्गद होकर भक्तिभाव से प्रार्थना की है—"धर्म! मैं किस प्रकार तेरी स्तुति करूँ? क्योंकि वेदो का, पुराणो का, कुरान का तथा समस्त ग्रन्थो का सार या निचोड तू ही तो है, तेरा ही गाथा देवी सरस्वती गाया करती है अत तू चिन्तामणि रत्न के समान अमूल्य और दुर्लभ है।"

"मैं तो मात्र इतनी ही विनती कर सकता हूँ कि तुम मेरे और जगत के अन्य समस्त अज्ञानी प्राणियो के कषायो से काले हुए हृदयो को शुद्ध एव उज्ज्वल करके उनमे प्रतिष्ठित होओ! ताकि हमारे हृदयो मे से मिथ्यात्व एव अज्ञान सदा के लिए दूर हो जाय और ज्ञान का पवित्र प्रकाश सतत बना रहे। मैंने पढा है और सुना भी है कि जिन नर-रत्नो ने तेरा आह्वान किया है, उनकी समस्त शुभेच्छाएँ पूरी हुई हैं और वे पुण्यात्मा जीव तेरा आधार लेकर ही भव-सागर को पार कर गये हैं।"

तो बन्धुओ, आपने धर्म का महत्त्व कवियो की इन भावनाओ से समझ लिया होगा और मैं आशा करता हूँ कि आप भी 'धर्म-भावना' भाते हुए उसे जीवनसात् करेंगे तथा सवर के शुभ मार्ग पर बढते हुए इस लोक को तथा परलोक को भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे।

○

२३

ऊँघो मत पंथीजन !

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने धर्म का महत्त्व ममझते हुए 'धर्म-भावना' किम प्रकार भाई जाय इस पर विचार किया था । 'धर्म-भावना' आत्म-शुद्धि करने वाली वारह भावनाओ मे से ग्यारहवी भावना और सवर के सत्तावन भेदो मे इकतालीसव भेद है ।

आज हमे 'बोधि-दुर्लभ-भावना' को लेना है जो वारहवी भावना है औ सवर का बयालीसवाँ भेद है । यह भावना होना अर्थात् वोध का प्राप्त होन वडा कठिन है । क्योकि इस जगत मे मानव को लुब्ध और भ्रमित करने वाल असख्य पदार्थ है, जिनके आकर्षण से वचना वडा मुश्किल है । विरले ही नर रत्न होते है जो अपने मन और इन्द्रियो को सासारिक वस्तुओ के आकर्षण बचाते है तथा बोध प्राप्त करके उन्हे आत्म-कल्याण की क्रियाओ मे लगाते है

पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋपिजी महाराज ने अपने 'वोधि-दुर्लभ-भावना' प लिखे हुए सुन्दर पद्य मे कहा है —

जेते जगवासी कर्म फासी-सासी रासी गही,
पुद्गल जो चाहे सोही माने सुख सही है ।
मरणो न चाहे सव जीवणो उमाहे भाई !
जैसी निज आतमा है तैसी पर माही है ।।
करके विचार षट्काय प्रतिपाल सदा,
सुख होय तोये सुख 'कुख' चाह नाही है ।
मरुदेवी माता भाई, भाई धर्मरुचि ऋपि,
कहत त्रिलोक भावे सोही धन माही है ।।

महाराज श्री फरमाते हैं—इस जगत मे विद्यमान जितने भी जीव हैं वे सभी कर्मों के समूह से निर्मित जन्म एव मरण रूपी रस्सी की फाँसी से सासत मे पडे हुए हैं और कर्म रूपी यह रस्सी इतनी मजबूत हो गई है कि इससे छुटकारा मिलना दुष्कर हो रहा है।

' इसका कारण केवल यही है कि आत्मा आत्म-बोध के अभाव मे सच्चे सुख यानी आत्मानन्द को नही पहचान पाई है तथा इन्द्रियो को अनुभव होने वाले पौद्गलिक या मिथ्यासुख को सुख मान रही है। अपने अज्ञान के कारण यह दु ख को सुख तथा पाप के कुमार्ग को सुमार्ग समझ रही है। तारीफ तो यह है कि जीव गलत रास्ते पर चलता हुआ भी स्वय को सही पथ का पथिक समझता है जिस प्रकार भटका हुआ मुसाफिर किसी से सही मार्ग की जानकारी नही करता और विश्वासपूर्वक उसी गलत रास्ते पर बढता रहता है। पर क्या उस रास्ते पर चलकर वह कभी अपनी मन्जिल प्राप्त कर सकता है ? नही, रास्ता गलत होगा तो मन्जिल कैसे मिलेगी ?

उद्बोधन

बन्धुओ, तीर्थंकर, अवतारी पुरुष एव सत-महात्मा मनुष्यो को बोध देकर उन्हें अवनति के मार्ग से हटाकर उन्नति के मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। वे पुकार-पुकार कर कहते है—"भाइयो ! शरीर को प्राप्त होने वाला सुख सच्चा सुख नही है और पाप का यह मार्ग मोक्ष की मन्जिल तक ले जाने वाला नही है। इसलिए इन्द्रियो के ऐशो आराम की फिक्र छोडकर आत्मा के आराम की चिन्ता करो अन्यथा अनन्तकाल तक ससार की इस भूल-भुलैया मे पडे रहोगे। इसके अलावा यह मानव-जीवन तुम्हे ऐसा मिला है कि इसमे तुम विवेक और ज्ञान के धनी बनकर सही मार्ग को पकड सकते हो तथा उस पर दृढता से चल सकते हो। पर अगर यह समाप्त हो गया तो फिर चौरासी लाख योनियो मे नाना शरीर धारण करके भी तुम्हे कभी ऐसा विशिष्ट विवेक और ज्ञान प्राप्त नही होगा, जिसकी सहायता से तुम सत्पथ ढूढ सकोगे और कर्मों की फासी से अपने को छुडा सकोगे। इसलिए अब चेत जाओ तथा मानव जन्म को मुक्ति-मार्ग का एक सुन्दर पडाव या चौराहा समझो और यहाँ से गलत मार्ग छोडकर सही मार्ग पकडो। इसके अलावा जबकि तुम्हे आगे बढना ही है तो व्यर्थ समय नष्ट मत करो अन्यथा यह जीवन समाप्त हो जायेगा और कालरात्रि आकर गहन अधेरा फैला देगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जन्म मे जीवात्मा ज्ञान के प्रकाश का लाभ उठाकर अपनी मन्जिल की ओर अग्रसर हो सकता है अत अपने आपको

मुसाफिर मानकर उसे इसी जन्म मे सही मार्ग खोजकर उस पर बढ जाना चाहिए। अगर वह ऐसा नही करता है तो इस जीवन की समाप्ति के साथ ही ज्ञान का प्रकाश लुप्त हो जाएगा और फिर अनन्तकाल तक वह अज्ञान के अँधेरे मे ठोकरे खाता हुआ भटकता रहेगा। इसीलिए महापुरुष जीव को इस दुर्लभ-जीवन मे प्रमाद या मिथ्यात्व की निद्रा से बचने का उपदेश देते है। वे कहते है—

ऊघो मत पथी जन ससार अटवी वन,
काम रूपी नगर मे रहे काम चोर है।
जीव है बटाऊ यामे आय कर वास कियो,
ठगणी है पाँच याको मुलक मे शोर है॥
ज्ञानाधिक गुण रूप रतन अमोल धन,
ऊघे तो ले जाय तेरो, मिथ्यातम घोर है।
कहत तिलोक सद्गुरु चौकीदार रूप,
जाग रे बटाऊ ऊघे मत हुई भोर है॥

पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने भी ससार के प्राणियो को मुक्ति-मार्ग के मुसाफिर मानकर उन्हे बोध देते हुए कहा है—

"पथिको! तुम ऊँघो मत, सजग रहो और शीघ्रता से अपनी मन्जिल पर पहुँचने का प्रयत्न करो अन्यथा भारी हानि उठानी पडेगी।" वह हानि क्या है? इस विषय मे आगे उन्होने स्वय ही बताया है कि—"यह ससार एक विशाल अटवी या जगल है। जीवात्मा इस जगल मे भटकते-भटकते मनुष्य देह रूपी नगर पा गया है और इसमे पडाव डाले हुए है। किन्तु यह नगर भी खतरे से खाली नही है क्योकि इसी काया-नगर मे वासना या इच्छा रूपी चोर 'काम' रहता है। काम रूपी चोर भी अकेला नही है उसकी सहायता करने वाली पाँच इन्द्रियाँ है जो ठगिनी के रूप मे 'काम' की सहायता करती हैं। जीवात्मा को भुलावे मे डालकर लूट लेने मे ये वडी सिद्धहस्त है, जिनका सारा मुल्क लोहा मानता है।"

अव प्रश्न उठता है कि ये ठगिनी इन्द्रियाँ मानव को चक्कर मे डालकर उसका क्या छीनती है? उत्तर मे कहा जाता है कि यह जीवात्मा लम्वे काल से सफर करता हुआ सौभाग्य से मानव-जन्म रूपी पडाव पर आता है या शरीर रूपी सराय मे विश्राम के लिए ठहरता है। जो जागरूक जीव होता है वह तो सजग रहता है तथा बिना प्रमाद-निद्रा लिए अविराम कदमो से मन्जिल की

ओर वढता रहता है किन्तु जो जीव प्रमाद-रूपी निद्रा मे गाफिल हो जाता है उसके ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूपी अमूल्य रत्नो को 'काम' चोर की सहायिका इन्द्रियाँ चुरा ले जाती हैं। वे मिथ्या सुख के भुलावे मे जीव को डाल देती हैं और उसके समस्त सद्‌गुण–धन को लूट लेती हैं।

एक राजस्थानी भजन मे भी कहा है—

जीवराज ! थे तो आछो पराक्रम फोड्यो म्हारा राज-
नर देही खेती मायने, पखी बैठा पाँच, गुण रूपी,
दाना चुगेरे लाम्बी ज्याँरी चोच ।

पद्य मे जीवात्मा को चेतावनी देते हुए कहा गया है—"हे जीवराज ! तुमने बहुत पराक्रम करके मानव-देह रूपी खेत प्राप्त किया है और ज्ञान-ध्यान जप-तप आदि के बीज भी इसमे वो दिये है, किन्तु अव इन बीजो को फसल के रूप मे अगर पाना चाहते हो तो बहुत सावधान रहो। क्योकि तुम्हारी फसल को खाने के लिए पाँच इन्द्रिय रूपी विशालकाय पक्षी ताक लगाये बैठे हैं। इन पक्षियो की चोचें भी साधारण नही हैं, बडी लम्बी हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभ एव विकार से निर्मित हुई हैं। स्पष्ट है कि अगर तुम जरा भी असावधान हुए तो ये पक्षी अपनी अत्यन्त दीर्घ चोचो के द्वारा तुम्हारी सम्पूर्ण फसल खा जाएँगे और तुम हाथ मलते रह जाओगे।

कवि श्री त्रिलोक ऋषि जी ने भी इसी प्रकार जीव को चेतावनी देते हुए प्रमाद-निद्रा से अविलम्व जागने की प्रेरणा दी है। कहा है—"जन्म-जन्म का मिथ्यात्व रूपी अँधेरा दूर हुआ है और ज्ञान रूपी प्रकाश की प्रथम किरण प्रात काल होने की सूचना दे रही है अत हे वटोही ! अब तो तू जागृत हो जा और अपने सद्‌गुण रूपी आत्म-धन की सुरक्षा कर। यद्यपि सच्चे सन्त और सद्‌गुरु रूपी चौकीदार अव तक तेरे धन की सुरक्षा कर रहे हैं, किन्तु वे कहाँ तक तेरा साथ दे सकेंगे ? वे तुझे मार्ग वताएँगे, किन्तु चलना तो तुझे ही पडेगा। अत अब भोर हो गई है, और तू ऊँघ मत, जागृत होकर ज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश मे अपना रास्ता तय करले अन्यथा अगर काल ने आक्रमण कर दिया और ज्ञान-दीप वुझ गया तो फिर वह ढूंढे नही मिलेगा।"

सस्कृत मे कहा गया है—

"निर्वाणदीपे किमु तैल दानम् ?
चौरे गते वा किमु सावधानम् ?"

कहते है—जव तक दीपक जल रहा है, तव तक पुन तेल डाल लो अन्यथा

उमके बुझ जाने पर फिर घोर अन्धकार मे कैसे उसे खोजोगे और किम प्रकार उसमे तेल डालकर प्रज्वलित करोगे ?

दूसरे चरण मे, चोरो का उदाहरण दिया है कि 'जब वे धन-सम्पत्ति चुराकर चले जाएँगे, तव फिर तुम्हारे सावधान होने से क्या लाभ होगा ?' इसी विषय को लेकर अभी बताया भी गया है कि जब तक तुम्हारे रत्नत्रय सुरक्षित है तव तक जागते रहो और उनसे लाभ उठालो। पर अगर 'काम' रूपी चोर ने इन्द्रियो के द्वारा उन्हे ठगाई करवाकर छिनवा लिया तो फिर तुम्हारे जागकर सावधान होने से कुछ भी नही बन सकेगा। केवल पश्चात्ताप ही हाथ आएगा।

तो वन्धुओ, जैसा कि अभी भजन मे कहा गया है—बडे पराक्रम से सचित किये हुए पुण्यो के फलस्वरूप यह मानव-जन्म हमे मिला है। इसे कितनी कठिनाई से प्राप्त किया है यह बताते हुए पण्डितरत्न श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अपनी 'बोधि-दुर्लभ-भावना' पर लिखी हुई पद्य रचना मे कहा है—

चेतन रह निगोद मे तूने काल अनन्त गँवाया।
एक श्वास मे बार अठारह जन्म-मरण दुख पाया॥
निकला यदि निगोद से पाकर किसी भाति छुटकारा।
पृथ्वी पानी तेज वायु या हरित काय तन धारा॥
बादर और सूक्ष्म हो होकर काल असख्य बिताया।
पुण्ययोग से चिन्तामणि सम तव त्रसजीवन पाया॥
पाकर त्रस पर्याय हुआ विकलेन्द्रिय जीव अजाना।
इस प्रकार दुर्लभ है भाई पाँच इन्द्रियाँ पाना॥

कवि ने जीव को वोध देने के लिए कहा है—

"अरे जीव ! तू यह मत समझ कि मुझे सहज ही मनुष्य जन्म मिल गया है। अपितु भली-भाँति जानले कि सर्वप्रथम तो अनन्त काल तक तू निगोद मे रहा, जहाँ एक श्वास मे तेरा अठारह बार जन्म और उतनी ही बार मरण होता था। उसके पश्चात् किसी प्रकार वहाँ से छूटा तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय धारण करते हुए वादर और सूक्ष्म हो होकर भी तुझे असख्य काल व्यतीत करना पडा।

इसके वाद किसी तरह पुण्यभोग से अमूल्य रत्न के समान त्रस जीवन की

प्राप्ति की पर विकलेन्द्रिय बन कर नाना प्रकार के कष्ट उठाता रहा। इस प्रकार विचार कर कि पाँचो इन्द्रियाँ प्राप्त करने से पूर्व तेरी कितनी करुणापूर्ण स्थिति रही होगी ? पर आगे यह भी समझ कि पचेन्द्रिय बनते ही तू सुखी हो गया हो, यह बात भी नही है। जैसा कि आगे कहा गया है—

अतिशय पुण्य योग से पाँचो अगर इन्द्रियाँ पाई।
तो मन के बिन वह भी कहिये अधिक काम क्या आई ?
निर्दय हिसक क्रूर हुआ पशु या पक्षी मन पाकर।
विविध वेदनाएँ तब भोगी घोर नरक मे जाकर।।
प्रबल पुण्य का उदय हुआ तव मानवभव पाया है।
किन्तु असाता कर्म-उदय से रोगग्रसित काया है।।
हो काया निरोग मगर मिथ्यात्व मल्ल ने मारा।
मिला दिया मिट्टी मे तेरा सम्यक् ज्ञान विचारा।।

पद्यो मे बताया है कि अनन्तकाल तक निगोद मे और उतने ही समय तक पृथ्वी आदि छ कायो मे जन्म-मरण करके भी त्रस पर्यायें प्राप्त की किन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियो की प्राप्ति न होने पर जीव घोर दु ख पाता रहा।

उसके पश्चात् किसी प्रकार पाँचो इन्द्रियाँ भी प्राप्त की तो मन के अभाव मे वे न पाने के बराबर ही साबित हुईं और जैसे-तैसे मन भी पाया तो कभी निर्बल बनकर हिसक पशुओ के द्वारा मारा गया और कभी स्वय क्रूर एव हिंसक बनकर अन्य जीवो को मारता हुआ पापो का उपार्जन करता रहा। फल यह हुआ कि मरकर नरको मे गया और भयकर कष्ट भोगता रहा। वहाँ से किसी प्रकार निकलकर पशु योनि प्राप्त की तो वध-बन्धन, मार-वहन, भूख-प्यास एव सर्दी-गर्मी की पीडा मूक होने के कारण सहता रहा।

इसमे ही न जाने कितना समय व्यतीत हो गया और उसके बाद मानव जन्म मिला। पर कर्मों से तब भी पीछा नही छूटा। असाता वेदनीय आदि कर्मों के उदय से या तो जन्म से ही रोगी शरीर मिला, या लूला, लँगडा और काना बनकर दु खी रहा, कभी अगोपाग पूर्ण हुए तो दीर्घ जीवन नही पा सका तथा शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो गया और यह सब नही हुआ यानी परिपूर्ण इन्द्रियाँ तथा स्वस्थ शरीर हासिल हो गया तो मिथ्यात्व रूपी शक्तिशाली पहलवान ने सम्यक् ज्ञान को निरर्थक कर दिया। किन्तु पुण्योदय से ज्ञान-दर्शन की भी प्राप्ति हुई तो चारित्र का पालन कठिन हो गया। ऐसा क्यो हुआ ? इसका उत्तर कवि ने इस प्रकार दिया है—

सम्यक्‌दर्शन होने पर भी सत्‌-चारित्र न होता।
हुआ कदाचित्‌ तो उसके पालन करने मे रोता ॥
प्रबल पुण्य से रत्नत्रय को अगर कभी भी पाया।
तो कपाय के प्रबल वेग ने उसको हाय मिटाया ॥
पाया था जो दिव्ययान भव-सागर से तरने को।
जो की थी तैयारी भारी मुक्ति वधू वरने को ॥
मटियामेट हुआ सारा फिर दुर्गति सन्मुख आई।
यो कपाय के एक वेग ने तीव्र आग धधकाई ॥

पद्यो मे वताया गया है कि इस जीव को कर्मो के कारण कैसी-कैसी स्थिति मे से गुजरना पडा है। निगोद से निकलकर अनन्त काल तक नाना पर्याये धारण करते हुए उसने घोर दुःख उठाये और महा मुश्किल से दीर्घजीवन, उच्चकुल और आर्य क्षेत्र प्राप्त किया। पर किसी प्रकार सम्यक्‌ज्ञान और दर्शन हासिल करके भी इन्द्रियो के वश मे बना रहा और चारित्र का पालन नही कर सका। परिणाम यह हुआ कि गधे पर लादे हुए रत्नो के बोझ के समान ज्ञान मात्र बोझ बना रहा, उसका कोई लाभ नही मिला। एक छोटा-सा उदाहरण है—

ज्ञान आचरण मे नहीं उतारा गया

एक महात्माजी किसी स्थान पर लोगो को धर्मोपदेश दे रहे थे। अपने उपदेश मे उन्होने कहा—"प्रत्येक व्यक्ति को कषायो का त्याग करना चाहिए, क्योकि कषायो मे कर्मों का बन्धन होता है। चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यो न सामने हो और कोई गालियाँ भी क्यो न दे मनुष्य को क्रोध न करते हुए पूर्ण समभाव रखना चाहिए।" इसी प्रकार काफी देर तक महात्मा जी क्रोध आदि कपायो को त्यागने का तथा शाति रखने का उपदेश देते रहे। अन्त मे प्रवचन समाप्त हुआ और उपस्थित श्रोता वहाँ से उठ-उठकर अपने घरो को चल दिये पर एक व्यक्ति वहाँ बैठा रहा। कुछ देर पश्चात्‌ उसने महात्माजी से पूछा—

"महाराज! आपका नाम क्या है?"

महात्माजी एक पुस्तक को उलट-पुलट रहे थे अत विना सिर ऊँचा किये बोले—"शातिचन्द्र।"

व्यक्ति यह सुनकर कुछ देर चुपचाप बैठा रहा, पर उसके बाद फिर पूछा—"महात्माजी आपका नाम ?"

"बहरे हो क्या ? एक बार बता तो दिया कि शातिचन्द्र है ।" स्वामीजी ने क्रोध से उत्तर दिया ।

नाम पूछने वाला व्यक्ति फिर चुप हो गया और अपने हाथ मे रखी हुई माला फेरने लगा । किन्तु, थोडी देर बाद फिर बोला—"महाराज, मेरी स्मरण शक्ति बडी कमजोर है, कोई भी बात तुरन्त भूल जाता हूँ आपने अपना नाम क्या बताया था · ?"

अब तो स्वामीजी से रहा नही गया और वे पास मे रखा हुआ डडा लेकर उसे मारने दौडे । मारे गुस्से के उनकी आँखे लाल हो गईं । प्रश्नकर्त्ता इस घटना के लिए तैयार ही था अत तुरन्त महात्माजी की पहुँच से बाहर होकर बोला—

"गुरुदेव ! अभी तो आपने इतनी देर तक उपदेश दिया था कि—'चाहे कोई हजार गालियाँ ही क्यो न दे, प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें पूर्ण समता एव शाति से सहन करना चाहिए और तनिक भी क्रोध मन मे नही आने देना चाहिए ।' मैंने तो आपको एक भी गाली नही दी, केवल आपका नाम पूछा था । फिर भला आप इतने क्रोधित क्यो हुए ? क्या ऐसे क्रोध से कर्म-बन्धन नही होता ?"

उस व्यक्ति की यह बात सुनकर महात्माजी पर मानो घडो पानी पड गया । उन्हे भली-भाँति महसूस हो गया कि कोरी ज्ञान की बातें करने से तनिक भी लाभ नही होता, जब तक उन्हे आचरण मे न उतारा जाय । क्रोध न करने का उपदेश देकर मैं स्वय ही बिना किसी वजह के आग-बबूला हो गया, इससे लगता है कि मेरा ज्ञान अब तक निष्फल साबित हुआ है । यह विचार कर महात्मा जी ने तब तक उपदेश नही दिया, जब तक कि उनके मन से क्रोध ही नही वरन् कषायमात्र का नाश नही हो गया ।

इसी प्रकार आस्ट्रिया के एक बादशाह की कब्र पर लिखा हुआ है—"यहाँ पर एक ऐसा व्यक्ति सोया है, जिसके पास ज्ञान का अक्षय भण्डार था, असख्य उत्तम विचार थे, किन्तु अफसोस कि वह अपने जीवन मे एक भी कार्य सम्पन्न नही कर सका ।"

कहने का अभिप्राय यही है कि सम्यक्दर्शन एव सम्यक्ज्ञान को जब तक क्रिया या आचरण मे नही लाया जाता तब तक वह व्यर्थ होता है, दूसरे शब्दो मे उनका होना न होना बराबर हो जाता है ।

तो कविता मे यही कहा गया है कि मनुष्य ने दर्शन एव ज्ञान पाकर भी

वहुत काल तक उन्हे व्यर्थ गँवाया, क्योकि इन्द्रियो के विपयो मे वह लुब्ध रहा और सदाचार का पालन नही कर सका। पर उसके बाद दुर्लभ पुण्यो के उदय से अपने ज्ञान और दर्शन को कुछ समय के लिए आचार मे उतारा तो ज्योही कपाय का एक प्रबल झोका आया, मन पुन: डॉवाडोल हो गया और रत्नत्रय मानो हथेली मे आकर भी छूट गये।

इस प्रकार भव-सागर को पार करने के लिए जो मानव-देह रूपी दिव्य और दुर्लभ नौका प्राप्त की थी, वह कषायो के तीव्र थपेडो से मझधार मे डूब गई और जीव पुनः कुगतियो के चक्कर मे पड गया। ऐसे जीवो के लिए दयार्द्र होकर कवि ने आगे कहा है—

> कितने कष्ट सहन करके फिर मानव भव पाएँगे ?
> अपनी खोई हुई सम्पदा किस प्रकार पाएँगे ?
> जो चाहो कल्याण, कषायो से तो नाता तोडो।
> दुख-कारण मिथ्यात्व-शत्रु को हाथ दूर से जोडो।
> धन्य-धन्य है पुरुष-रत्न वे जो रत्नत्रय पाते।
> विषयो को विष जान दृष्टि उस ओर नही ले जाते॥
> दुर्लभ वोधि प्राप्त कर अपना जीवन सफल बनाते।
> वे अक्षय सुख-धाम मुक्ति पा नही लौटकर आते॥

जैसा कि कवि ने कहा है—वस्तुत अनन्त जीव ऐसे होगे, जिन्होने मनुष्य जन्म और उसके साथ किसी तरह सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र पाकर भी कपायो की आग से उन्हे अल्पकाल मे नष्ट कर दिया होगा और आज वे न जाने कौन-कौन-सी दुर्गतियो मे घोर कष्ट पा रहे होगे। लगता है कि अब उन्हे न जाने कव तक मानव-जीवन मिलेगा और कव वे रत्नत्रय रूपी अपना खोया हुआ अमूल्य धन पुन हासिल करेंगे।

इसीलिए आगे प्रेरणा दी गई है कि—"भाई! अगर तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कपायो का पूर्णतया त्याग करो और रत्नत्रय को भी मिट्टी मे मिला देने वाले आत्मा के घोर शत्रु मिथ्यात्व के समीप मत फटको।"

मिथ्यात्वी पुरुप न तो अपना भला कर पाते हैं और न दूसरो को ही उनका भला करने देते हैं, क्योकि अपने कुतर्कों के द्वारा वे अच्छे-अच्छे धर्म-परायण व्यक्तियो को भी गुमराह कर डालते है। अत ऐसे व्यक्तियो से सदा दूर रहना चाहिए तथा उनकी सगति से अपने आपको बचाना चाहिए।

संगति का अद्भुत परिणाम

एक चित्रकार अपनी कला मे वडा ही निपुण था। वह जैसी आकृति देखता, ठीक वैसा ही चित्र वना देता था। एक वार उसने एक वालक का चित्र वनाया। वालक अत्यन्त सुन्दर था और उसके चेहरे पर अपार सरलता, सौम्यता एव शान्ति झलकती थी। चित्र ठीक वैसा ही बना और चित्रकार ने उसे बेचा नही, वरन् अपनी चित्रशाला मे लगा दिया। सदा उसे देखता और स्वय ही मुग्ध हो जाता था।

कुछ वर्ष निकल गये और एक दिन उसे विचार आया—"मैं इस चित्र के विरोधी गुणो वाला भी एक चित्र वनाऊँ तो इसका महत्व और भी वढ जायगा।"

अपनी इस भावना के अनुसार वह किसी अत्यन्त दुर्जन एव कुरूप व्यक्ति को खोजने लगा, पर किसी की आकृति चित्र वनाने के लिए उसे पसन्द नही आई। आखिर एक दिन वह नगर के जेलखाने मे जा पहुँचा और जेलर से अपने आने का अभिप्राय वताया। जेलर हँस पडा और चित्रकार को भी कवियो के समान मौजी मानकर वोला—"आप अन्दर चले जाइये और अपनी पसन्द का व्यक्ति खोज लीजिये।"

चित्रकार जेल के अन्दर गया और बुरे से बुरे चेहरे की खोज करने लगा। अचानक ही उसे सीखचो के पास वैठा हुआ एक युवक दिखाई दिया। उम्र अधिक न होने पर भी उसका चेहरा वडा विद्रूप था और कुटिलता तथा नृशसता की छाप उस पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

चित्रकार ने अपने विचारो के अनुसार उसका चेहरा चित्र वनाने के लिए पसन्द किया और उसके समीप जाकर उसका नाम एव परिचय पूछा। किन्तु ज्योही उस युवक ने अपना परिचय दिया, चित्रकार स्तब्ध होकर काठ के समान खडा रह गया।

यही नौजवान पूर्व मे वह भोला-भाला, अत्यन्त कान्तिमान एव सरलता की साकार प्रतिमा के समान हँसता-खेलता वालक था, जिसका चित्र वनाकर चित्रकार वर्षों से मुग्ध होता चला आ रहा था। इस समय उसे देखकर वह वडा चकित हुआ और पूछ वैठा—

"तुम्हारी यह दशा? किसने तुम्हारे वाल्यावस्था के उस सौन्दर्य को, हृदय की सरलता, निष्कपटता एव सौम्यता को इस कुरूपता मे वदल दिया?"

"सगति ने।" युवक इतना ही वोला और चुप हो गया।

चित्रकार भी समझ गया कि कुसगति के कारण ही उस सुन्दर वालक मे और आज के इस नौजवान मे जमीन-आसमान का अन्तर आ गया है।

तो वन्धुओ ! सगति के कुप्रभाव से बचने के लिए ही कवि ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि मिथ्यात्व से दूर रहो ! दूसरे शब्दो मे, मिथ्यात्वी की सगति भूलकर भी मत करो, अन्यथा तुम्हारा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र सभी खटाई मे पड जाएँगे। परिणाम यह होगा कि मनुष्य-जन्म मिलकर भी न मिले जैसा होगा और जीवात्मा को चौरासी के चक्कर मे पडना पडेगा।

आगे कहा है—"वे नर-रत्न पुन-पुन धन्यवाद के पात्र है जो रत्नत्रय प्राप्त करते है और प्राप्त करने के पश्चात् यक्ष की तरह सजग रहकर कषायो से उन्हे बचाते है। कषायो और विषय-विकारो को वे आत्मा के लिए विष के समान मानते है तथा उनकी ओर दृष्टिपात भी नही करते। ऐसे व्यक्ति ही सतत वोधि-दुर्लभ-भावना भाते हुए अपना जीवन सफल कर लेते है, अर्थात् अक्षय सुख के धाम मोक्ष मे पहुँच जाते हैं, जहाँ से कभी लौटना नही पडता।"

हमे भी इसी प्रकार की भावना रखते हुए महामुश्किल से प्राप्त हुए इस जीवन का पूरा लाभ लेना है और अपने उद्देश्य को सफल बनाना है।

○

२४

सुनकर सब कुछ जानिए

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो!

कल हमने 'बोधि-दुर्लभ-भावना' के विपय मे कुछ विचार किया था। इसका अर्थ है—वोघ प्राप्त होना वहुत ही दुर्लभ है। इस ससार मे व्यक्ति को धन, मान, परिवार एव अन्य सभी वस्तुएँ सहज ही यानी थोडा-सा प्रयत्न करते ही मिल मकती है, किन्तु धर्म-वोध होना वडा कठिन है।

कदाचित शुभ सयोग से वीतराग-वाणी को मुनने का अवसर व्यक्ति पा भी ले, किन्तु इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दे तो मुनने से क्या लाभ है? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोक-लज्जा से या धर्मातमा कहलाने की इच्छा से लोग प्रवचन-स्थल पर आकर वैठते है, सामायिक ग्रहण कर मुखवस्त्रिका भी वाँध लेते हैं, पर जव धर्म के विषय मे वताया जाता है तव या तो नीद आने लगती है और नही तो आँखें घडी की ओर देखती रहती है कि कव व्याख्यान समाप्त हो और दुकान पर पहुँचें। इस पर भी जितनी देर तक वे वैठे रहते हैं ऐसे अनमने ढग से कि मुना हुआ केवल उनके कान तक ही रहता है, अन्दर नही जा पाता। इसका कारण यही है कि धर्म-श्रवण मे उन्हे रुचि नही होती तथा वीतरागो की वाणी उनके चित्त को वोध नही दे पाती। पर जव मन ही अस्थिर रहेगा और स्थानक मे वैठे हुए भी व्यापार-धन्धे की ओर लगा रहेगा तो भगवान की वाणी क्या कर सकेगी? वह तभी लाभ पहुँचाएगी, जवकि व्यक्ति उत्साह और उत्सुकतापूर्वक उसे समझेगा और ग्रहण करेगा, जैसे चातक वर्षा की बूंदो को ग्रहण करता है।

श्री स्थानागसूत्र मे कहा गया है—

> असुयाणं धम्माण सम्म सुणणयाए अब्भुट्ठे यव्वं भवति।
> सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए अवधारणयाए अब्भुट्ठे यव्व भवति॥

अर्थात्—अभी तक नही सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए और सुने हुए धर्म को ग्रहण करने तथा उस पर आचरण करने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए।

सिंहनी का दुग्ध

बन्धुओ, आपने सुना होगा कि सिंहनी का दूध मिट्टी के तो क्या, ताँबे और पीतल के वर्तन मे भी नही ठहरता, उन्हे तोडकर बाहर निकल जाता है। वह दूध केवल सोने के पात्र मे रहता है।

ठीक इसी प्रकार वीतराग के वचन भी होते है। जो सिंहनी के दूध की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण एव दिव्य होते है, फिर भला वे किस प्रकार दोष-पूर्ण चित्त मे रहेगे ? कभी भी नही। वे उसी प्रकार निरर्थक चले जाएँगे जैसे फूटे हुए पात्र मे दुहा गया गाय का दूध या फटी हुई बोरी मे डाला गया अनाज।

कहने का अभिप्राय यही है कि आगम के वचनो को रखने के लिए हमारे मन रूपी पात्र अश्रद्धा के छिद्रो से रहित एव कषायो की मलिनता से विशुद्ध होने चाहिए। हमे विचार करना चाहिए कि अनन्तकाल तक तो जीव चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहा है और कोई भी योनि ऐसी नही मिली, जिसमे धर्म-भावना जागृत होती या बोध प्राप्त करने की क्षमता होती। महान् पुण्यो के योग से यह मानव-योनि ही सुवर्ण के पात्र के समान मिल पाई है, जिसमे भगवान के वचन ठहर सकते है। किन्तु खेद की बात है कि नर देह रूपी इस सुवर्ण के पात्र को भी हमने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि नाना प्रकार की गन्दगी से भर दिया है अत प्रभु के वचन या सिंहनी के दुग्धवत् धर्म इसमे अपने शुद्ध रूप मे नही ठहर पाता। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने मन रूपी सुवर्ण-पात्र को विवेक के द्वारा शुद्ध करे तथा प्रभु के द्वारा बताये गये धर्म का मर्म समझे।

धर्म का मुख्य लक्षण

कल मैंने पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज का एक पद्य आपके सामने रखा था जिसमे बताया गया है कि जितने भी इस जगत मे प्राणी है वे सभी कर्मरूपी फाँसी मे कष्ट पा रहे है। ऐसा क्यो हुआ ? इसलिए कि उन्होने अधर्म के द्वारा कर्मो का घोर बन्धन कर लिया और जब तक उन्हे नष्ट नही किया जाएगा, जीव शाति की साँस नही ले सकेगा।

प्रश्न होता है कि कर्मो का नाश कैसे किया जा सकता है ? महाराज श्री ने पद्य मे ही धर्म का मुख्य लक्षण अहिंसा बताते हुए कहा है कि सदा हृदय मे

करुणा का भाव रखते हुए छहो काय के जीवो की हिंसा से बचो। यह तभी हो सकता है, जबकि प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक सूक्ष्म या विशाल जीव को आत्मवत् समझे, तथा यह विचार करे कि जिस प्रकार मैं मरना नही चाहता, उसी प्रकार ससार का सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण बचाना चाहता है, मरना नही। चीटी बहुत छोटी होती है, उसे ज्ञान भी नही होता, किन्तु मरने से बचने का प्रयत्न वह भी कर लेती है।

इस बात को हम सहज ही जान सकते है कि जब वह चलती है तब अगर हम उसके आगे हाथ रख दें तो वह रुक जाती है तथा शरीर को सिकोड लेती है। पर हाथ हटाते ही वह पुन आगे बढ जाती है। कुछ कीडे तो ऐसे होते है जो हाथ लगाते ही एकदम निश्चेष्ट होकर पड जाते हैं, जैसे मर चुके हो। पर कुछ देर मे जब उन्हे यह महसूस होता है कि हमे छूने वाला यहाँ नही है तो शीघ्रतापूर्वक अपने अगो को फैलाकर चल देते है। देखिए! उनमे भी प्राण बचाने की कैसी बुद्धि या चतुराई होती है? वे कपटपूर्वक अपने हाथ-पैरो को सिकोडकर और निश्चेष्ट होकर मनुष्य को भी धोखा देना चाहते हैं, क्योकि मरने से डरते हैं।

आप कहेगे—अनेक व्यक्ति तकलीफ मे होने पर सहज ही कहते है—"हे भगवान! मौत दे दे।" पर क्या वे मन से ऐसा चाहते है? कभी नही, मरने का समय आते ही वे कांप उठते है। स्पष्ट है कि मौत का आह्वान केवल उनकी जबान पर होता है मन मे नही। आशय यही है कि मरने से प्रत्येक प्राणी डरता है और कोई भी उसे गले लगाना नही चाहता।

शास्त्रो मे कहा भी है—

सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्ख पडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा,
सव्वेसिं जीविय पिय नाइवाएज्ज कचणं।

—आचारागसूत्र १-२-३

अर्थात्—सब प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है। सुख सब को अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सभी को अप्रिय है और जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते है, अर्थात् सभी को जीवन प्रिय है अत किसी प्राणी की हिंसा मत करो।

आगे पद्य के तीसरे चरण मे कहा गया है—"विवेकपूर्वक षट्काय के प्राणियो का सरक्षण करो, अगर तुम्हे 'दुःख' के त्याग की और सुख की चाह है तो" सभवत आप इस बात का अर्थ ठीक तरह से नही समझ पाये होंगे। देखिये

'कुख' से यहाँ तात्पर्य है माता की कुक्षि । स्वाभाविक ही है कि माँ की कुक्षि मे आने पर अर्थात् जन्म लेने पर फिर मरण निश्चय ही होगा, अत अगर व्यक्ति कुक्षि की चाह नही करके जन्म-मरण को मिटाकर शाश्वत सुख पाना चाहता है तो उसे हिंसा से बचना चाहिए । क्योकि हिंसा से कर्मों का बन्धन होगा और तब पुन-पुन जन्म लेना तथा मरना पडेगा ।

अव पद्य का चौथा चरण आता है, इसमे कवि श्री ने कहा है—"मरुदेवी माता ने बोधि-दुर्लभ-भावना भाई और केवलज्ञान प्राप्त करके ससार से मुक्त हो गई । माता मरुदेवी हमारी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की जननी थी ।"

ऋषभदेव ने तो मुनिधर्म ग्रहण कर लिया और आत्म-साधना मे जुट गये । किन्तु माता का सन्तान के प्रति बडा जबर्दस्त मोह होता है । मरुदेवी भी माता थी अत मोहवशात् उन्होने अपने पौत्र भरत चक्रवर्ती को स्नेहपूर्ण उपालम्भ देते हुए कहा—

"भरत ! ऋषभ तो गया और लौटकर आया ही नही, पर तू भी राज्य मे ऐसा लुब्ध हो गया कि मेरे ऋषभ की खबर नही मँगाता !"

पर इसके बाद ही सौभाग्यवश यत्र-तत्र विचरण करते हुए भगवान ऋषभदेव विनिता या अयोध्या नगरी मे पधारे । आपको मालूम ही होगा कि प्राचीनकाल मे सन्त नगर के बाहर किसी बगीचे आदि मे ठहरा करते थे और जब वन-पालक नगर मे आकर मुनिराज के पधारने की सूचना देता था तब राजा अपनी प्रजा एव परिवार सहित उनके दर्शनार्थ जाया करते थे ।

भगवान ऋषभदेव भी विनिता नगरी के बाहर उद्यान मे आकर ठहरे तथा उनके पधारने की सूचना नगर मे पहुँची । सभी के हृदय हर्ष से विभोर हो उठे और भगवान की माता मरुदेवी का तो कहना ही क्या था ! वे प्रसन्नता से पागल हो उठी और उसी समय अपने पुत्र के दर्शनार्थ जाने को तैयार हो गईं ।

चक्रवर्ती भरत माता मरुदेवी एव अन्य समस्त प्रजाजनो के साथ बडे हर्ष और ठाट-बाट के साथ भगवान के दर्शनार्थ रवाना हुए । मरुदेवी हाथी पर विराजमान थी । चलते-चलते जब दूर से ही उन्होने देखा कि उद्यान मे सन्त-साध्वी एव श्रावक-श्राविका, इस प्रकार चारो तीर्थ मौजूद है तो कुछ क्षणो के लिए उन्हे विचार आया—"मेरे ऋषभ के लिए क्या कमी है ? इसकी हाजिरी मे तो लाखो व्यक्ति सदा उपस्थित रहते है, इसीलिए वह मुझे भूल गया ।"

किन्तु अद्भुत सयोग था कि उसी समय मरुदेवी के विचारो ने पलटा खाया और वे सोचने लगी—"अरे मन ! ऋषभ तो सबका मोह त्याग कर आत्म-

कल्याण मे जुटा हुआ है, और मैं मोह मे पडकर निरर्थक ही कर्मों का वन्धन कर रही हूँ। सत्य तो यही है कि इस ससार मे कौन किसका वेटा, कौन किसकी माता और कौन किसका पिता या पौत्र है ? यहाँ प्रत्येक जीव अनन्तकाल से प्रत्येक जीव के माथ नाते जोडता चला आ रहा है और हर जीव के हर जीव के साथ अनेको सम्वन्ध हो चुके है। प्रत्येक जन्म मे तो वह अपने सम्वन्धी वनाता रहा है, फिर इस एक जन्म के पुत्र के प्रति मुझे मोह रखने से क्या लाभ है ? यह मोह ही तो पुन -पुन जन्म और मरण कराता है।"

इसी प्रकार माता मरुदेवी वोधि-दुर्लभ-भावना भाती रही और उनके परिणामो मे विरक्ति का इतना उत्कृष्ट रसायन आ गया कि उसी समय हाथी के हौदे पर वैठे-वैठे ही उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। भावना की उत्कृष्टता का कितना अनुपम उदाहरण है ?

विना त्याग और तप के केवलज्ञान कैसे मिल गया ?

लोग शका करते है कि अनेक व्यक्ति वर्षों तक धर्मोपदेश सुनते हैं, सामायिक, प्रतिक्रमण एव पौषध आदि धर्म-क्रियाएँ करते हैं तथा महीनो तक अनशन तप किया करते हैं, फिर भी उन्हे केवलज्ञान नही होता और मरुदेवी को ठाट से हाथी पर वैठे-वैठे ही इस ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो गई ?

वन्धुओ, उस चौथे आरे मे छल-कपट और दिखावा वहुत कम पाया जाता था। व्यक्ति जो कुछ करता था उसके पीछे उसकी भावनाएँ भी अपने कर्म के अनुसार होती थी। यह नही होता था कि व्यक्ति करता कुछ था और चाहता कुछ था। आज का व्यक्ति वैसा नहीं है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम और आप है। आप प्रवचन सुनते हैं, सामायिक-प्रतिक्रमण करते हैं और तपस्या मे भी कमी नही रखते, किन्तु यह सव निस्वार्थ भाव मे या केवल कर्मों की निर्जरा के लिए आप नहीं करते। आपकी क्रियाओ के पीछे देखा-देखी, धर्मात्मा कहलवा कर प्रशसा की कामना और इन सवसे वढकर यह इच्छा रहती है कि—'धर्म-कार्य करने से हम सुखी वनेंगे, हमारा ऐश्वर्य वढ़ेगा और परिवार मे अमन-चैन वना रहेगा। किसी को रोग-शोक नही घेरेगा।'

इन भावनाओ का परिणाम यह होता है कि आपकी सम्पूर्ण धर्म-क्रियाओ का फल सीमित हो जाता है। आप लोग अपने धर्म और तप के फल को स्वय ही सासारिक सुखो तक सीमित कर लेते है और इच्छानुसार पा भी जाते है। आप ही वताइये कि क्या ऐसा नही होता ? एक उपवास करके ही आप दूसरे व्यक्ति से पूछते है—'तुम्हारे आज उपवास है क्या ?' यह इसीलिए कि आपके उपवास की जानकारी उसे हो जाय। दान देकर आप अपनी धन राशि को

अपने नाम सहित पत्थर पर लिखवाकर दीवाल मे लगवा देते है कि हर आने-जाने वाला सदा आपको दान-दाता के रूप मे याद करे । और तो और, आप मानता करते है कि अमुक रोग मिट जाने पर या व्यापार मे इतना नफा होने पर मैं तेला करूँगा या अमुक तीर्थ पर जाकर भगवान के दर्शन करूँगा ।

इस प्रकार धर्म-क्रियाएँ और तपादि करने से पूर्व ही आप अपनी करनी के फल को रजिस्टर्ड करा लेते है फिर भला आप ही बताइये कि आपने जितनी शर्त रखी है, उससे अधिक आपको कैसे मिलेगा । यह तो एक प्रकार से धर्म की नौकरी हो गई कि इतना काम करेंगे और इतना लेगे । यही होता है न नौकरी मे ? किन्तु बिना पैसे की बात किये अगर कोई सेवा-भावना से कार्य करता है तो उसे अपनी आशा से अधिक भी मिल जाता है अगर देने वाला उत्तम विचारो का और कार्य की कद्र करने वाला हो तो ।

तनिक ध्यान से समझिये कि धर्म भी आपके कार्यो का फल देने वाला दाता है और उसकी उत्तमता मे तो सन्देह ही नही है कि वह आपकी धर्म-क्रियाओ का फल कम देगा किसी द्वेष या वैर के कारण । इसलिए अगर निस्वार्थ भाव और बिना शर्त या निदान के आप त्याग, तपस्या या अन्य शुभ क्रियाएँ करेंगे तो धर्म के जैसा देने वाला आपको और कौनसा मिलेगा, जो कि आपकी निस्वार्थ सेवा से सन्तुष्ट होकर मोक्ष भी दे सकता है, देता भी आया है । पर उन्ही को, जिन्होने उसकी आराधना का धन, जन, यश या स्वर्ग आदि के रूप मे कोई फल नही चाहा है ।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि प्राचीनकाल मे आज के समान व्यक्तियो मे दिखावे की, बेईमानी की, यश प्राप्ति की और किसी व्यक्ति को, मालिक को या धर्म और भगवान को भी धोखा देने की भावना नही होती थी । एकान्त रूप से समस्त व्यक्तियो की बात मैं नही कह रहा हूँ क्योकि कृष्ण के समय मे कस, राम के समय मे रावण, युधिष्ठिर के समय मे दुर्योधन और भगवान महावीर के समय मे गोशालक जैसे होते चले आ रहे है । मैं तो केवल यह बता रहा हूँ कि जिस प्रकार आज रावण, कस और गोशालक जैसे व्यक्तियो की भरमार है तथा राम, कृष्ण और महावीर सरीखे बिरले ही मिल सकते है, उस प्रकार पूर्वकाल मे अच्छे व्यक्ति अधिक मिलते थे बुरे कम ।

अच्छाई से मेरा अभिप्राय यहाँ हृदय की सरलता से है । आज भी छोटे-छोटे गाँवो मे सरल व्यक्ति अधिक मिलते है । हृदय की सरलता अनेक गुणो को जन्म देती है तथा विद्यमान दोषो को मिटाने की क्षमता रखती है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

भद्दएणेव होअव्व पावइ भद्दाणि भद्दओ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चई ॥

अर्थात्—मनुष्य को भद्र होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है। विषधर सर्प मारा जाता है, निर्विष को कोई नही मारता।

वस्तुत जिस प्रकार विषधर सर्प मारा जाता है और उसे घोर कष्ट उठाने पडते हैं निर्विष को नही, इसी प्रकार कषायो के विष से रहित जीव जहाँ शाश्वत सुख की प्राप्ति कर लेता है, वहाँ कषायो के विष को अपने मे पालने वाला जीव एक बार ही नही अपितु असख्य बार जन्म ले लेकर काल के द्वारा मरण को प्राप्त होता है।

इसलिए भले ही व्यक्ति मे ज्ञान की अधिकता और विद्वत्ता न हो, पर हृदय राग-द्वेष के विष से रहित शुद्ध और सरल होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही वीतराग की वाणी को या सद्गुरुओ के उपदेश को सुवर्ण-पात्र के समान अपने मानस मे सुरक्षित रख सकता है। भद्रता या सरलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

एक धनी साहूकार अपने नौकर के साथ किसी दूसरे गांव को जा रहा था। साहूकार ने नौकर से कहा—"देखो, कोई वस्तु गिर जाय तो उसे उठा लेना।"

"जी!" कहकर नौकर ने सरलता से इस बात को स्वीकार कर लिया।

साहूकार घोडे पर था। चलते-चलते पहले उसका एक कीमती दुशाला पृथ्वी पर गिर पडा। नौकर ने उसे उठाकर हाथ मे ले लिया। कुछ दूर और चलने पर घोडे ने लीद कर दी। बेचारा नौकर आज्ञाकारी था अत उसने लीद को उठाया और दुशाले मे बाँध लिया।

यद्यपि नौकर अज्ञानी था किन्तु सरल और आज्ञाकारी भी था। अगर उसे कुछ समझाया जाता तो वह अविलम्ब सीख को ग्रहण कर लेता। यह केवल सरलता का एक नमूना ही है। मैं इससे यही बताना चाहता हूँ कि ऐसे सरल हृदय रखने वाले व्यक्ति सद्गुरुओ के उपदेशो को भी शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं तथा भगवान की आज्ञा का पूर्ण श्रद्धा एव विश्वास से पालन करते हैं। प्राचीन काल मे भी अधिकाश व्यक्ति शुद्ध और सरल चित्त वाले होते थे अत वे जो कुछ भी सुनते उसे सही रूप मे ग्रहण करके जीवन मे उतार लेते थे और जो कुछ भी करते थे या सोचते थे, उसके पीछे अन्त करण की शुद्ध भावना होती थी जो कि डगमगाती नही थी।

मोक्ष-द्वार खुलकर बन्द हो गया!

माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे जो वैराग्य-भावना भाई उसमे एकत्व,

अन्यत्व, अनित्यत्व एव ससार की असारता का भाव आत्मा की गहराई से उठा था। परिणाम यह हुआ कि शुभ भावनाएँ क्रमश और तेजी से चढती हुई गुण-स्थानो की समस्त श्रेणियाँ पार कर गईं और अल्पकाल मे ही उन्होने सर्वज्ञता एव सर्वदर्शिता हासिल कर ली।

इस प्रकार उनकी पिछले जन्म की उत्तम करणी थी और थोडी जो कसर थी, उसके लिए निमित्त मिल गया। इस अवसर्पिणी काल मे मोक्ष का दरवाजा खोलने वाली माता मरुदेवी ही थी। उनके पश्चात् अनेक भव्य आत्माएँ उस द्वार से अन्दर पहुँची है। पर जम्बूस्वामी के जाने के बाद यह दरवाजा वन्द हो गया, ऐसा लोग कहते है। यह कथन केवल अपने बचाव के लिए ही है। यथार्थ यही है कि मोक्ष का द्वार तो सदा खुला ही रहता है किन्तु उत्कृष्ट करणी करने वालो का अभाव हो गया है। जिनसे कुछ होता नही, वे झट कह देते है—"हम क्या करें ? जम्बूस्वामी तो मोक्ष का दरवाजा ही बन्द कर गये है।"

अरे भाई ! जब तुम उत्तम करणी करोगे और मोक्ष जाने लायक अपनी आत्मा को बना लोगे तो द्वार को खुलना ही पडेगा, कोई रोक नही सकेगा। अन्यथा द्वार खुला होकर भी तुम्हारे लिए बन्द जैसा ही है।

इसलिए, मोक्ष का द्वार खुला है या वन्द, इसकी परवाह न करते हुए हमे बोध प्राप्त करके उसे जीवन मे उतारना है और बोध तभी हासिल होगा, जबकि सन्त-महात्माओ के द्वारा या सद्गुरुओ के द्वारा वीतराग प्रभु के वचनो को पूर्ण विश्वास एव मन की स्थिरता के साथ सुना जाय। महापुरुषो के द्वारा आगम के श्रवण से कितना लाभ होता है यह पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने एक पद्य के द्वारा बताया है। यह पद्य उन्होंने विक्रम सवत् १९२८ मे, जबकि वे केवल चौवीस वर्ष के थे, लिखा था—

> शास्त्र सुने से लहे शिवमारग, श्रावक व्रत अखडित पाले।
> जीव अजीव पुण्य अरु पाप को जानत आस्रव बन्ध को टाले ॥
> सवर निर्जरा मोक्ष को तारत, उत्तम ज्ञान ले कर्म पखारे।
> शोभा तिलोक कहे जिन बैठा कि एक पलक मे होत निहाले ॥

पद्य मे कहा है—"जो भव्यपुरुष शास्त्र-श्रवण करेगा वही मोक्ष-मार्ग पर चल सकेगा।" किस प्रकार चलेगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने आगे बताया है—आगम-श्रवण से व्यक्ति जीव, अजीवादि तत्त्वो को जानेगा तथा मुनिधर्म नही भी ग्रहण कर सका तो भी श्रावक के वारहो व्रतो का तो वह पूर्णतया पालन करेगा ही और सवर के मार्ग पर चलता हुआ अपने कर्मो की

निर्जरा करके जीवन का लाभ उठायेगा। यह भी हो सकता है कि कभी वह माता मरुदेवी और भरत चक्रवर्ती के समान भावो मे तीव्र उत्कृष्टता ले आये और पल भर मे ही सर्वोच्च केवलज्ञान की प्राप्ति करके सदा के लिए निहाल हो जाए।

कहने का अभिप्राय यही है कि शास्त्र-श्रवण से ही मानव आत्मा मे निहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एव चारित्र के महत्त्व को समझेगा तथा पापो के अठारह भेदो की जानकारी कर सकेगा।

दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्ययन मे कहा गया है—

सोच्चा जाणइ कल्लाण सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा जं सेयं त समायरे॥

अर्थात्—जो मुमुक्षु प्राणी होता है वह सुनकर ही कल्याण के मार्ग को और सुनकर ही पाप के मार्ग को जानता है। पुण्य और पाप दोनो को समझकर वह आत्मा के लिए हितकर मार्ग को अपना लेता है।

स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आगम-श्रवण करता है वही पाप के मार्ग को और कल्याण के मार्ग को पहचान सकता है। आप सोचेंगे कि पाप के विषय मे जानना क्या आवश्यक है? धर्म को या धर्माचरण के विषय मे जान लेना ही तो काफी है। पर ऐसा विचार ठीक नही है। जब तक मनुष्य यह नही जानेगा कि पाप कौन-कौनसे है और उनका क्या परिणाम होता है? तब तक वह उनसे भय-भीत कैसे होगा और उनसे बचने का प्रयत्न भी क्यो करेगा? जिसे यह जानकारी होगी कि झूठ बोलना और चोरी करना पाप है और इनके परिणाम स्वरूप नरक के भयकर दुःख भी सहन करने पडते है, वही तो चोरी का और झूठ का त्याग करेगा।

इसीलिए नौ तत्त्वो मे जहाँ सवर, निर्जरा और मोक्ष के बारे मे बताया गया है, वहाँ पाप, आस्रव और बन्ध की भी पूरी जानकारी कराई गई है। यह इसीलिए कि व्यक्ति पापो के स्वरूपो को तथा उनके भयकर परिणामो को भली-भाँति समझ ले और तब पूर्ण आस्था तथा लगन पूर्वक सवर, निर्जरा और मोक्ष के मार्ग पर बढ जाये।

जान-बूझकर विषपान

बन्धुओ, हमारे सामने कल्याण का मार्ग भी है और पापोपार्जन का भी। आवश्यकता है इन दोनो मे से एक के चुनने की। वैसे मै अभी आपसे प्रश्न करूँ कि आप किस मार्ग पर चलना चाहते है? तो, एक भी व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मै पाप के मार्ग को पसन्द करता हूँ और उस पर चलना चाहता हूँ।

यह ठीक भी है, भला पाप के मार्ग पर चलकर नरक, निगोद या तिर्यंच गति के घोर दुःख पाने की अभिलाषा कौन करेगा ? दूसरे शब्दो मे, जान-बूझकर विप कौन पियेगा ?

किन्तु, पापो से नफरत करते हुए भी और पाप के मार्ग से भयभीत होते हुए भी लोग उसी पर चलते है । यह कितने आश्चर्य की बात है ? आप जानते है कि झूठ बोलना पाप है, पर व्यापार मे सुबह से शाम तक झूठ वोलते है । आप जानते है कि परिग्रह पाप है पर जितना भी इकट्ठा किया जा सके उतना करने के चक्कर मे रहते हैं । आप जानते है कि हिंसा पाप है, किन्तु अविवेक और असावधानी रखते हुए अनेकानेक जीवो की हिंसा का कारण बनते है । इसके अलावा हिंसा दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्य हिंसा और दूसरी भाव हिंसा । द्रव्य हिंसा न करने वाला यानी प्रत्यक्ष मे किसी प्राणी का वध न करने वाला भी अगर अहिंसा व्रत ग्रहण नही करता और मन से किसी का वुरा सोचता है या जवान से किसी के मन को दुखाता है तो वह हिंसा का भागी वनता है । भला वताइये कि आप लोगो मे से कौन-कौन हैं जो मन, वचन और शरीर से हिंसा का त्याग कर चुके है ? शायद ही कोई ऐसा मिले । तो हिंसा को पाप समझते हुए भी आप हिंसा से नही बचते ।

इसी प्रकार राग, द्वेष, कषाय आदि पापो के कारण है और इनसे कर्म-बन्धन होते है, यह आप भली-भाँति जानते है, किन्तु कितने व्यक्ति ऐसे है जो इन सव पापो के मूल मे वचते है ? विरले ही कोई ऐसे मिलेगे ।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि पापो से, नाम से घोर घृणा करने वाले और पापो के फल से डरने वाले आप लोग पाप-मार्ग पर ही तो बढते रहते हैं । फिर कल्याण कैसे होगा ? यह तभी हो सकेगा जबकि आप लोग कम से कम श्रावक के एकदेशीय व्रत तो ग्रहण करें और उनका सचाई से पालन करें । वहुत से व्यक्ति व्रत ग्रहण कर लेते है, किन्तु जहाँ थोडी भी दिक्कत आई वहाँ आगार है, कहकर मार्ग साफ कर लेते है । जैसे रात्रि भोजन का त्याग किया और जव तक वरावर शाम को खाना मिलता रहा कोई वात नही हुई, पर किसी दिन दुकान मे खूव ग्राहक आये, खाने की फुरसत नही मिली या यात्रा करके घर आये और तव तक दिन समाप्त हो गया तो खाने का रास्ता निकाल लिया कि—अन्दर-बाहर, रोग और भूल का मेरे आगार है । बस, आगार के बहाने एक दिन भी व्रत का पालन नही हो सका ।

इसी तरह व्रत ग्रहण किये तो धन की मर्यादा करली । किन्तु पुण्य-योग मे व्यापार मे नफा ही नफा हुआ तो अनाप-शनाप पैसा आ गया । अव क्या

करें ? रास्ता निकालना पड़ा और अपनी वणिक-बुद्धि जो कि सर्वोच्च कहलाती है उसके द्वारा कह दिया—'इतना धन इस पुत्र का है, इतना दूसरे का और बचा हुआ पौत्रो का है।"

यह हाल है आपके व्रत-पालन का। इस पर भी आप कहते हैं—'पुराने जमाने मे तेला करते ही देवता सेवा मे हाजिर हो जाते थे, पर आज मास-खमण करने पर भी किसी देव की शक्ल दिखाई नही देती। पर आप मासखमण भी तो वैसे ही करते है जैसे सामान्य व्रतो के पालन मे धर्म को धोखा देते हैं। क्या आप तपस्या करते समय अपने मन, वचन एव शरीर को उसी प्रकार निर्दोष रखते हैं, जिस प्रकार पुराने समय मे साधक रखते थे ? नही, केवल अन्न ग्रहण न करने के अलावा और किसी प्रकार का सयम आप नही रख पाते। यही कारण है कि देवताओ के सेवा मे उपस्थित न होने का। आप मनुष्यो को धोखा दे सकते है देवताओ को नही, क्योंकि उन्हे अवधिज्ञान होता है।

तो बन्धुओ ! अगर आप यथार्थ मे ही पापो से नफरत करते है और आत्म-कल्याण की चाह रखते है तो आपको सवर के मार्ग पर चलना चाहिए। सवर का मार्ग आप धर्मोपदेशो मे तथा स्वाध्याय मे समझ सकेंगे। किन्तु आपको वीतराग प्रभु के वचनो पर विश्वास करना होगा तथा उनकी आज्ञाओ को जीवन मे उतारना होगा। इसमे तर्क-वितर्क नही चल सकते। जहाँ तर्क-वितर्क करने की और शका की भावना आपके हृदय मे आई कि आप गुमराह हो जाएँगे। एक उदाहरण है—

बैल वकील नहीं है !

एक वकील घूमते-घामते किसी तेली के घर की तरफ निकल गये। उन्होंने जीवन मे कभी कोल्हू चलते नही देखा था अत बडे ध्यान से बैल को आँख पर पट्टी बांधे घूमते हुए देखने लगे।

ठीक उसी समय तेली जो कि अन्दर सोया हुआ था, आँखें मलते-मलते बाहर आया और वकील साहब को खडे देखकर बोला—"आप कैसे पधारे हैं, साहब ?"

वकील ने हँसते हुए कहा—"भाई, मुझे चाहिए कुछ नही, मै तो इस बैल को लगातार गोल दायरे मे चलते हुए देखकर खडा हो गया था। पर यह तो बताओ कि अगर तुम सोये रहते और यह बैल चलना बन्द कर देता तो तुम्हे कैसे पता चलता ?"

"क्यो ? इसके गले मे घन्टी जो बँधी हुई है। जब तक यह चलता रहता

है, गर्दन के हिलने से घन्टी बजती रहती है। यह रुकता है तो घन्टी बजना बन्द हो जाता और मुझे अन्दर ही इसके रुकने का पता चल जाता है।"

वकील साहब क्षणभर विचार करते रहे और फिर बोले—

"अच्छा यह बताओ कि बैल चलना छोड दे और एक जगह खडे-खडे ही गर्दन हिलाकर घन्टी बजाता रहे तो तुम कैसे जानोगे कि वह रुक गया है?"

"यह कोई वकील तो है नही, साहब, जो जाल रचकर मुझे बेवकूफ बनाएगा। यह पशु है अत इसमे इतनी चतुराई कहाँ?" तेली ने सहजभाव से उत्तर दे दिया। वह नही जानता था कि उससे प्रश्न करने वाला वकील ही है।

किन्तु वकील तेली की बात सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुआ और समझ गया कि वास्तव मे ही तेली विश्वासपूर्वक बैल को चलाता है, उसे उसके चलते रहने मे शका नही होती। क्योकि बैल मे कपट-भावना नही हो सकती। यह सब तो मनुष्यो के काम है।

वस्तुतः मानव न जाने कितने फरेब, जालसाजी, धोखेबाजी और कपट-क्रियाएँ कर सकता है, क्योकि उसमे सरलता नही होती। वह भगवान के वचनो मे अविश्वास करता है तथा गुरुओ के छल-छिद्र भी ढूँढता रहता है। किन्तु ऐसा करने मे उसका कोई लाभ नही होता उलटे नुकसान होता है। अगर वह वीतराग-वाणी पर विश्वास करके चले तो सहज ही अपनी आत्मा को निष्कलुष और उन्नत बनाता हुआ कल्याण के मार्ग पर चल सकता है। पर अगर सन्देह की आग उसके हृदय मे धधक जाती है तो वह सम्पूर्ण आत्म-गुणो को नष्ट करके मनुष्य को मिथ्यात्व, जो कि पाप का मार्ग है, उस पर डाल देती है। परिणाम यह होता है कि जीव मोक्ष-धाम तक कभी नही पहुँच पाता, मार्ग मे ही भटक जाता है। अत मुमुक्षु को शकारहित होकर श्रद्धा के साथ यथाशक्य धर्माराधन करना चाहिए।

कहा भी है—

> **जं सक्कइ तं कीरइ, जं सक्कइ तयम्मि सद्दहणा।**
> **सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं॥**
>
> —धर्म संग्रह २-२१

अर्थात्—जिसका आचरण हो सके, उसका आचरण करना चाहिए एव जिसका आचरण न हो सके, उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। धर्म पर श्रद्धा रखता हुआ जीव भी जरा एव मरणरहित मुक्ति का अधिकारी बनता है।

गाथा मे कितनी सुन्दर बात कही गई है? इसमे कहा है कि जीव धर्मा-

चरण न करता हुआ भी अगर धर्म पर श्रद्धा रखे तो ससार से मुक्त हो सकता है। पर भाइयो! आप उस वकील की भाँति न सोचें कि कोल्हू का बैल खडा-खडा घन्टी बजाता रहे तब भी मालिक को धोखा दे सकता है। बैल मे कपट-भावना नही होती, अत अगर वह खडा हो जाय और जीव-जन्तुओ के काटने मे उसकी गर्दन हिलती रहे साथ ही घन्टी भी बजती रहे तो भी वह क्षम्य है, क्योकि उसकी भावना केवल घन्टी बजाते रहकर मालिक को धोखा देने की नही है। वह या तो सहजभाव मे या थकावट के कारण खडा होगा और जीव-जन्तुओ के परेशान करने से घन्टी भी बज जायेगी।

पर, मनुष्य अगर प्रमाद के कारण और दिखावे के लिए धर्मक्रिया मन, वचन और कर्म इन तीनो के साथ न करे तो वह क्षम्य नही है। वह मन को धर्म-क्रिया से परे रखे तथा सासारिक विषयो मे उलझाये रहे और लोगो को तथा भगवान को मन्दिर मे घन्टी बजा-बजाकर, आरती घुमा-घुमाकर तथा जबान से भवन गुँजाता हुआ पूजा-पाठ के स्तोत्र पढ-पढकर धोखा देना चाहे तो स्वय ही धोखा खायेगा क्योकि कर्म उसके दिखावे मे न आकर उसकी आत्मा को घेर ही लेंगे।

शास्त्र की गाथा मे धर्माचरण न कर पाने पर भी धर्म पर श्रद्धा रखने के लिए कहा है कि इससे भी जीव जन्म-मरण से मुक्त हो सकता है। पर उसका धर्माचरण या धर्म-क्रिया न करना तभी चल सकता है, जबकि मनुष्य किसी घोर व्याधि से पीडित हो, शारीरिक अगो की अपूर्णता आदि हो अथवा वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक निर्बलता यानी शक्ति-हीनता हो। ऐसी स्थिति मे अगर वह धर्म-क्रिया न करके भी अपने सम्पूर्ण अन्त करण मे अपनी अयोग्यता के लिए खेद करता हुआ धर्म पर पूर्ण आस्था रखे और मन से कभी विचलित न हो तो अपनी शुद्ध भावनाओ का पूरा लाभ उठा सकता है।

इसलिए बन्धुओ, हमे वकील की तरह आगम के शब्दो को नही पकडना है कि इसमे धर्माचरण न करने पर भी ससार से मुक्त होना लिखा है अत आचरण की क्या आवश्यकता है? हमे यथाशक्य जीव-अजीवादि तत्त्वो पर चितन-मनन करना है, एकत्व-अन्यत्वादि भावनाओ को भाना है तथा अपनी धर्म-क्रियाओ को दिखावे की न बनाकर आन्तरिक श्रद्धासहित सम्पन्न करना है। ऐसा करने पर ही हम शास्त्र-श्रवण या स्वाध्याय का लाभ उठा सकेंगे तथा पाप के मार्ग से परे रहकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे।

०

२५

मोक्ष गढ़ जीतवा को
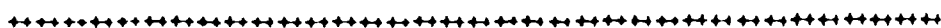
धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल मैंने 'दशवैकालिक सूत्र' की एक गाथा को लेकर बताया था कि सुनने से ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है और सुनने से ही पाप के मार्ग को भी जाना जा सकता है। इन दोनो मार्गों की जानकारी मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। क्योकि मार्ग को जाने बिना वह चलेगा कैसे ?

मार्ग-दर्शन

आप लोग जानते है कि किसी भी मार्ग को जानने के लिए कितना प्रयत्न और परिश्रम करना पडता है। बचपन से लेकर युवावस्था तक स्कूल और कॉलेजो मे पढते है, तब कही धन कमाने के मार्ग आप जान पाते है और वह धन केवल आपके इसी जीवन मे काम आता है, कभी-कभी तो तब तक भी काम नही आता, बीच मे ही साथ छोड देता है।

ऐसी स्थिति मे कल्याण का मार्ग जो कि जीव को धर्मरूपी धन प्रदान करता है वह सहज ही कैसे जाना जा सकता है ? खेद की बात तो यह है कि आज का व्यक्ति रुपये-पैसे और हीरे-मोतियो को ही धन मानता है, धर्म को नही। इसका कारण यही है कि धन उसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है और वह जीवन मे उससे लाभ होता हुआ अनुभव करता है। धर्म-रूपी धन की वह कद्र नही करता, क्योकि धर्म न तो स्वय दिखाई देता है और न ही उससे होने वाले लाभ को वह देख पाता है या समझ पाता है।

पर धन की अपेक्षा धर्म को समझना मनुष्य के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, धन कमाने का मार्ग जानना जितना जरूरी नही है, उतना जरूरी धर्म कमाने का मार्ग जानना है। इसीलिए भगवान ने शास्त्र-श्रवण की प्रेरणा

दी है। शास्त्र-श्रवण करने से मानव धन और धर्म दोनो का अन्तर समझ सकता है तथा धन का मार्ग जो कि पाप का मार्ग है, उससे बचकर धर्म के कल्याणकर मार्ग पर चल सकता है। संक्षेप मे, श्रुति यानी शास्त्र ही आत्मा के लिए जो उपयोगी है उस सन्मार्ग की पहचान या मार्ग-दर्शन कराकर मनुष्य को जीवन का सच्चा लाभ उठाने मे सक्षम बना सकता है।

मोक्ष-गढ विजयी राजा

बन्धुओ, आज मुक्ति की अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति करता है। वह नरक के नाम से नफरत करता है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु क्या नरक के नाम से घृणा करने पर और मोक्ष की चाह रखने पर ही जीव नरक मे जाने से बच सकता है तथा मोक्ष के द्वार पर पहुँच सकता है ? नही, इसके लिए आत्मा को इस ससार-रूपी रणस्थल पर अपनी योग्य सेना के साथ काल रूपी महान् शत्रु के साथ घोर युद्ध करना पडता है और उसमे जीतने पर ही मोक्ष-रूपी किला हाथ आता है।

इस विषय पर पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने एक अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक पद्य लिखा है जिसे मैं आपके सामने रखने जा रहा हूँ। पद्य इस प्रकार है—

जीव रूप राजा समकित परधान जाके,
ज्ञान को भण्डार, शील रूप रथ सार के।
क्षमा रूप गज, मन हय को स्वभाव वेग,
सजम की सेना तप आयुध अपार के॥
सज्झाय वाजित्र शुभ ध्यान नेजा फरकत,
रैयत छ:काय सो बचाय कर्म मार के।
मोक्षगढ जीतवा को कहत तिलोक रिख,
करिये सग्राम ऐसी धीरजता धार के॥

इस पद्य मे बहुत ही सुन्दर तरीके से बताया है कि आत्मा रूपी राजा का कौन मन्त्री है ? क्या उसका खजाना है ? कैसा रथ है ? कौन हाथी और घोडा है ? किस प्रकार की प्रजा और सेना है तथा वह किस प्रकार रण-भेरी बजाते हुए और नेजा फहराते हुए युद्ध करके मोक्ष रूपी गढ को फतह करता है ?

सर्वप्रथम कविश्री ने जीव को राजा बताया है। वह इसलिए कि जीव के विद्यमान रहने पर और उसकी आज्ञा होने पर ही मन एव इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे भी जीव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥

गाथा का अर्थ है—यह शरीर नौका के समान है, जीवात्मा उसका नाविक है और समार समुद्र है। महर्षि इसी देह रूपी नौका के द्वारा ससार-सागर को पार करते है।

जिस प्रकार श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने आत्मा को राजा इन्द्रियादि को सेना और ससार को रणस्थल बताकर आत्मा की महत्ता साबित की है, इसी प्रकार शास्त्र की इस गाथा मे केवल उपमाओ का अन्तर है पर नाविक के रूप मे आत्मा का महत्त्व राजा के समान ही वताया है। ससार अगर रणस्थल माना जाय तो भी सग्राम करना बहुत कठिन है और सागर माना जाय तो उसे पार करना भी कठिन है। इस प्रकार आत्मा राजा के रूप मे और ससार-सागर को पार करने वाले नाविक के रूप मे भी उतना ही महत्त्व रखती है। दूसरे शब्दो मे आत्मा राजा के समान है, तभी ससार-रूपी रणस्थल मे काल जैसे भयानक शत्रु से जीत सकती है और नाविक के समान है अत ससार रूपी विशाल सागर को पार कर सकती है जिसमे कपायो के समान भयकर जीव-जन्तु और काल रूपी तूफान शत्रु के समान छिपे हुए हैं जो देह-रूपी नौका को उलट देने की ताक मे रहते है।

तो अब हमे पूज्य श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज के पद्यानुसार जीव राजा के विषय मे समझना है। पद्य मे महाराज श्री ने बताया है कि जीवात्मा एक महिमामय राजा है और उसका मन्त्री सम्यक्त्व है। कथन पूर्णतया यथार्थ है। जिस प्रकार बुद्धिमान मन्त्री राजा को नेक सलाह देकर राज्य चलाने मे सहायक बनता है और मूर्ख या दुष्ट मन्त्री गलत सलाहो से राजा को कुमार्ग पर चलाकर राज्य का अस्तित्व और कभी-कभी तो राजा का जीवन भी खतरे मे डाल देता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व नेक मन्त्री के रूप मे जीवात्मा को ससार-सग्राम मे विजयी बनाकर मोक्ष-गढ हासिल कराता है तथा मिथ्यात्व रूपी दुष्ट और कपटी मन्त्री उसे शक्तिहीन बनाकर कालरूपी शत्रु से पराजित करवाता है। इसके परिणामस्वरूप मोक्ष-गढ तो दूर की बात है, जीवात्मा को ससार भ्रमण करने और घोर दुखो को सहन करने मे ही अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है तथा निश्चितता से कही पैर टिकाने का भी समय नही मिलता।

आप विचार करेंगे कि पैर कैसे नही टिकते ? हमारे पैर तो आराम से

पृथ्वी पर टिके हुए ही है। यह आपका भ्रम है। आप सोचते है कि हमारे पैर टिके हुए है, पर जन्म लेने के बाद से ही अदृश्य रूप से काल प्रतिक्षण आपके पैरो को आयु के धक्को द्वारा थोडा-थोडा करके मृत्यु के भयानक गर्त की ओर सरकाता जा रहा है। थोडा गहराई से विचार करने पर इसकी सत्यता आप की समझ मे आ जायेगी।

इसीलिए मिथ्यात्व रूपी मन्त्री जीवात्मा के दुख का कारण है और उसे कुमार्गगामी बनाकर गुमराह करने वाला है। पर अगर जीव को सम्यक्त्व रूपी मन्त्री मिल जाता है तो वह पथ-भ्रष्ट नही हो पाता तथा उसकी सलाह से अपने समस्त शत्रुओ से लोहा ले लेता है। आगम कहते है—

> कुणमाणोऽवि निवित्त,
> परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए।
> दितोऽवि दुहस्स उर,
> मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ॥
>
> —आचाराग निर्युक्ति, २२०

अर्थात्—एक साधक निवृत्ति की साधना करता है स्वजन, धन और भोग-विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करता है, किन्तु यदि वह मिथ्यादृष्टि है, यानी उस जीव का मन्त्री मिथ्यात्व है तो वह अपनी साधना मे सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

ऐसा क्यो होता है? इस विषय मे भी 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे बताया गया है कि—

> नादसणिस्स नाण,
> नाणेण विणा न हुति चरणगुणा।
> अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
> नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण॥
>
> —अध्ययन २८, गाथा ३०

यहा है—सम्यक्दर्शन के अभाव मे ज्ञान प्राप्त नही होता, ज्ञान के अभाव मे चारित्र के गुण नही होते, गुणो के अभाव मे मोक्ष नही होता और मोक्ष के अभाव मे निर्वाण या शाश्वत आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार सम्यक्त्व रूपी मन्त्री ही जीव राजा को सही सलाह देकर कल्याण के मार्ग पर चलाता है और उसके अभाव मे मिथ्यात्व गुमराह करके उसे मार्ग से भटका देता है। आगे राजा के खजाने के विषय मे बताया है। जब राज्य है तो खजाना भी विशाल होना चाहिए। उसके अभाव मे राज्य

कार्य किस प्रकार चलेगा ? धन के अभाव मे न सेना इकट्ठी होगी, न हथियार आ सकेंगे और न ही रसद-पानी जुटाया जा सकेगा ।

इसीलिए जीव रूपी राजा अपने पास अक्षय कोष भी रखता है । वह कोष है ज्ञान का । साधारण व्यक्ति सोचते है कि हमारे पास रुपया-पैसा नही है अत हम गरीव है, पर सचमुच ही गरीब तो वह है, जिसके पास ज्ञान रूपी धन नही है । जिस भव्य पुरुष के पास जड धन नही है, पर ज्ञान-धन है, वह उसकी सहायता से ससार मे इस विषम मार्ग पर भी बेफिक्र होकर चलता हुआ मोक्ष-द्वार पर पहुँच सकता है ।

ऐसा व्यक्ति तो जड-धन की आकाक्षा भी नही करता और होने पर उसे बोझ मानता है ।

उतारा हुआ बोझ पुनः नहीं लादूँगा !

कहा जाता है कि लोक-प्रसिद्ध बैरिस्टर चितरजनदास ने अपने पिता की मृत्यु के बाद वकालत प्रारम्भ की थी । जिस समय उनके पिता की मृत्यु हुई, उन पर दस लाख रुपयो का कर्ज था । चितरजनदास जी ने बडी बुद्धिमानी से प्रेक्टिस की और उससे बहुत पैसा आने लगा ।

जब पास पैसा आया तो उन्होने सर्वप्रथम अपने पिता का लिया हुआ कर्ज अदा करने का निश्चय किया और यह मालूम करना चाहा कि कौन-कौन व्यक्ति ह, जिन्हे रुपया देना है ? पर उन्हे यह मालूम नही हो सका । अत उन्होने दस लाख रुपये कोर्ट मे जमा करा दिये और अखबारो के द्वारा घोषणा करवा दी कि—"जिन-जिन व्यक्तियो को मुझसे रुपया लेना है वे कोर्ट मे अपना नाम बताकर जितना रुपया आता हो वह ले जाएँ ।'

किन्तु रुपया कोर्ट मे पडा रहा और बहुत दिनो तक कोई भी व्यक्ति लेने नही आया । आखिर न्यायालय के न्यायाधीश ने चितरजनदास को अपना रुपया वापिस ले लेने के लिए कहा ।

बन्धुओ, आप जानते है कि इस पर चितरजनदास ने क्या किया ? उन्होने कह दिया—"मैने तो न्यायालय मे दस लाख रुपये जमा करके अपने मस्तक का भार कम कर लिया है, अत अब पुन उस भार को लादना नही चाहता । कोई व्यक्ति अपने रुपये ले जाय या नही, मै इन्हे नही ले जाऊँगा । मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नही है ।"

ज्ञानी पुरुष इसी प्रकार धन से उदासीन रहते है, क्योकि वे ज्ञानरूपी धन को धन मानते है तथा रुपयो-पैसो को निरर्थक बोझ । वे भली-भाँति जान लेते है कि धन के द्वारा आत्मा का कोई लाभ होने वाला नही है अपितु हानि ही

अधिक है, क्योंकि पहले तो धन कमाने मे पाप-कर्मो का बोझा आत्मा पर बढता है और उसके बाद दिन-रात उसकी सुरक्षा मे समय लगाना पडता है । परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण जीवन इन्ही दो कार्यों मे समाप्त हो जाता है, आत्म-साधना का वक्त ही नही मिलता । इस प्रकार धन के चक्कर मे पडा हुआ व्यक्ति आत्मा पर कर्मो का बन्धन तो कर लेता है पर उनसे मुक्त होने का कोई प्रयत्न नही कर पाता ।

इसीलिए कहा गया है—

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि,
सव्व जीवाण सव्व लोए ।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, १-५

अर्थात्—ससार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल एव बन्धन नही है ।

वस्तुत धन के जाल मे उलझा हुआ व्यक्ति कभी चैन की सांस नही ले पाता तथा अहर्निश हाय-हाय करके कर्म-बन्धन करता रहता है । सुखी वही ज्ञानी पुरुष होता है जो धन से उदासीन और निस्पृह रहता है ।

'ज्ञानसार' का एक श्लोक और आपके सामने रखता हूं जो इस प्रकार है—

भूशय्या भैक्ष्यमशन, जीर्णवासो वनं गृहम् ।
तथापि नि स्पृहस्याहो ! चक्रिणोप्यधिक सुखम् ॥

अर्थात्—चाहे भूमि पर शयन करना पडे, भिक्षा के द्वारा पेट भरना पडे, कपडे जीर्ण हो और वन मे झोपडी हो, फिर भी निस्पृह मनुष्य चक्रवर्ती सम्राट की अपेक्षा अधिक सुख का अनुभव करता है ।

तो बन्धुओ, जीवरूपी राजा ज्ञानरूपी धन से अपना कोष सदा भरे रखता है, उसे कभी रिक्त नही होने देता । ज्ञान के द्वारा ही वह पाप और पुण्य की पहचान करता है, निर्जरा के महत्त्व को समझता है एव निष्काम तप करके कर्मो से मुक्ति हासिल करता है ।

पर आज आप मे से कितने व्यक्ति है जो ज्ञान का महत्त्व समझते है और उसकी सहायता से धर्म के भेद-प्रभेदो को जानने की जिज्ञासा रखते है ? कहने-सुनने पर आप श्रावक के बारह व्रत भी ग्रहण कर लेते है पर उन व्रतो को पूर्णतया समझने की कोशिश करते हैं क्या ? नहीं, तब फिर व्रतो का पालन सच्चाई से कैसे हो सकता ? व्रत लेना तो बहुत सरल है । आप हाथ जोडकर खडे हो गये और हमने कुछ ही देर मे आपको व्रत दे दिये । किन्तु उनके पालन का जब

समय आता है तब बडी मुश्किल होती है, क्योकि जिन व्रतो को आप ग्रहण करते है उनके बारे मे आप गहराई से जानते नही और जानने की कोशिश करते भी नही ।

अभी अगर मैं आपसे पूछ लूं कि जीवतत्त्व के कितने भेद हैं तो शायद ही कोई यह बताएगा कि उसके पाँच-सौ चौसठ भेद है, और नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति तथा देव गति के भेद बताने वाला तो सभवत एक भी नही होगा । इसी प्रकार अजीवतत्त्व के पाँच-सौ साठ भेद है, पुण्य तत्त्व के नौ है, इन्हे भी कोई नही जानता होगा ।

कहने का अभिप्राय यही है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति भी जब तक तत्त्वो की जानकारी या ज्ञान प्राप्त नही करेगा तब तक वह किस प्रकार हेय, ज्ञेय और उपादेय—यानी छोडने लायक, जानने लायक एव आचरण मे लाने लायक क्या-क्या चीजे है, उन्हे कैसे जानेगा ? उदाहरणस्वरूप, पुण्य मे भी जानने लायक, ग्रहण करने लायक और छोडने लायक है, पर आप सब लोग इस बात को नही समझ पाते ।

जहाज मे कब तक बैठे रहोगे ?

मैं आपको इस विषय मे सक्षिप्त रूप से बताता हूँ—हम पहले पुण्य को जहाज की उपमा देते है उसके बाद विचार करते हैं कि अगर हमारे सामने एक नदी हो और उसमे बाढ भी आ जाय तो उस स्थिति मे हम उसे भुजाओ से तैरकर तो पार नही कर सकते अत किसी जहाज का सहारा लेना चाहिए। यह बात जानने लायक है । जहाज स्वीकार करने लायक है और पार उतर जाने के बाद वह छोडने लायक है ।

पुण्य इसी प्रकार जहाज के समान है । इसकी जरूरत तभी तक है, जब तक कि हमारे समक्ष ससार रूपी नदी या सागर है । इसे पार करते ही पुण्य छोडना पड़ेगा ।

अनेक व्यक्ति हमसे कहते हैं—"पुण्य को न छोडा जाय तो क्या हर्ज है ? वह कौन-सा दुःख देता है ?" बन्धुओ, इसका उत्तर मनोरजक है । मै आपसे आपके प्रश्न के उत्तर मे कहता हूँ कि आपको नदी पार करके अपने घर जाना है, ऐसा ही होता भी है । तो, घर पहुँचने के लिए आप नाव मे बैठें और नाव से नदी को पार कर लिया, किन्तु फिर आप उसमे से उतरे ही नही और कहे—"इसे क्यो छोडूँ ? बडी अच्छी है यह, मुझे कोई कष्ट नही पहुँचा रही ।"

बताइये ! उस स्थिति मे आपको लोग क्या कहेगे ? और कहने वाले लोग वहाँ न भी हो तो आप स्वय उस नाव मे बैठे-बैठे क्या करेंगे ? कब तक बैठेंगे ?

नाव नही छोडेंगे तो घर नही मिलेगा और घर आना चाहेंगे तो नाव छोडनी पडेगी। जब दो मे मे एक को, यानी घर और नाव मे मे किसी एक को चुनना पडेगा तो आप घर को ही तो चुनेंगे और स्वय ही नाव मे ऊबकर उसे छोड देंगे।

बस यही हाल पुण्य का है। जब तक ससार-सागर पार करना है, तब तक वह अच्छा है और अच्छा लगता भी है। किन्तु आपकी आत्मा का घर तो मोक्ष है और आप मोक्षरूपी घर पर जल्दी से जल्दी पहुँचना भी चाहते हैं। उस हालत मे पुण्य को नही छोडूं, यह कहना हास्यास्पद और अज्ञानपूर्ण है। जब तक आप पुण्य को पकडे बैठे रहेंगे, तब तक मोक्षरूपी घर आप से दूर रहेगा। उसे छोडने पर ही घर को पा सकेंगे।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि जीव, अजीव, पाप और पुण्यादि सभी तत्त्वो के विषय मे ज्ञान के द्वारा ही जानकारी हो सकती है। हमारी आत्मा मे तो अनन्तज्ञान छिपा है, आवश्यकता उसे बाहर लाने की है। कवि श्री ने आत्मा को उसके शुद्ध एव ज्ञानमय स्वरूप की दृष्टि से देखकर ही राजा बताया है तथा कहा है कि उसके पास ज्ञान-रूपी अक्षय खजाना है।

पद्य मे आगे कहा है—जीवात्मा रूपी राजा के पास शील रूपी रथ है। उस रथ पर सवारी करके ही वह ससार-रूपी रणस्थल मे तीव्र गति से आगे बढता है। शीलवान की आत्मा बडी शक्तिशाली होती है। सभी धर्म, सभी शास्त्र, सभी ग्रन्थ और पुराण शील की अपार महिमा का वर्णन करते हैं। शील-व्रत स्वय भी मानो पुकार-पुकार कर कहता है कि जो मेरा अवलबन लेगा, उसका सदा मगल होगा। किसी कवि ने कहा भी है—

> शील कहे मम राखत जे, तिनकी रछिया तिन देव करेंगे।
> जे मम त्याग कुबुद्धि करे, तिन देव कुपे तिन सुक्ख हरेंगे॥
> ठौर नही तिन लोक विखे, दुख शोक अनेक सदैव धरेंगे।
> जारत हैं तिन्हि ताप तिन्हि, मम धारत आरत सिन्धु तरेंगे॥

शील का कितना सुन्दर कथन है कि—"जो भव्य पुरुष मेरी रक्षा करेंगे उनकी रक्षा स्वय देवताओ को आकर करनी पडेगी और जो दुर्जन या दुराचारी व्यक्ति कुबुद्धि के वशीभूत होकर मेरा त्याग करेंगे, यानी अनाचार को अपनाएँगे, उनसे कुपित होकर देव उनके समस्त सुखो का हरण कर लेंगे। ऐसे व्यक्तियों को ससार भर मे कही ठौर-ठिकाना नही मिलेगा तथा वे निरन्तर दुःख एव शोक के सागर मे डूबते-उतराते हुए छटपटाते रहेंगे। आधि व्याधि एव उपाधि, ये तीनो ताप उन्हे सदा पीडा पहुँचाते रहेंगे।'

"किन्तु मुझे मान सहित धारण करने वाले महापुरुष कभी भी किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नही करेंगे तथा दु खो के विशाल सागर को भी सहज ही पार कर जाएँगे ।"

वस्तुत हम ऐसा ही प्रत्यक्ष मे देखते भी है। जो दुराचारी तथा कुशील को अपनाने वाले व्यक्ति होते हैं, वे अपना धन, स्वास्थ्य, सम्मान आदि सब खो देते हैं तथा जीवन के अन्त मे पश्चात्ताप एव आर्तध्यान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होकर दुर्गति मे जाते है। विषय-विकार मनुष्य के जीवन को बर्बाद कर देते है और यह दुर्लभ तथा सर्वोत्तम जीवन उसके लिए वरदान न बनकर घोर अभिशाप बन जाता है ।

इसीलिए भव्य जीव कुशील के दलदल मे न फँसकर शील रूपी रथ पर सवार होते है तथा पवन-वेग से भव-सागर पार कर जाते है। जीवात्मा के लिए आगे बताया है कि उस राजा के पास क्षमा रूपी हाथी रहता है। सेना की शोभा हाथी के बिना नही होती और जहाँ कठिन समस्या सामने आती है, हाथी के अलावा कोई भी उसका हल नही कर पाता ।

उदाहरणस्वरूप कई स्थानो पर हमने देखा है और आपने भी देखा या पढा होगा कि प्राचीन राजा लोग अपने नगर के विशाल द्वारो मे तथा महलो के द्वारो मे भी लोहे के बडे-बडे कीले लगवाया करते थे जो आज भी देखने को मिलते है। उन द्वारो को खोलने मे या तोडने मे हाथी के सिवाय कोई भी सक्षम नही हो पाता था। अत्यन्त मजबूत और नुकीले कीलो से युक्त उन वृहत्काय दरवाजो को बडे-बडे शक्तिशाली योद्धा भी तोड नही पाते थे, पर सधे हुए हाथी कीलो की चुभन से लहू-लुहान होते हुए भी अपने मस्तक से भारी टक्करे मार-मारकर उन्हे खोलने मे या तोडने मे सफल हो जाते थे ।

क्षमारूपी गज या हाथी भी ऐसा ही ताकतवर होता है जो दुर्जन से दुर्जन मनुष्य के हृदय पर जडे हुए क्रोधरूपी जबर्दस्त किवाडो को अपनी शक्ति के द्वारा खोल देता है तथा उसके अन्दर रहे हुए मन पर अधिकार कर लेता है। एक क्षमावान के सामने हजार क्रोधी भी आ जाएँ तो उनका पत्थर हृदय मोम बने बिना नही रह सकता। चण्डकौशिक नामक भयानक दृष्टिविष सर्प भी भगवान महावीर की क्षमा के कारण निर्विष के समान बन गया ।

प्रत्येक महापुरुष क्षमा को सबसे बडा धर्म मानकर औरो से क्षमा-याचना करते है तथा स्वय भी औरो को क्षमा प्रदान करते है। होना भी यही चाहिए। यह नही कि स्वय मे गलती हो गई तो कुछ नही कहा तथा औरो से छोटा-सा भी अपराध हो गया तो बरस पडे ।

अपनी गलती पर ध्यान देना चाहिए

एक घर मे बाहर की बैठक मे एक व्यक्ति अपने पुत्र के साथ बैठा था तथा स्कूल मे दिये गये कुछ प्रश्नो के उत्तर समझा रहा था। अचानक ही घर के अन्दर से किसी काँच या चीनी के बर्तन के फूटने की आवाज आई।

पिता ने चौंककर कहा—"बेटा ! देखो तो, शायद तुम्हारे किसी भाई या बहन ने कोई बर्तन तोड दिया है।"

पुत्र बोला—"पिताजी ! यह बर्तन मेरे किसी भाई या बहन ने नही तोडा।"

"वाह ! यही बैठे-बैठे तुमने यह कैसे जान लिया ?" बाप ने आश्चर्य से पूछा।

"पिताजी ! बात यह है कि अगर हममे से किसी के द्वारा बर्तन टूटता तो अब तक माँ के द्वारा गालियाँ देने की या मारने-पीटने की भी आवाज आ जाती, पर वह आवाज नही आई है इसलिए निश्चित है कि बर्तन माँ के हाथ से ही टूटा है।"

पुत्र के इस प्रकार कहने पर जब पिता ने मालूम किया तो पता चला कि लडके की बात सही थी। यानी उसकी माँ के द्वारा ही अचार की बरनी जमीन पर गिर कर फूट गई थी।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है, पर ससार मे इसी प्रकार होता है। लोग अपने बडे से बडे अपराध की ओर ध्यान नही देते, किन्तु दूसरो से थोडी-सी भी भूल हो जाने पर आकाश सिर उठा लेते है अर्थात् भूल करने वाले को गालियाँ देते है, उसकी निंदा करते है या उपहास का पात्र बनाकर लज्जित करते है।

ऐसा करना ठीक नही है। होना तो यह चाहिए कि व्यक्ति अपनी गलती के लिए पश्चात्ताप करे तथा औरो से भूल हो जाने पर उसे क्षमा कर दे।

ऐसी क्षमा सम्यक्त्वी जीव के हृदय मे होती है। जो अपने क्षमारूपी हाथी के द्वारा क्रोधादि कषायो के सुदृढ गढ के द्वार तोड देता है। क्षमारूपी गज के मुकाबले मे कषाय एव विषय-विकार रूपी कोई भी शत्रु नही टिक पाता।

पद्य मे जीवरूपी राजा की सेना मे घोडा कैसा है ? इस विषय मे बताया है कि वह मन है। मन को अश्व की उपमा दी जाती है। यद्यपि मन बडा चचल होता है और प्रतिपल इधर-उधर दौडता रहता है। किन्तु जो साधक अपनी साधना के द्वारा विषय-विकारो से युद्ध करके उन्हे जीतना चाहता है,

वह इस मनरूपी घोडे पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है तथा उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है। साधक का कथन है—

मणोसाहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
त सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कंथगं॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र २३-५८

अर्थात्—यह मन बडा साहसिक, भयकर, दुष्ट घोडा है, जो बडी तीव्र गति से चारो ओर दौड रहा है। पर मैं धर्मशिक्षा रूपी लगाम से इसे अच्छी तरह अपने वश मे किये हुए हूँ।

सत आनन्दघन जी ने भी मन के विषय मे कहा है—

मै जाण्यू ए लिंग नपु सक, सकल रदम ने ठेले।
वीजी वाते समर्थ छे नर, एहने कोइय न झेले हो।
कुन्थु जिन वर, मनहु किमही न बाँझे।

कवि ने कुंथुनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—"प्रभो! मैं तो यह समझता था कि मन नपुंसक लिंग है अत अत्यन्त निर्बल और बुजदिल होगा, किन्तु अब मालूम पडा है कि इसने अपनी शक्ति से समस्त पुरुषो को हरा दिया है। बहुत चिन्तन-मनन से मैं यही समझ पाया हूँ कि मनुष्य के लिए और सब कुछ करना सरल है पर इस मन पर विजय पाना बडा कठिन है।"

वस्तुत इस ससार मे मन को जीतने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये गये हैं जैसे हठयोग, प्राणायाम, मन को निष्क्रिय या मूर्च्छित बनाना, किन्तु ये सारे प्रयत्न व्यर्थ गये हैं क्योकि मन की चचलता मिट नही सकी। अत बुद्धिमानो ने इसे निष्क्रिय करने की बजाय इसकी शक्ति को साधना मे लगाया है। जो ऐसा कर सके है, उनकी साधना सफल हुई है।

आगे जीव राजा की सेना और उसके शस्त्र क्या है यह बताया है। इस विषय मे कहा है—सत्रह प्रकार के सयम इसकी सेना है और तप इस सेना के अस्त्र-शस्त्र। तप भी अतरग और बाह्य, दोनो मिलाकर बारह प्रकार के होते है। तप के द्वारा कर्म शत्रुओ का नाश या निर्जरा होती है।

सेना के आगे रणभेरी बजती है जिसे कविश्री ने शास्त्रो का कठो से उच्चारण करना बताया है और ध्यान को नेजा। ठाणागसूत्र मे ध्यान के चार प्रकार कहे गए हैं—

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमे से आर्त एव रौद्रध्यान छोडने लायक है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान ग्रहण करने लायक।

आगे राजा की प्रजा के विषय मे भी बताया है, क्योकि प्रजा न हो तो

वह राजा किसका कहलायेगा ? तो जीव राजा की प्रजा है छ कायो के प्राणी। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन छहो कायो मे जितने भी प्राणी है वे सब प्रजाजन है और प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है।

तो बंधुओ! पूज्य श्री त्रिलोक ऋषिजी महाराज ने जीवात्मा को राजा बनाकर बडे ही सुन्दर और यथार्थ रूप मे बता दिया है कि इसका मुख्य मंत्री कौन है ? इसका खजाना, रथ, हाथी, घोडा, सेना, शस्त्र, रणभेरी, नेजा और प्रजा क्या-क्या है ? वास्तव मे इन सबकी सहायता से जीवात्मा ससार-सग्राम मे विषय, कषाय, विकार और सबसे बढकर काल रूपी शत्रु से मुकाबला करता है और उन्हें विजित करके मोक्ष-रूपी गढ को हासिल कर लेता है।

एक और भजन मे भी चेतन को उद्बोधन देते हुए यही कहा है—

> चेतन धर ले अब ध्यान, जरा पढले तू ज्ञान,
>
> जिससे बन जाये इनसान कहे सुमति सखी।
>
> तेरा होगा कल्याण, ऐसी देती है सल्ला,
>
> ले ले मोक्ष किल्ला, नही आवागमन।
>
> मिले सुख आठो याम, तेरा होवे सब काम,
>
> मेरा कहा तू मान, जरा मान, मान ! मान !!

कवि बडे आग्रह एव विह्वलता से कह रहा है—"अरे चेतन! जरा ध्यान रखकर ज्ञान ग्रहण कर। अगर तूने ज्ञान हासिल नही किया तो याद रखना, तेरी एक भी क्रिया साधना मे सहायक नही बनेगी और सर्वथा निरर्थक चली जाएगी।

अज्ञानी साधक की दशा बताते हुए शास्त्र मे कहा गया है—

> जहण्हा उत्तिण्ण गओ, बहुअतर रेणुय छुभइ अंगे।
>
> सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मल चिणइ॥

अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सी धूल अपने ऊपर डाल लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल सचय करता जाता है।

इसीलिए प्रत्येक मुमुक्षु को पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके द्वारा हेय, ज्ञेय एव उपादेय को समझकर अशुभ का त्याग करके शुभ मे प्रवृत्त होना चाहिए। एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि ज्ञान सहज ही

प्राप्त नही होता, उसके लिए भी बहुत प्रयत्न करना पडता है और बहुत ठोकरे खानी होती है। आप समझ ही सकते है कि मात्र इस जीवन मे काम आने वाले धन के लिए भी आपको कितना परिश्रम रात-दिन करना पडता है और बम्बई, मद्रास यहाँ तक कि विदेशो मे भी भटकना पडता है। तब फिर ज्ञान-रूपी धन, जो कि जन्म-जन्म तक अपना फल देता है, वह सहज ही कैसे हासिल हो जाएगा ? आप लोक-लज्जा से प्रवचन मे आकर बैठ जाएँ पर मन कही और घूमता फिरे तो क्या ज्ञान का शताश भी आप पा सकेंगे ? इसी प्रकार गुरुजी ने थोडा-सा डाँट-फटकार दिया या एक-दो दिन तक नही पढाया तो तीसरे दिन आप उनका मुँह भी न देखेंगे। ऐसी स्थिति मे क्या ज्ञान आपको हासिल हो सकेगा ? नही, ज्ञान-प्राप्ति के लिए एकलव्य जैसी उत्कट लगन चाहिए। एकलव्य भील-बालक था अत द्रोणाचार्य ने उसे धनुर्विद्या सिखाने से इन्कार कर दिया।

किन्तु वह धनुर्विद्या या धनुष चलाने का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था अत द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसके सामने ही बडी लगन और तन्मयता से अभ्यास करने लगा। फल यह हुआ कि वह द्रोण के शिष्यो की अपेक्षा भी कुशल निशाना-साधक बन गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञान सीखने वाले को मानापमान का भाव त्यागकर आग्रह और हार्दिक लगन मे जैसे भी हो उसे प्राप्त करना चाहिए। जिनके अतर मे ज्ञान की तीव्र पिपासा होती है, वे कभी गुरु की फटकार, उनकी रुक्षता या इसी प्रकार अन्य किसी भी बात की परवाह नही करते।

सच्ची ज्ञान पिपासा

कहते है कि एक बार रस्किन के ज्ञान का लाभ उठाने के लिए उनके प्रवचन का आयोजन किया गया। हजारो व्यक्ति उनका व्याख्यान सुनने के लिए समय पर वहाँ पहुँचे। पडाल भर गया अत लोगो को बाहर भी खडा होना पडा।

किन्तु ठीक प्रवचन प्रारम्भ होने के समय पर लाउड-स्पीकर से घोषणा हुई कि—"जॉन रस्किन का स्वास्थ्य ठीक नही है अत प्रवचन आज न होकर कल होगा।" लोग यह सुनकर अपने-अपने घरो को लौट गए।

अगले दिन बहुत से लोगो ने सोचा—"कौन रोज-रोज समय बर्बाद करे।" इस प्रकार पहले दिन से आधे व्यक्ति ही दूसरे दिन प्रवचन-स्थल पर पहुँच पाये। किन्तु उस दिन भी पहली वाली घोषणा दोहराई गई कि—"रस्किन साहब का स्वास्थ्य ठीक नही हुआ अत प्रवचन कल इसी समय होगा।"

इस घोषणा को सुनकर अनेक व्यक्तियों को क्रोध आया और वे कहने लगे "हम क्या बेकार हैं जो हमेशा भटकते रहेंगे ?" अन्त में हुआ यह कि तीसरे दिन लगभग सौ व्यक्ति ही प्रवचन सुनने के लिए पहुँचे। पर तीसरे दिन भी प्रवचन नहीं हुआ और अगले दिन के लिए स्थगित हो गया।

पर तीसरे दिन भी प्रवचन न होने पर आये हुए कई व्यक्ति आग-बबूला हो गये और क्रोध के मारे पंडाल के खम्भे उखाड़कर कपड़ों को फाड़-फूट गये।

अब आया चौथा दिन। उस दिन केवल पाँच-सात व्यक्ति प्रवचन सुनने आये। ज्ञान रक्षित भी ठीक समय पर आ पहुँचे और बोले—

"भाइयो ! मैं अस्वस्थ नहीं था, केवल यह जानना चाहता था कि लोगों की उस भारी भीड़ में सच्चे ज्ञान-पिपासु कौन-कौन से हैं ? तीन दिन प्रवचन स्थगित करने पर अब मुझे आपकी सही पहचान हो गई है। मैं आप लोगों को यानी ज्ञान-प्राप्ति की सच्ची चाह रखने वाले आप लोगों को ही कुछ बताना चाहता था, उस व्यर्थ की भीड़ को नहीं।"

बन्धुओ, इस सुन्दर उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि ज्ञान की सच्ची चाह कैसी होती है ? जो व्यक्ति वास्तव में ही ज्ञानेच्छु थे, वे तीन दिन लौटकर जाने पर भी निराश नहीं हुए और ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषा लिए चौथे दिन भी उपस्थित हो गये, किन्तु जिनमें कुछ जानने-समझने की सच्ची लगन नहीं थी वे एक-दो दिन में ही क्रोधित होकर अपने धंधों में लग गये।

ऐसे व्यक्ति सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं क्या ? कभी नहीं ! शास्त्रों में कहा गया है—

> अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
> थम्भा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य॥
>
> —उत्तराध्ययनसूत्र ११-३

अर्थात्—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

इसीलिए भजन में कहा गया है—"हे चेतन ! तू पहले अहंकार, क्रोध एवं अविनय आदि को छोड़कर ज्ञान प्राप्त कर ले जिससे सच्चा इन्सान बन सके।

इन्सान का अर्थ हमें मनुष्य की आकृति से नहीं लेना है अपितु इन्सानियत या मानवता की दृष्टि से लेना है। आकृति से तो असंख्य इन्सान हैं कि इन्सानोचित गुणों का अभाव होने से वे इन्सान दिखाई देते हुए भी

पशु के समान है। इसलिए प्रत्येक मानव को मानवोचित गुणो का सग्रह करना चाहिए, और वे गुण सत-महापुरुषो के सपर्क से, उनके आचरण से एव उनके धर्मोपदेश सुनने से मिल सकते है। वीतराग प्रभु की वाणी को सत पुरुष ही जन-साधारण तक पहुँचाते है अत पूर्ण उत्साह, लगन, जिज्ञासा, विनय एव निरभिमानतापूर्वक ऐसे सद्गुरुओ के वचनो को जिस प्रकार और जहाँ भी सम्भव हो सुनने व समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा और कोई मार्ग आत्मोत्थान का नही है।

कवि सुन्दरदास जी ने सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए अपने एक पद्य मे लिखा है—

लोह को ज्यो पारस पखान हु पलटि देत,
कचन छुअत होय जग मे प्रमानिये।
द्रुम को ज्यो चन्दन हु पलटि लगाइ बास,
आपके समान ताके सीतलता आनिये॥
कीट को ज्यो भृग हू पलटि कै करत भृग,
सोऊ उडि जात ताको अचरज न मानिये।
सुन्दर कहत यह सगरे प्रसिद्ध वात,
सद्य सिस्य पलटै सु सत्य गुरु मानिये॥

इस पद्य की भाषा यद्यपि अलकारिक या उच्चकोटि की नही है, किन्तु भाव उच्चकोटि के है। इसमे कहा है—"जिस प्रकार पारस-पत्थर लोहे को स्पर्श कर उसे सोना बना देता है चन्दन का वृक्ष अन्य साधारण वृक्षो को भी अपने समान शीतल एव सुगन्धित कर देता है तथा भ्रमर एक तुच्छ कीडे के ऊपर मँडरा-मँडराकर उसे भी अपने समान भ्रमर बनाकर उडने मे समर्थ कर देता है उसी प्रकार जो सच्चे गुरु होते है वे अपने शिष्य को भी अविलम्ब अज्ञानी से ज्ञानी बना देते है यह जगत-प्रसिद्ध बात है।

पर भाइयो! शिष्य मे ज्ञान भले ही न हो पर ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र चाह और अपने गुरु के प्रति आस्था तथा विनयभाव अनिवार्य रूप से होना चाहिए। अन्यथा वह गुरु को भी क्रोधी, खिन्न और दु खी बना देता है। कहा भी है—

वालं सम्मइ सासतो, गलियस्स व वाहए।

वाल यानी क्रोधी, जड, मूढ एव अविनीत शिष्यो को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार पीडित एव खिन्न होता है जैसे अडियल एव उच्छृखल घोड़े पर सवारी करता हुआ सवार।

हाँ, तो मैं भजन के अनुसार यह बता रहा था कि प्राणी को सर्वप्रथम बड़े ध्यान से ज्ञान हासिल करना चाहिए, तभी वह सच्चे मायने में इन्सान बन सकेगा। यह बात चेतन को सुमति के द्वारा कही गई है।

कवि लोग उद्बोधन में शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजकता भी लाते हैं। इसी के अनुसार वे चेतन रूपी राजा की सुमति और कुमति नामक दो रानियाँ कहते हैं। आप जानते हैं कि जिस प्रकार सभी पुरुष एक सरीखे नहीं होते, उसी प्रकार सभी स्त्रियाँ भी एक जैसी नहीं होतीं। कोई सती-साध्वी एवं आचार-परायणा होती है तथा कोई कुबुद्धि की अधिकारिणी होने के कारण पति को भी कुमार्गगामी बनाने का प्रयत्न करती है।

चेतन राजा की भी ऐसी ही दो प्रकार की रानियाँ हैं। एक है—कुमति, जो उसे भोग-विलास एवं विषय-विकारों की ओर आकर्षित करती हुई मूढ़ बनाकर संसार में भटकाती है और दूसरी, जो कि सुमति है, वह सदा अपने जीवात्मा रूपी पति को नेक सलाह देकर धर्म के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करती है ताकि उसका संसार में आवागमन करना रुक जाये। सुमति ही चेतन को ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करती है तथा आत्मा के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप रत्नत्रय की पहचान कराते हुए उसे धर्म के कल्याणकारी मार्ग पर चलने की क्षमता प्रदान करती है। वह बड़े आग्रहपूर्वक बार-बार या प्रतिपल यह कहती रहती है—"राजन् ! तुम इन कषायों से, विषय-विकारों से तथा राग-द्वेषादि आत्मा के समस्त शत्रुओं से घोर युद्ध करके इन्हें पराजित करो और मोक्ष रूपी किला अपने कब्जे में करलो। ऐसा करने पर ही इस संसार में तुम्हारा आवागमन यानी जन्म-मरण मिटेगा और वह शाश्वत सुख हासिल होगा जो सदा आठों पहर बना रहेगा। दुःख का लेशमात्र भी फिर तुम्हें अशान्त नहीं बनायेगा और न ही किसी प्रकार की उपाधि पीड़ा पहुँचायेगी। पर तुम मेरी बात या मेरी प्रार्थना मानो और अवश्य ही उस पर अमल करो।"

जो जीवात्मा सुमति की इस सीख को मान लेता है वह संसार-मुक्त होकर सदा के लिए दुःखों से छूट जाता है।

२६

संघस्य पूजा विधिः

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

हमारे जिन-शासन मे साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका, यह चतुर्विध सघ वहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। अगर यह सघ अपने कर्तव्य यथाविधि पालन करता है तथा इसका प्रत्येक सदस्य अपने आचरण मे विवेक को स्थान देता है या विवेकपूर्वक कार्य करता है तो कभी विवाद उत्पन्न नही होता। किन्तु जिन व्यक्तियो का विवेक सुप्त रहता है वे अपने कार्यो से सघ मे खडबडाहट और अशान्ति पैदा कर देते है। परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण सघ उससे प्रभावित होकर परेशानी का अनुभव करने लगता है। अत एक महिमामय सघ के सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से कभी ऐसा अवमर न आने देना चाहिए, जिसके कारण आपम मे वैमनस्य पैदा हो अथवा झगडा-झझट बढ़े। विरोध की अग्नि बढ न पाये अपितु शान्त हो, यही प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। आप जानते ही हैं कि आग मे ईधन या घी होमने से वह वढती है तथा शीतल जल डालते ही शान्त हो जाती है। इसीलिए अगर मनुष्यो के दिलो मे कभी विरोध या वैमनस्य की अग्नि प्रज्वलित हो भी उठे तो अन्य व्यक्तियो को घृत रूपी वढावा न देकर उसे अपने मधुर एव शीतल वचनो से शान्त करना चाहिए। ऐसा करने से जो थोडी गडवड होती भी है तो समाप्त हो जाती है।

किन्तु, हम देखते हैं कि आज के व्यक्ति सघ का महत्त्व एव अपने कर्तव्य को एक ओर रखकर तूली लगाते हुए तमाशा देखने वाली कहावत चरितार्थ करते है यानी किन्ही दो व्यक्तियो मे परस्पर मतभेद हो जाय तो उसे मिटाने की अपेक्षा और वढावा देते है तथा उसे तमाशा समझकर अपना मनोरजन करते हैं। अधिकतर व्यक्ति ऐसे होते है जो किसी न किसी पक्ष को और भी

उग्रतर मनोमालिन्य बढ़ा देते हैं। विरोध तो दो में होगा पर उसे शान्त न करते हुए, अनेक व्यक्ति एक-एक पक्ष की तरफ हो जाते हैं और अनेक दूसरे पक्ष की तरफ। फल यह होता है, फूट की खाई गहरी और शीघ्र न भरने वाली हो जाती है।

वैमनस्य क्यों होता है?

संक्षेप में इसका उत्तर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि 'ही' से झगड़ा पैदा होता है और 'भी' से समाप्त हो जाता है। जहाँ किसी व्यक्ति ने या किसी 'मत' ने कहा—ऐसा ही है, वहाँ समझो कि झगड़ा पैदा हो गया और जहाँ यह मान लिया कि—ऐसा भी होता है वहाँ झगड़ा समाप्त।

विश्व में जितने एकान्तवादी पन्थ हैं वे अपने-अपने मत जैसे—काल, नियति, पुरुषार्थ एवं निमित्तादि को ही पूर्ण सत्य मानकर शेष मतों का निराकरण करते हैं। प्रत्येक मत के अनुयायी अपने मत को सम्पूर्ण मानकर दूसरे मतों की या धर्मों की निंदा करते हैं और इसके कारण धर्म के नाम पर घोर विवाद खड़े हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि हम जिस बात को मानते हैं वह भी धर्म का ही अंग है।

उदाहरणस्वरूप, एक माला को लिया जाय। अगर कुछ व्यक्ति कहें कि माला का अर्थ मनके हैं और दूसरे कहें—नहीं माला डोरी को कहते हैं। ऐसी स्थिति में हम सहज ही समझ सकते हैं कि मनके और डोरी दोनों ही माला हैं, यानी दोनों मिलकर माला कहलाते हैं। ऐसा कहने पर न मनकों का महत्त्व कम होता है, न ही माला का। यही जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त है।

स्याद्वाद सिद्धान्त

स्याद्वाद सिद्धान्त किसी भी मत को असत्य नहीं मानता और न ही किसी एक को सम्पूर्ण मानता है। वह कहता है—'भाई! तुम जिस एक बात को पकड़कर बैठे हो वह सम्पूर्ण नहीं है धर्म का एक ही अंग है।' इस प्रकार प्रत्येक मत के प्रत्येक सिद्धान्त को वह धर्म का एक-एक अंग मानता है तथा समझाता है कि जब इन्हीं सब अंगों के समूह का नाम धर्म है तो आपस में झगड़ते क्यों हो? अगर तुम अपने सिद्धान्त को सत्य मानते हो तो दूसरों के सिद्धान्तों को भी सत्य समझो, अन्यथा दूसरों को गलत कहने से तुम भी गलत हो जाओगे, क्योंकि तुम्हारा सिद्धान्त भी तो औरों की तरह सत्यांश को ही प्रगट करता है। यही विचारधारा स्याद्वाद कहलाती है। इस अनुपम सत्य को मानने से ही धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों, मतों एवं पन्थों में वैमनस्य होता है और कभी-कभी घोर अशान्ति का वातावरण बन जाता है। एकान्तवादी कहते हैं—प्रत्येक कार्य समय

पर होता है दूसरे पूछ लेते हैं—"पुरुषो के दाढी-मूंछे आती हैं पर महिलाओ के क्यो नही ? इसको तो बहुत काल हो गया ?" इस पर कालवादी को चुप होना पडता है।

इसी प्रकार नियतिवादी कहते है—"होनहार बलवान है अतः होनहार या भाग्य से वस्तु प्राप्त होती है।" इस पर पुरुषार्थवादी कह देते है—"थाली के पास बैठे रहने पर होनहार होगी तो पेट भर जाएगा क्या ? पेट तो हाथो के द्वारा पुरुषार्थ करने पर ही भरेगा।"

इस प्रकार पाँचो ही वाद एक-दूसरे को गलत ठहराते हुए अपने मत की पुष्टि करते है और उनके न मानने पर आपस मे झगड बैठते है। फैसला केवल स्याद्वाद सिद्धान्त जो कि सब सिद्धान्तो का दादा है, वह करता है। वह यह बता देता है कि रसोई का कार्य सम्पन्न करने के लिए जिस प्रकार सभी साधनो की जरूरत होती है, उसी प्रकार धर्माचरण के लिए भी तुम्हारे सब के सिद्धान्तो का पालन करना जरूरी है। इस प्रकार प्रत्येक को महत्त्व देकर और प्रत्येक मत को धर्म का अनिवार्य अग मानकर दादाजी झगडा समाप्त कर देते हैं।

ध्यान मे रखने की बात है कि लोग अपने-अपने देवो को ही देव मानकर अन्य देवो को झूठा साबित करते है। इस समस्या का समाधान हमारे 'हरिभद्र सूरि' ने बडे उत्तम ढग से किया है कि—"जो राग-द्वेष से रहित है, उन्हे ही मैं देव समझता हूँ चाहे वह हरि हो या हर और अन्य भी कोई क्यो न हो। इस प्रकार उन्होने सभी मत-मतान्तरो को मान्यता दे दी। शर्त केवल यही रखी कि देव राग-द्वेष रहित होना चाहिए और कोई भी अन्य चिह्न हो चाहे नही।

वस्तुत पन्थ कोई भी हो—दिगम्बर, श्वेताम्बर, ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध या वैष्णव, मुक्ति उसी आत्मा को मिलेगी जिसमे कषायादि नही रहेगे। कषायो की विद्यमानता मे आत्मा की मुक्ति असम्भव है। आत्माएँ सभी की समान हैं, उन पर किसी मत का कोई लक्षण नही है। भिन्नता केवल बाह्य क्रिया-काण्डो मे है, अत जो भव्य-जीव राग-द्वेष को निर्मूल करने की क्रिया करेगा, वही अपनी आत्मा को पूर्णतया निर्मल बना लेगा और ससार से मुक्त हो जायेगा। दूसरे शब्दो मे धर्म, पन्थ, जाति कुल या क्षेत्र आदि कोई भी वस्तु आत्मा की शुद्धि मे बाधक नही बनती अगर वह कषायो और विकारो से मुक्त होना चाहता है।

उदाहरणस्वरूप, एक कडील है, उसमे रोशनी के लिए बत्ती जलाई गई है। ज्योति एक ही है पर कडील के चारो ओर अगर चार रगो के काच हैं तो

रोशनी चार तरह की दिखाई देगी, पर क्या वह चार तरह की है? नहीं, ज्योति एक ही है केवल काँच भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। अगर ज्योति बुझेगी तो किसी भी रंग की दिखाई नहीं देगी और जलती रहेगी तो उसमें कोई रंग नहीं आएगा।

ठीक यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा अमुक पन्थ के या अमुक जाति के व्यक्ति में हो सकती है, पर जाति या पन्थ बाहरी काँच हैं, इनसे आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। वह तो स्वयं में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्त-चारित्र लिए हुए है और अपनी आन्तरिक शक्ति से ही कर्मों का नाश करती है। समय आने पर जिस प्रकार काँच टूट जाते हैं, उसी प्रकार शरीर नष्ट होते हैं और पन्थ या जाति के बाह्य चिह्न मिट जाते हैं। किन्तु आत्मा में कोई अन्तर नहीं आता वह अपने कर्मों के अनुसार अन्य गति को प्राप्त करती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि अशुभ-कर्म करने पर तो न जैनियों की, न ब्राह्मणों की और न ही मुस्लिम आदि किसी भी जाति के व्यक्ति की आत्मा मोक्ष रूपी मंजिल को पाती है और शुभ-कर्म करने पर इनमें से किसी की भी आत्मा वहाँ पहुँचने से रुक नहीं सकती। अभी मैंने हरिभद्र सूरि का उल्लेख आपके सामने किया था जिन्होंने कहा है—

> नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
> न पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥

अर्थात्—मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में है, न तत्त्ववाद में है और न ही किसी एक पक्ष की सेवा करने में है। वास्तव में तो क्रोध आदि कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।

वस्तुतः व्यक्ति किसी भी मार्ग से चले, उसकी आत्मा संसार से मुक्त हो सकती है, अगर वह कषायों से मुक्त हो जाए तो।

'अमीर' नामक एक उर्दू भाषा के कवि ने भी कहा है—

> शेख काबा से गया वा हम ब्राह्मन दैर से।
> एक थी दोनों की मंजिल फेर था कुछ राह का॥

किसी शायर का कहना यही है कि अपनी आत्मा को विशुद्ध बना लेने के कारण शेख काबा से मोक्ष को गया और इसी प्रकार आत्म-विशुद्धि करके ब्राह्मण 'दैर' यानी मन्दिर से मोक्ष में गया। एक का रास्ता था केवल काबा या मन्दिर रूपी मार्ग का। मंजिल दोनों की एक ही थी।

इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति मार्गों के लिए कभी लडाई नही करते। वे आत्म-शुद्धि को ही महत्त्व देते हैं और आत्म-शुद्धि ही मजिल तक पहुँचाती है मार्ग नही।

संघ की महिमा

बन्धुओ, मैं आपको सघ का महत्त्व बता रहा था कि साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका, इन चारो का एकत्रित नाम सघ है और इन चारो को तीर्थ की उपमा देकर पूजनीय कहा गया है। शास्त्रकारो ने सघ की बडी महिमा गाई है तथा सस्कृत के एक श्लोक मे तो यहाँ तक कहा गया है—

> **रत्नानामिव रोहणः क्षितिधरः ख तारकाणामिव,**
> **स्वर्ग कल्पमहीरूहभिवसरः पंकेरुहाणामिव।**
> **याथोधिः पयसामिवेन्दु महसा स्थानं गुणानामसा-**
> **वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजा विधिः॥**
>
> —सूक्ति मुक्तावली

इस सुन्दर श्लोक मे बताया गया है कि—"जिस प्रकार क्षितिधर यानी पर्वत नाना प्रकार के रत्नो को रखने वाला स्थान है, आकाश तारागणो को धारण करने वाला है, स्वर्ग कल्पवृक्षो का स्थान है, तालाब कमलो का स्थान है तथा सूर्य और चन्द्र तेज का खजाना है, इसी प्रकार सघ गुणो का आगार है अत भगवान के समान इसकी पूजा का विधान किया गया है।"

प्रश्न होता है कि सघ को इतना महिमाशाली क्यो बताया गया है। इसका उत्तर यही है कि सघ मे ही पच महाव्रतो को धारण करने वाले और अज्ञानियो को सन्मार्ग बताने वाले तपस्वी साधु-साध्वी है तथा बारह व्रतो का पालन करने वाले आदर्श श्रावक-श्राविकाए भी इसी मे है जो अपने धन से अभावग्रस्त प्राणियो के अभावो को मिटाते है, तन से व्याधिग्रस्त या अशक्त प्राणियो की सेवा करते है और मन से सभी जीवो का कल्याण चाहते है। इसलिए ही सघ को तीर्थ और गुणो की खान कहा है। जिसके द्वारा असख्य प्राणियो का भला होता है।

किन्तु भाइयो! जिस सघ को रत्न धारण करने वाले पर्वत के समान, असख्य तारो को अपनी गोद मे रखने वाले आकाश के समान, कल्पवृक्षो को जन्म देने वाले स्वर्ग के समान, कमलो को अक मे पोषित करने वाले तालाब के समान और तेज पुज सूर्य और चन्द्र के समान उच्च और महिमामय बताया है, उसी सघ मे रहकर अगर हम लोग वैर-विरोध बढायेगे, सम्प्रदायो और मतो को लेकर खीचातानी करेंगे, एक-दूसरे की निन्दा तथा आलोचना करके

लोक-लिहाज या पोल खुल जाने के डर से उस व्यक्ति का मनमाना आचरण करना बन्द हो गया।

इससे वह दुष्ट बडा क्रोधित हुआ और दिन-रात संत को कोसने और गालियाँ देने लगा। उसकी गालियाँ सुनकर महात्मा का शिष्य घबरा गया और उनसे बोला—"भगवन्! किसी और स्थान पर चलिए, मुझसे दिन-रात इस व्यक्ति का निरर्थक गालियाँ देना सहन नही होता।"

इस पर महात्माजी ने कहा—"वत्स! यह तो हमारे लिए बडा सुन्दर अवसर है अतः जितने दिन इस नगर मे रहना है, हमे यही रहना चाहिए।"

गुरुजी की बात सुनकर शिष्य मुँह बाये खडा रह गया। वह उनकी बात समझा नही अतः प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता रहा।

इस पर महात्मा जी ने कहा—"बेटा! वह व्यक्ति अज्ञानी है जो निरर्थक गालियाँ देकर या कटु वचन कहकर कर्मों का बन्धन करता है, किन्तु हमारे लिए वह कसौटी है कि हम दुर्वचन सुनकर उन्हे समभाव से सहन कर इस पर खरे उतरते हैं या नही। कटुवचन या गालियाँ हमारे लिए परिषह है और उस परिषह को जीतने पर ही कर्म-निर्जरा हो सकती है। समभाव के अभाव मे हम कितनी भी तपस्या या साधना क्यो न करें, हमारी आत्मा ससार से मुक्त नही हो सकती अतः तुम उस नादान को दया का पात्र समझकर समभाव एव क्षमाभाव मे उसे सहन करो, किंचित भी मन को विचलित न होने दो।"

वस्तुत समत्व एव क्षमा साधना और सयम का सर्वप्रथम चरण है। तभी कहा गया है—

> किं तिव्वेण तवेण, किं जवेण किं चरित्तेण।
> समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कहवि न हु होई॥

—सामायिक प्रवचन

गाथा मे स्पष्ट बताया है—चाहे कोई कितनी ही तीव्र तपस्या करे, जप करे और मुनि वेश धारण करके स्थूल क्रिया-काण्डस्वरूप चरित्र का पालन करे, किन्तु समभाव रूप सामायिक के अभाव मे न किसी को मुक्ति मिली है और न मिलेगी।

तो बन्धुओ! संत अपने शिष्य को इस प्रकार समझाकर पूर्ण समत्व एव कषाय-रहित भाव से अपनी साधना मे लग गये। उधर पडोसी का कार्य जारी रहा अर्थात् वह उसी प्रकार संत को कोसता रहा एव गालियाँ देता रहा।

किन्तु एक दिन उसकी गालियाँ सुनाई नही दी और पडोस के घर मे

जैसे सन्नाटा छाया रहा। संत को तनिक आश्चर्य हुआ पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और अपनी दिनचर्या व रात्रिचर्या में संलग्न रहे।

पर अगले दिन संत को उस दुष्ट व्यक्ति की कराहें सुनाई देने लगी। संत चौंके और शिष्य से बोले—"वत्स! लगता है कि हमारा पड़ौसी बीमार है, चलो उसे देख आएँ।"

शिष्य आश्चर्य से बोला—"यह क्या भगवन्! वह व्यक्ति इतने दिनों से रात-दिन हमें गालियाँ सुनाता आ रहा है और आप उसे देखने चलेंगे?"

"तो क्या हुआ? अगर वह अपने कर्तव्य को छोड़ दे तो हमें भी अपना कर्तव्य भूल जाना चाहिए? साधु का कर्तव्य तो प्रत्येक प्राणी पर ममता रखना होता है। आओ, देर मत करो।"

इस प्रकार कहकर महात्माजी अपने शिष्य के साथ उस व्यक्ति के घर गये। वहाँ जाकर देखा तो मालूम हुआ कि वह मनुष्य तीव्र बुखार के कारण छटपटा रहा है और कराह रहा है। संत उसके समीप बैठे और स्नेह से पूछा—

"भाई कब से तुम्हें ज्वर चढ़ा है, और क्या यहाँ कोई तुम्हारी सेवा के लिए नहीं है?"

"मेरा कोई भी नहीं है जो सेवा करे।" यह कहकर व्यक्ति चुप हो गया।

"अच्छा, मैं तुम्हारी सँभाल कर लूँगा।" कहकर संत ने उसके ताप का अन्दाजा लगाया और सभी उपयुक्त सेवा-कार्य करने में जुट गये। शिष्य बेचारा अवाक् होकर गुरु को देखता रह गया और उनकी आज्ञानुसार कार्य करने लगा।

व्यक्ति को तीव्र ज्वर था और वह तीन-चार दिन के बाद कुछ कम हुआ। संत भी तब तक उसकी सेवा में लगे रहे और औषधि तथा पथ्य-पानी आदि सभी का उन्होंने पूरा ध्यान रखा। बीमार व्यक्ति घोर आश्चर्य और पश्चात्ताप से डूबा हुआ सोचता रहा—"धन्य! ये संत जिन्होंने महीनों गालियाँ खाकर भी मेरी इस प्रेम-भाव से सेवा की।"

जब वह कुछ ठीक हुआ तो अपने दुर्व्यवहार के लिए भारी पश्चात्ताप और [illegible] संत के चरणों पर लोट गया तथा रो-रोकर क्षमा-याचना करने लगा। संत ने बड़े प्रेम से उसे उठाया और कहा—"भाई! यह क्या करते हो? प्रत्येक मानव का कर्तव्य होता है कि वह दूसरे के दुःख-दर्द में काम आये। मैंने भी यही किया है, इसमें कौन सी अनहोनी बात हुई?"

वडी कठिनाई से वह व्यक्ति शात हुआ पर उसने सत को फिर कभी नही छेंडा और उनका शिष्य बनकर स्वय भी आत्म-शुद्धि मे लग गया।

बन्धुओ, महापुरुष ऐसे ही होते है जो स्वय तो सन्मार्ग पर चलते ही हैं, साथ ही अपने सदाचरण से प्रभावित करके औरो को भी सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। अपने शुभ आचरण से ही वे तीर्थ के रूप मे सघ का सदस्य वनते है और उसे पूजनीय बनाते हैं। किन्तु आप इस बात से यह न समझे कि केवल साधु या महात्मा ही ऐसा कर सकते है और वे ही सघ के मुख्य अग है।

चारो तीर्थ समान है ?

सघ के सदस्य के रूप मे साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, सभी समान महत्त्व रखते है और सभी अपने सुन्दर आचरण से स्वय अपनी आत्मा को तो निर्मल एव कर्म-रहित बनाते ही है, साथ ही सघ के गौरव मे भी चार चाँद लगा देते है। केवल एक उदाहरण से ही आप यह बात समझ लेगे। वह उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि एक छत है और वह चार विशाल खभो के सहारे टिकी हुई है। अब आप ही वताइये कि उन चार थभो मे से कौन सा खभा अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्त्व रखने वाला है ?

आप निश्चय ही यह उत्तर देगे कि कोई भी खभा ज्यादा या कम महत्त्व नही रखता, चारो ही समान महत्त्व रखने वाले है। साथ ही आप यह भी कहेगे कि अगर एक भी खभे मे दरार आ जाये तो छत को खतरा हो जाता है और उसके टूट जाने से छत गिर जाती है, टिक नही सकती।

वस, यही हाल सघ का है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ, ये चारो ही सघ रूपी छत के चार विशाल स्तम्भ है। चारो ही समान महत्त्व रखते है और कोई भी किसी से कम नही है। इसलिए अगर एक भी खभा अगर कमजोर हो जाय यानी इनमे से कोई भी अपने कर्त्तव्य को भूलकर अशुभ मे प्रवृत्त हो जाय तो सघ रूपी छत खतरे म पड जाती है और उसके नष्ट होने की सभावना पैदा हो जाती है।

यह समझकर आपको अपने गौरव एव महत्त्व का ध्यान रखते हुए सदा यही खयाल रखना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या है और मन, वचन, धन या शरीर, इनमे से किस-किसके द्वारा हम सघ की सेवा कर सकते है ? आपके पास धन है तो उसे व्याह-शादी या अन्य इसी प्रकार के कार्यो मे कम से कम जरूरत से अधिक या व्यर्थ खर्च न करके सघ म जो असख्य अभावग्रस्त प्राणी है, उनके अभावो को दूर करने मे लगाये तो अच्छा है। अपना धन अपने ही लिए खर्च

प्रदान नही करता। इसी प्रकार ब्याह-शादियो मे, जन्म-दिनो मे या व्यापार मे लाभ होने पर अथवा दुकान का या मकान का मुहूर्त करने पर आप चाहे लाखो रुपये खर्च कर दे, उससे नवरात्रि मे घट के समक्ष बोये हुए घान के समान आपको थोडी प्रशसा तो अवश्य मिल जाएगी, परन्तु अनाज के समान पुण्यरूपी सच्चा लाभ प्राप्त नही हो सकता।

इसलिए बन्धुओ! आपका गौरव इसी मे है कि आप अपने आपको सघ का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ मानकर साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका जिसको जैसी जरूरत हो, वैसी ही उनकी व्यवस्था करने का प्रयत्न करो तथा दीन-दुखी एव असहाय प्राणियो की ओर विशेष ध्यान रखो। यह मत सोचो कि आपके देने से धन खर्च हो जायगा, अपितु यह सोचकर प्रसन्न होओ कि जितना हम दे रहे है उससे कई गुना ज्यादा प्राप्त करते जा रहे है। किसान बीज थोड़े बोता है किन्तु उनसे अनेक गुना अनाज पुन हासिल कर लेता है। इसी प्रकार दान वीज है जो असख्य गुणा वढकर पुण्य की प्राप्ति कराता है। लाभ लेने वाले को नही भी हो सकता है पर आपको तो निश्चय ही होगा।

इसके अलावा आप कम से कम अतिरिक्त धन को भी पुण्य का बीज मानकर इसके रूप मे नही बोयेंगे तो फिर उसका करेंगे क्या? साथ तो वह चलेगा नही, यही रह जाएगा। इसलिए अच्छा यही है कि उसे यहाँ बोकर परलोक मे प्राप्त कर लिया जाय।

तो धन के विषय मे मैंने बताया है और अब यह बताना है कि जिनके पास देने को धन नही है वे किस प्रकार सघ की सेवा करे? तो भाइयो! अगर धन अधिक नही है तो दान न सही, शरीर तो है आपके पास? इससे जिनका कोई नही है उन वृद्धो, रोगियो और अशक्तो की सेवा ही करो। इसमे तो धन की जरूरत ही नही है। पर, आप आगे भी कह सकते है कि जिनके पास देने को धन नही है और स्वस्थ शरीर भी सेवा करने लायक नही है वे क्या करें? उनके लिए भी करने को वहुत है। कम से कम वे सघ के प्रत्येक प्राणी का शुभ सोचें और किसी की निंदा या आलोचना करके लोगो मे आपसी फूट न डालते हुए जहाँ फूट या विरोध हो उसे ही मिटाने का प्रयत्न करें और वढावा तो किसी भी हालत मे न दें। ये सब वातें छोटी महसूस होती है, पर हैं नही। अगर व्यक्ति ऐसा करने लग जायँ तो सघ मे सर्वत्र अमन-चैन रहे, अशाति और झगडो के दर्शन ही न हो।

जो वन्धु इस वात का ध्यान रखेंगे वे यहाँ पर तो सघ का गौरव वढायेंगे ही, परलोक मे भी सुख प्राप्त करेंगे। ○

समभाव से सुनकर उसे क्षमा नही किया और क्रोध से आग-बबूला हो गया तो उसका फल बहुत ही अल्पमात्रा मे मिलेगा। धर्मग्रन्थो मे कहा भी है कि—'एक तरफ तो वह व्यक्ति है, जो क्रोड पूर्व तक नानाविध तप करता है, और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो सामने वाले के द्वारा कही गई कटु बात को पूर्ण समभाव एव शान्तिपूर्वक सहन करके उसे क्षमा करता है। ज्ञानी पुरुष इन दोनो की तुलना करते हुए क्षमावान और समभावी व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रशस्त बतलाते है।

यद्यपि तपस्या का महत्त्व भी कम नही है, तप से घोर कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा कर्म-मुक्त होकर मोक्ष भी प्राप्त कर लेती है, किन्तु तपस्या के पीछे किसी फल की प्राप्ति का स्वार्थ एव क्रोधादि कषाय नही होने चाहिए। तप करके अगर क्रोध किया या तप करके अहकारी बन गये तो सब करा-कराया मिट्टी मे मिल जाता है। मुनि बाहूबलि का दृष्टान्त आपने अनेक बार सुना ही होगा कि उन्होने घोर तप किया, यहाँ तक कि उनके चारो ओर घास-फूस का अम्बार लग गया तथा पक्षियो ने उसमे घोसले बना लिये।

किन्तु केवल अपने मान के कारण वे केवलज्ञान प्राप्त नही कर सके। जब ब्राह्मी और सुन्दरी नामक उनकी बहनो ने आकर उन्हे समझाया—

वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो!
गज चढ्या केवल नही होसी रे' वीर म्हारा ।

बहनो ने कहा—"भाई, इस अभिमान रूपी हाथी से नीचे उतर आओ। इस विशालकाय हाथी पर जब तक बैठे रहोगे, तुम्हे केवलज्ञान प्राप्त नही हो सकेगा।"

बहनो की प्रेरणा से बाहूबलि जी को एकदम होश आया और उन्होने तनिक भी मान न रखकर अपने से छोटो को नमस्कार करने जाने के लिए कदम उठाया। बस, उसी समय वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये। जिस प्रकार गौतम स्वामी को मोह छोडते ही तत्क्षण केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार बाहुबलि को भी मान छोडते ही उसी क्षण केवलज्ञान हासिल हो गया।

स्पष्ट है कि मस्तक पर मडराता हुआ केवलज्ञान भी तब तक प्राप्त नही हो सकता, जब तक कि राग या द्वेष का लेश भी आत्मा मे रहता है। इसीलिए कहा है कि सर्वप्रथम क्रोध कषाय का त्याग करके क्षमावान बनो अन्यथा तपस्या अपना फल प्रदान नहीं कर सकेगी। तप की शोभा क्षमा से है, इसका अभिप्राय यही है कि तपस्या के साथ क्षमा का होना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही तप अभीष्ट फल का दाता बनेगा।

और असली अनाज है मोक्ष। तपस्वी को कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा करके उनसे मुक्त होना चाहिए न कि राज्यादि की कामना करके जन्म-मरण मे वृद्धि करना चाहिए।

मराठी मे आगे कहा है—'राज्याती नर्क।' अर्थात् राज्य पाने पर फिर नरक मे जाना पडता है। यह बात भी ठीक नही है। क्या सभी राजा नरक मे गये हैं ? नही, जिन्होने राज्य प्राप्ति के बाद धर्म-विरुद्ध आचरण किया था वे ही नरक मे गए, बाकी करणी के अनुसार स्वर्ग या मोक्ष मे गये हैं।

तो बन्धुओ ! अब हम पुन अपनी मूल बात पर आते है वह है क्षमा। 'गौतम कुलक' ग्रन्थ की गाथा मे क्षमा को तप का अलकार बताया है। कहा है—उग्र तप की शोभा 'खन्ति' यानी क्षमा से ही है। क्षमा के अभाव मे वह पूर्णतया श्रीहीन साबित होता है।

गाधारी महान् सती एव पतिपरायणा नारी थी, किन्तु उसने अपने समस्त पुत्रो के मारे जाने पर क्रोधित होकर कृष्ण को श्राप दे दिया कि—"तुमने मेरे कुल का नाम मिटाया है पाण्डवो को सलाह दे-देकर और उनके पक्ष मे रहकर। अत अपनी सम्पूर्ण द्वारिका नगर को परिवार सहित जलते हुए अपनी आँखो से देखोगे।"

इस पर कृष्ण ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—"माता ! वह तो होना ही है, यानी द्वारिका नगरी को जलना ही है, पर आपने क्रोध मे श्राप देकर अपनी जीवन भर की तपस्या के फल को क्यो मिटा दिया ?"

कृष्ण की बात का रहस्य आप समझ गये होंगे। तप केवल अनशन ही नही होता अपितु वह बारह प्रकार का होता है। गाधारी ने उनका पालन किया था तथा पति के अधे होने पर स्वय भी अपनी आँखो पर जीवन भर पट्टी बांधे रही थी। उस तपस्विनी नारी के तप का उसे महान फल मिलता किन्तु जैसा कि अभी मैंने तपस्या मे चूक हो जाने के विषय मे कहा था, वह भी क्रोध आ जाने के कारण चूक गई। परिणाम यह हुआ कि उसकी तपस्या का फल कृष्ण को श्राप देने के कारण सीमित हो गया और वह तप के सच्चे और महान् फल से वचित रह गई।

इसीलिए कहा गया है कि तप की शोभा और तेजस्विता अक्रोध या क्षमा के कारण ही बढती है और तभी वह अपना समुचित फल प्रदान करता है। आज हम देखते हैं कि लोग उपवास, बेला, तेला या मासखमण भी कर लेते है, किन्तु तपस्या के दौरान अगर बालक किवाड की साँकल भी बजादे तो तीव्र क्रोध से भरकर कह बैठते है—'नालायक ने मेरा सिर खा लिया भगवान इसे

उन्होने गौतमस्वामी के पधारते ही हाथ जोडे और गद्गद होकर कहा—"भगवन् ! मैं आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। कृपा करके अपने चरण मेरे नजदीक कीजिए ताकि उनकी धूलि मैं मस्तक पर चढा सकूं।"

सच्चे सत और सच्चे श्रावक ऐसे होते है। तभी वे अपनी आत्मा को बिना किसी व्यवधान के सीधे शिवपुर की ओर ले जाते है। आज ऐसे महापुरुष कितने मिलते है ? हम देखते हैं कि समाज मे, सघ मे और घर-घर मे सदा तू-तू, मैं-मैं चलती रहती है। कोई भी अपने थोथे अहकार को नही छोडता और कोई भी किसी को नगण्य अपराध के लिए क्षमा नही कर सकता। फल यह होता है कि अपराध करने वाला भी और जिसके प्रति किया गया हो वह भी, दोनो ही अपनी गति बिगाड लेते है। इतना ही नही, आज के व्यक्ति तो बिना किसी का अपराध होने पर भी स्वभावत और बिना वजह ही किसी न किसी की निन्दा, आलोचना करने मे और किसी न किसी को नीचा दिखाने के प्रयत्न मे लगे रहते है। जैसे उनका खाया-पिया इस सबके बिना पच नही सकता।

पर-घर का कचरा अपने घर मे क्यो ?

अरे भाई ! औरो के दोष देखने से और उनकी आलोचना करने से आपकी आत्मा का कुछ भला होगा क्या ? नही, अपनी आत्मा का भला तो अपने दोषो को देखने और उन्हे मिटाने मे ही हो सकेगा। दूसरो की बुराई करने से तो अपनी आत्मा और बुरी बन जाएगी तथा उस पर कर्मों का बोझ अधिक बढेगा। ऐसी स्थिति मे औरो की बुराई करने का अर्थ यह होगा कि दूसरो के घर का कचरा उठाकर हम अपने घर मे भरेंगे। यह अच्छी बात नही है। जब अपने बँगले मे आप किसी अन्य के घर से उडा हुआ एक तिनका भी आने देना पसद नही करते तो फिर दूसरो के दोष खोज-खोजकर अपनी आत्मा मे दोषारोपण क्यो करते है ?

इस बात को बडी गहराई से समझने की आवश्यकता है। किसी की निन्दा-आलोचना करना या क्रोध के कारण कटुवचन कहना ये सब कषाय के परिणाम है और कषाय के कारण आत्मा महान् कर्मों का बन्धन करती हुई निम्न गतियो मे जाती है। तनिक विचार कीजिए कि हमने पूर्व-जन्मो मे तो न जाने कितने शुभ-कर्म करके पुण्य सचय किया होगा, जिससे यह मुक्ति को भी प्राप्त करा सकने वाला मानव-जीवन मिला है, पर अब इसे पाकर भी पुन अशुभ एव कषायपूर्ण कर्म करके फिर से अनन्त ससार बढाना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

हाथ मे आये हुए हीरे को बालक फैंक देता है। वह अपनी गलती के लिए

जल के समान है जो कि भडके हुए कषायो को शात कर देता है और क्रोध वह आग है जो कषायो को और भी बढाती है। क्रोधी व्यक्ति को ध्यान नही रहता कि वह क्या कह रहा है और क्या कर रहा है।

अँग्रेजी मे एक कहावत है—

"An angry man opens his mouth and shuts his eyes"

अर्थात्–क्रोधी व्यक्ति अपना मुँह खोल देता है और आँखें बन्द कर लेता है।

आप सोचेंगे—'ऐसा तो नही होता। मनुष्य क्रोध मे होने पर तो और भी आँखें निकालकर अपने शिकार को देखता है तथा दुर्वचनो की बौछार करता रहता है।' आपका यह विचार भी ठीक है। वास्तव मे ही क्रोधी व्यक्ति अपनी आँखें बन्द नही करता। किन्तु यहाँ आँखो से अभिप्राय चक्षु-इन्द्रिय से नही है वरन् विवेकरूपी आँखो से है। इसीलिए कहावत सही उतरती है। आप और हम सभी यह समझ सकते हैं और समझते भी हैं कि क्रोध का आक्रमण होने पर व्यक्ति को भान नही रहता कि वह उचित शब्द कह रहा है या अनुचित। ऐसा विवेक-शून्यता के कारण ही होता है। यह बात नही है कि आवेश के समय व्यक्ति के हृदय मे विवेक होता ही नही, वह तो विद्यमान रहता है किन्तु यह सोया रहता है या कि व्यक्ति उससे काम लेना बन्द कर देता है। इसी को विवेकरूपी नेत्रो का बन्द करना कहते है।

इन विवेक-नेत्रो को बन्द करने से कषाय भाव बढता है तथा क्षमा-भाव लुप्त हो जाता है। बडे-बड़े ऋषि-महर्षि भी कभी-कभी क्रोध मे आकर दुर्वचन कह बैठते है या अपनी तपस्या के बल पर श्राप दे देते है। अगर उस समय उनका विवेक जागृत रहे तो वे इस प्रकार अविवेकपूर्ण कार्य कभी न करें। विवेक ही बता सकता है कि क्या कहना उचित है और क्या कहना अनुचित, या कि, क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। विवेक मानव को सदाचारी बनाता है और अविवेक अनाचारी। इसलिए क्षमा-धर्म को ग्रहण करने वाले आत्म-हितैषी व्यक्तियो को अपने विवेक पर काबू रखना चाहिए और किसी क्षण भी उसे सुप्त नही होने देना चाहिए।

गाथा के दूसरे चरण मे कहा है—उपशम यानी क्षमा की शोभा समाधि मे है। जब अन्तर्मानस मे समाधि-भाव रहता है तभी क्षमा-धर्म का पालन समुचित रूप से हो सकता है। उपशम के मूल मे भी विवेक ही कार्य करता है।

औपपातिक सूत्र मे बडे सुन्दर ढग से बताया गया है—

धम्म णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसम आइक्खइ।
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खइ॥

सूत्रकृतांग मे यही बात समझाई गई है—

एवं तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा॥

अर्थात्—जो अज्ञानी व्यक्ति धर्म एव अधर्म से सर्वथा अनजान रहता है, वह केवल कल्पित तर्क-वितर्को के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करता है, वह अपने कर्मबन्धनो को नही तोड सकता, जैसे पक्षी पिंजरे को नही तोड पाता।

वास्तव मे ही अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्ज्ञान के अभाव मे कैसी भी क्रिया, साधना या तपस्या क्यो न करे वह करोडो जन्मो तक उद्यम करके भी जितने कर्मो का क्षय नही कर पाता, उतने कर्मों का सम्यक्ज्ञानी अपनी मन, वचन और शरीर, इनकी प्रवृत्ति को रोककर स्वोन्मुख ज्ञातापने से क्षणमात्र मे ही क्षय कर डालता है। यह जीव आत्म-ज्ञान के अभाव मे मुनिव्रत धारण करके अनन्त बार नवम ग्रैवेयक तक के विमानो मे भी उत्पन्न हुआ किन्तु सच्चा सुख हासिल नही कर सका। इसलिए ज्ञान के द्वारा धर्म-अधर्म को समझकर ही मुमुक्षु को अपना आचरण शुद्ध बनाना चाहिए और बिना ज्ञान प्राप्त किये निरर्थक हाथ-पैर मारना बन्द करके ससार-सागर को ज्ञानपूर्वक सहज और सीधे ही तैरकर पार कर लेना चाहिए।

गाथा के चौथे और अन्तिम चरण मे कहा है—"सीसस्य सोहा विनयेन सन्ति।" इसका अर्थ है—शिष्य की शोभा विनयगुण धारण करने मे है। जो शिष्य विनयी होता है वही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त करके आत्म-कल्याणार्थ सच्ची साधना करता है।

शिष्य को अन्तेवासी भी कहते हैं। अन्तेवासी का अर्थ है—नजदीक रहने वाला। आप सोचेंगे कि दूर रहने वाला क्या शिष्य नही कहलाता? कहलाता है, अगर वह अपने गुरु की आज्ञा का यथाविधि विनयपूर्वक पालन करे तो। गुरु की आज्ञा का पालन न करने वाला तो उनके समीप रहकर भी अन्तेवासी नही कहला सकता।

उदाहरणस्वरूप, गोशालक भगवान महावीर के समीप रहकर भी अन्तेवासी नही था और एकलव्य भील गुरु द्रोणाचार्य से दूर रहकर भी स्वय को अन्तेवासी साबित करता था। भले ही द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य रूप मे स्वीकार नही किया था तथा अपमानित करके अपने यहाँ से निकाल दिया था।

तो विनय एक महान् गुण है जिसे अपनाकर शिष्य उनके ज्ञान को ग्रहण करता है। जो उच्छृखल शिष्य विनय को महत्त्व नही देता वह प्रथम तो

सूत्रकृतांग मे यही बात समझाई गई है—

एवं तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥

अर्थात्—जो अज्ञानी व्यक्ति धर्म एव अधर्म से सर्वथा अनजान रहता है, वह केवल कल्पित तर्क-वितर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करता है, वह अपने कर्मबन्धनो को नही तोड सकता, जैसे पक्षी पिंजरे को नही तोड पाता।

वास्तव मे ही अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्ज्ञान के अभाव मे कैसी भी क्रिया, साधना या तपस्या क्यो न करे वह करोडो जन्मो तक उद्यम करके भी जितने कर्मो का क्षय नही कर पाता, उतने कर्मों का सम्यक्ज्ञानी अपनी मन, वचन और शरीर, इनकी प्रवृत्ति को रोककर स्वोन्मुख ज्ञातापने से क्षणमात्र मे ही क्षय कर डालता है। यह जीव आत्म-ज्ञान के अभाव मे मुनिव्रत धारण करके अनन्त बार नवम ग्रैवेयक तक के विमानो मे भी उत्पन्न हुआ किन्तु सच्चा सुख हासिल नही कर सका। इसलिए ज्ञान के द्वारा धर्म-अधर्म को समझकर ही मुमुक्षु को अपना आचरण शुद्ध बनाना चाहिए और बिना ज्ञान प्राप्त किये निरर्थक हाथ-पैर मारना बन्द करके ससार-सागर को ज्ञानपूर्वक सहज और सीधे ही तैरकर पार कर लेना चाहिए।

गाथा के चौथे और अन्तिम चरण मे कहा है—"सीसस्य सोहा विनयेन सन्ति।" इसका अर्थ है—शिष्य की शोभा विनयगुण धारण करने मे है। जो शिष्य विनयी होता है वही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त करके आत्म-कल्याणार्थ सच्ची साधना करता है।

शिष्य को अन्तेवासी भी कहते है। अन्तेवासी का अर्थ है—नजदीक रहने वाला। आप सोचेंगे कि दूर रहने वाला क्या शिष्य नही कहलाता? कहलाता है, अगर वह अपने गुरु की आज्ञा का यथाविधि विनयपूर्वक पालन करे तो। गुरु की आज्ञा का पालन न करने वाला तो उनके समीप रहकर भी अन्तेवासी नही कहला सकता।

उदाहरणस्वरूप, गोशालक भगवान महावीर के समीप रहकर भी अन्तेवासी नही था और एकलव्य भील गुरु द्रोणाचार्य से दूर रहकर भी स्वय को अन्तेवासी साबित करता था। भले ही द्रोणाचार्य ने उसे शिष्य रूप मे स्वीकार नही किया था तथा अपमानित करके अपने यहाँ से निकाल दिया था।

तो विनय एक महान् गुण है जिसे अपनाकर शिष्य उनके ज्ञान को ग्रहण करता है। जो उच्छृखल शिष्य विनय को महत्त्व नही देता वह प्रथम तो

गुरुगत् ज्ञान हासिल ही नही कर पाता, और जो कुछ सीखता है, उससे आत्म-कल्याण नही कर पाता । कहा भी है—

न उ सच्छदता सेया लोए किमुत उत्तरे ।

—व्यवहारभाष्य पीठिका, ८६

अर्थात्—स्वच्छदता लौकिक जीवन मे भी हितकर नही है तो लोकोत्तर जीवन यानी साधक के जीवन मे कैसे हितकर हो सकती है ?

विनयी शिष्य तो गुरु के द्वारा प्राप्त तिरस्कार और ताडना को भी वरदान मानते है तथा तनिक भी खिन्न या निराश न होते हुए श्रद्धापूर्वक ज्ञानार्जन करते रहते है ।

बुद्धू वैज्ञानिक बन गया

अलबर्ट आईन्सटीन ससार के परम विख्यात वैज्ञानिक हुए है । एक बार किसी छात्र ने उनसे पूछा—

"सर ! सफलता का मन्त्र क्या है ?"

"गुरु के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी हिम्मत न हारना ।" आईन्स्टीन ने तुरन्त उत्तर दिया ।

छात्र ने चकित होकर पूछा—"वह कैसे ?"

वैज्ञानिक बोले—"भाई ! एक दिन मैं भी तुम्हारे समान विद्यालय मे पढता था । पर गणित मे बहुत कमजोर था अत सभी छात्र मुझे बुद्धू कहते और मेरे शिक्षक भी समय-समय पर डाँटते हुए कहा करते थे—तुम इतने मूर्ख हो कि सात बार जन्म लेकर भी गणित नही सीख सकते ।' इस प्रकार मैं बहुत बार तिरस्कृत होता रहा, लेकिन मैंने कभी अपने अध्यापको की बात का बुरा नही माना और मेहनत करते हुए पढता रहा । परिणाम यह हुआ कि केवल गणित मे ही नही, मैं सभी विषयो मे खूब नम्बर लाने लगा और आज तुम मुझ बुद्धू को इस रूप मे देख ही रहे हो ।"

वस्तुत ज्ञान-प्राप्ति का मूल मत्र यही है । 'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' मे भी कहा है—

ज मे बुद्धाणुसासति सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे ॥

गाथा मे बताया गया है कि—गुरुजन कठोर अनुशासन रखते हुए शिक्षा दें, तब भी शिष्य को यही विचार करना चाहिए कि यह कठोर शिक्षा मेरे लिए हितकर है और इस प्रकार भाव रखने हुए उसे सावधानी के साथ सुनना चाहिए ।

ऐसा करने वाला शिष्य ही क्षमाधर्म को अपनाकर सवर के मार्ग पर वढ सकेगा। क्षमा से बढकर इस ससार से मुक्त कराने वाला अन्य कोई भी तप नही है और कोई भी धर्म नही है। इसीलिए कहा जाता है—'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' यानी क्षमा शूरवीरो का आभूषण है।

क्षमावान कायर नहीं है

अनेक व्यक्ति कहते है कि क्षमा मनुष्य को कायर बनाती है। वही व्यक्ति क्षमा करते है जो अशक्त, निर्बल या डरपोक होते हैं। ऐसे विचार वड़े भ्रमपूर्ण एव गलत है। सच्चे साधक कभी कायर या डरपोक नही कहलाते।

आप लोगो को भली-भाँति समझना चाहिए कि साधक शारीरिक शक्ति होते हुए भी मनुष्य या खूँख्वार प्राणियो को तो क्षमा करते ही है पर क्षमा धारण करके आत्मा के महान् एव भयकर शत्रु क्रोध तथा द्वेषादि को भी परास्त करते है। बाह्य शत्रुओ से मुकावला करना कोई बडी बात नही है उन्हे सहज ही जीता जा सकता है, किन्तु कषायरूपी आत्मिक शत्रुओ को जीतना बडे जीवट का काम है।

लोग कहने को कह देते है कि क्षमाधारी डरपोक होता है, पर आप स्वय अपने आप पर प्रयोग करके देखिये कि क्रोधरूपी शत्रु को अपने आत्मारूपी दुर्ग मे आने से रोकना या कि क्रोधरूपी भयकर विषधर को मारना कितना कठिन है। आप एक सर्प को देखते है और उसे मारकर अपनी बहादुरी साबित कर देते है। किन्तु क्या क्रोधरूपी उस विषधर को, जिसका काटा हुआ जन्म-जन्म तक प्रभावित रहता है, उसे तनिक भी हानि पहुँचाने मे या अपने पास से दूर हटाने मे भी आप समर्थ हो पाते हैं? नही, किसी का एक भी कटु शब्द सुनते ही वह क्रोध रूपी सर्प आपको इस प्रकार अपने लपेटे मे ले लेता है कि आपके लिए उसे छुडाना तो दूर, छुडाने की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। अर्थात् क्रोध आपको इस प्रकार जकडता है कि उसे जीतने का या उसे दूर करने का भी आपको होश नही रहता। क्या आत्मा के इस भयकर शत्रु पर आप विजय पा सकते है? नही, आप केवल बाहरी और तुच्छ प्राणियो को एक के वदले मे सौ गालियाँ देकर या शरीर कुछ मजबूत हुआ तो उसे लात-घूँसे मार-कर अपनी वहादुरी सावित करते हैं।

अव आप ही बताइये कि शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करना कठिन है या आन्तरिक शत्रुओ पर कब्जा करना? स्पष्ट है कि वाह्य प्राणियो पर बल प्रयोग करना कुछ भी कठिन नही है, वरन् आन्तरिक शत्रुओ पर कब्जा करना या उन्हे परास्त करना महा मुश्किल है। साधक इसीलिए वीर है, क्योकि वे उन आत्मिक

और जवर्दस्त शत्रुओ को अपने अन्दर फटकने भी नही देकर जीत लेते है, जिनके एक झपेटे से ही आप हथियार डाल देते हैं तथा वे जिस प्रकार नचाते है, नाचने लगते हैं । क्या यह गलत बात है ? नही, क्रोध का भूत आपके मस्तक पर चढकर आपसे वही करा लेता है जो वह चाहता है, उसे किसी भी तरह आप दिल या दिमाग से निकाल नही सकते, किन्तु क्षमाशील साधक उसे दिल के द्वार से अन्दर ही नही आने देता, उसका मस्तक पर चढना तो दूर की बात है।

इसलिए बन्धुओ, क्षमाशील ही सच्चा वीर या महावीर है । वही सच्चा साधक है और मुक्ति-मार्ग का अनुयायी है । अपने मार्ग पर बढते हुए वह कषायों को मार्ग रोकने नहीं देता, उनसे प्रभावित नही होता और जब वे [illegible] बाये रहते हैं यह वीर हाथी के समान किसी की परवाह किये बिना [illegible] अग्रसर होता रहता है ।

यही कारण है कि मुनि के लिए दस धर्मो का विधान [illegible] धर्म को पहला और मुख्य स्थान दिया गया है । क्षमा-धर्म [illegible] के लिए समान हितकारी है, क्योकि दोनो ही मुक्ति-मार्ग के [illegible] आप इसे धारण करेंगे तो निश्चय ही मुक्ति के [illegible] होते रहेंगे ।

२८

ऐरे, जीव जौहरी ! जवाहिर परखि ले

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल मैंने दस यति-धर्मो मे से पहले क्षमा-धर्म पर आपको कुछ बताया था। ये धर्म सवरतत्त्व के सत्तावन भेदो मे आते है और क्षमा तयालीसवाँ भेद है।

जो भव्य प्राणी क्षमारूपी कल्पवृक्ष की छाया मे बैठता है वह इच्छानुसार फल प्राप्त करके सुखी बनता है, पर जो क्रोधरूपी विषवृक्ष के नीचे जा पहुँचता है वह उसके विष से प्रभावित होकर जन्म-जन्म तक कष्ट पाता रहता है।

इसीलिए वीतराग प्रभु ने क्षमारूपी कल्पवृक्ष के समीप जाने की प्रेरणा दी है और आज्ञा दी है कि मुमुक्षु को कभी भी और किसी भी अवस्था मे उसका आश्रय नही छोडना चाहिए। क्षमा धर्म इतना उत्कृष्ट है कि देवताओ को भी इसके धारक के चरणो पर झुकना पडता है। इतिहास बताता है कि अनेक सन्तो और श्रावको को धर्म से विचलित करने के लिए देवता भी आकर कोशिश करते थे तथा नाना कष्टो की सृष्टि करके उन्हे डिगाने का प्रयत्न करते थे।

किन्तु उन महान् आत्माओ के पास 'क्षमा' एक ऐसा शस्त्र होता था, जिसकी मार से घबराकर वे उनके चरणो पर गिर पडते थे और पश्चात्ताप करते थे।

किसी ने कहा भी है—

"क्षमा खड्ग करेयस्य, दुर्जनः कि करिष्यति।"

अर्थात्—क्षमारूपी खड्ग जिस व्यक्ति के हाथ मे होती है, शत्रु उसका क्या बिगाड सकते है ?

वस्तुत क्षमा के आगे असख्य शत्रुओ को भी नतमस्तक होना पडता है। यही कारण है कि साधक जब आत्म-साधना के लिए प्रवृत्त होता है तो मार्ग मे

आक्रमण करने वाले कषायरूपी आत्मिक शत्रुओं से मुकाबला करने के लिए सर्वप्रथम क्षमारूपी खड्ग हाथ मे लेता है।

ऐसा करने पर ही वह निरापद रूप से आगे बढता है और इस ससार रूपी सराय को सदा के लिए त्याग कर अपनी मजिल प्राप्त कर लेता है।

एक हिन्दी भाषा के कवि ने कहा है—

यह जगत मुसाफिरखाना है, जन कुटिया न्यारी-न्यारी है।
हिल-मिल धर्म कमाओ तुम ! जाना सवको अनिवारी है॥

प्रत्येक धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाने मे हम देखते हैं कि कतार की कतार छोटी-छोटी या बडी-बडी कोठरियो की बनी हुई होती है। कम पैसे वालो को छोटी कोठरियाँ मिलती हैं और अधिक पैसे वाले बडे-बडे कमरे किराये पर लेते हैं।

सरायो की तुलना

यह ससार भी एक विशाल सराय है, जिसमे कम पुण्यवानी वाले जीवो को लघु शरीर या कष्टकर तिर्यंच योनि के शरीर मिलते हैं और जो पुण्यरूपी अधिक धन साथ मे लाते हैं, वे सुखप्रद मानव-शरीर प्राप्त करते हैं।

पर वन्धुओ, जिस प्रकार सराय मे आने वाले गरीव और अमीर सभी यात्री थोड़े काल तक ठहरकर अपने-अपने घर चले जाते हैं तथा कितना भी सराय मे हवादार, सुन्दर और सुविधाजनक कमरा क्यो न लिया हो, वहाँ हमेशा के लिए नही रहते, उसी प्रकार जीव भी इस ससार रूपी सराय मे कैसा भी शरीर, भले ही वह तुच्छ कीड़े का हो या मनुष्य का, प्राप्त करने पर भी थोडे या अधिक दिनो मे यहाँ से चल देता है। यह कभी नही हो सकता कि कीट-पतग या पशुओ को ही यहाँ से जाना पडे और मानव क्योकि पचेन्द्रियो के सुखो का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहता है अत वह न जाये और सदा ही यहाँ वना रहे।

आप सभी जानते हैं कि प्रत्येक सराय या धर्मशाला मे दो, तीन या चार दिन, इस प्रकार कुछ समय यात्री को ठहरने दिया जाता हैं और उस नियम के अनुसार अगर यात्री समय पूर्ण हो जाने पर भी न जाय तो उसका वोरिया-विस्तर फिकवा दिया जाता है। यही हाल जीव के लिए ससार रूपी सराय के शरीर रूपी कमरे मे रहने पर होता है। अर्थात् उसे जितने दिन का समय मिला हुआ होता है, ठीक उतने ही समय के व्यतीत होने पर कालरूपी चौकीदार उसे वहाँ से निकाल वाहर करता है। यह नियम धर्मशाला के सभी यात्रियो

के लिए जैसे समान होता है, वैसे ही ससाररूपी सराय के जीव-यात्रियो के लिए भी समान होता है। यानी जितने दिन के लिए उसे शरीररूपी कमरा मिला होता है, उतने ही दिन वाद उसे शरीर छोडना पडता है। जवर्दस्ती किसी भी प्रकार नही रहा जा सकता।

यात्रियो मे अन्तर

यहाँ एक वात जानना महत्त्वपूर्ण है कि दोनो प्रकार के यात्रियो मे एक वडा जवर्दस्त अन्तर होता हे। वह यह कि आपकी इन धर्मशालाओ मे जो यात्री आते है, वे स्वय ही सराय छोडकर अपने घर जाने के लिए व्यग्र रहते है और जिस उद्देश्य के कारण वे उसमे ठहरते हैं, उसके पूर्ण होते ही अपने घर चले जाते है। किन्तु इस ससाररूपी सराय के शरीररूपी कमरे मे जो जीव-यात्री आकर कुछ दिन या कुछ वर्षों के लिए ठहरता है, वह अपने असली घर या शिवपुर नगर की याद नही करता और वहाँ जाने का प्रयत्न भी नही करता। परिणाम यह होता है कि समय की अवधि समाप्त होते ही वह कालरूपी चौकीदार के द्वारा जबर्दस्ती निकाल दिया जाता है, तथा उसके वाद अपने सच्चे घर का मार्ग न जानने के कारण इधर-उधर यानी भिन्न-भिन्न योनियो मे भटकता हुआ कष्ट पाता रहता है। दूसरे शब्दो मे यह जीव-यात्री अपना जितना भी पुण्य-रूपी धन साथ मे लेकर आता है, उसे मौज-शोक व सैर-सपाटे मे खर्च कर देता दे और फिर जव यहाँ से निकाला जाता है तव कगाल हो जाने के कारण और अपना घर व नगर वहुत दूर होने के कारण गाडी-भाड़े का टिकिट नही खरीद पाता तथा यत्र-तत्र भटकता रहता है।

आप भली-भाँति जानते है कि जिसके पास द्रव्य-धन नही होता उस कगाल मुसाफिर को प्रथम तो बस या रेल मे बैठने ही नही दिया जाता और अगर कभी वह आँख चुराकर बैठ भी जाता है तो किसी भी स्टेशन पर धक्के मार कर उतार दिया जाता है, तो रुपये-पैसे के अभाव मे जहाँ एक यात्री यहाँ की छोटी-सी यात्रा भी नही कर पाता तो फिर पुण्य-रूपी परोक्ष धन के अभाव मे जीव मोक्ष तक की महान् लम्बी यात्रा कैसे कर सकता है ? इस तरह किसी भी प्रकार उसका अपने घर जाना सम्भव नही होता। एक और बात यह भी है कि द्रव्य-धन तो फिर भी सहज ही कमाया जा सकता है या चोरी और डाके से किसी का छीना जा सकता है, किन्तु पुण्य-रूपी धन कमाने मे बड़ी कठिनाई होती है और वह किसी और का छीना या चुराया भी कभी नही जा सकता।

इसीलिए कवि ने कहा है—'तुम हिल-मिल कर धर्म कमाओ !' क्योकि यहाँ से जाना जरूर पड़ेगा और खाली हाथ अपने घर नही पहुँच सकोगे।

स्पष्ट है कि धर्माचरण करने पर ही पुण्य-रूपी धन इकट्ठा होगा और जीव मोक्ष नगर की यात्रा का टिकिट प्राप्त कर सकेगा।

धर्मग्रन्थो मे इसी बात को दूसरे शब्दो मे समझाया गया है—

नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चै. स्थिति भजेत्।
तस्मादुच्चै· पदवाञ्छन् नरो धर्मपरोभवेत् ॥

—आदिपुराण १०।११६

अर्थात्—अधर्म से मनुष्य की अधोगति होती है और धर्म से ऊर्ध्वगति। अत उच्च गति चाहने वाले को धर्म का आचरण करना चाहिए।

पुराण की इस गाथा मे भी यही बात बताई गई है कि पुण्य को न कमाने वाला जीव बिना टिकिट के मुसाफिर की तरह धक्के दे-देकर निम्न गतियो मे उतारा जाता है तथा नाना योनियो मे भटकता हुआ घोर कष्ट उठाता है। किन्तु जो भव्य प्राणी धर्म-व्यापार के द्वारा पुण्य-रूपी धन का सग्रह कर लेता है वह रिजर्वेशन करा लेने वाले यात्री के समान निश्शक होकर उच्च गति की ओर ले जाने वाली लम्बी यात्रा करता है तथा बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने घर पहुंच जाता है।

अब प्रश्न होता है कि पुण्यरूपी धन कमाया कैसे जाय ? इस विषय मे भी बताया गया है कि—

रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपा ससिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुस, पुण्ण जीवस्स आसवदि ॥

—पंचास्तिकाय १३५

यानी—जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर मे अनुकम्पा की वृत्ति है और मन मे कलुषभाव नही है, उस जीव को पुण्य का आस्रव होता है।

वस्तुत ससार के समस्त प्राणियो के प्रति करुणा और प्रेम की भावना होने पर मनुष्य अनेकानेक पापो से बचता है। जब उसके हृदय मे अन्य जीवो के प्रति करुणा का भाव होगा तो वह किसी को कटु-वचन नही कहेगा, किसी से ईर्ष्या-द्वेष नही रखेगा और किसी भी जीव की हिंसा नहीं करेगा। ये सभी बातें उसके मानस मे क्षमा-धर्म की वृद्धि करेंगी और मोक्ष की सुदूर यात्रा के लिए पुण्य कर्म रूपी धन का सचय होगा।

बन्धुओ, यहाँ एक विचार आपके मन मे आयेगा कि भगवान के कथनानुसार पाप के साथ पुण्य को भी मोक्ष के लिए छोडना पडेगा, तब महाराज मोक्ष की यात्रा के लिए पुण्य का सग्रह करने को क्यो कह रहे हैं ? पुण्य तो वहाँ पर साथ मे ले जाया नही जायेगा। आपका यह सोचना ठीक है, कदापि गलत नही

है । पुण्य को भी मोक्ष मे जाने मे पहले निश्चय ही छोडना पडेगा । किंतु अभी-अभी मैंने आपको वताया था कि यात्री धन के द्वारा अपने लिए सीट रिजर्व करा लेता है । जव वह टिकट लेता है तव रुपया-पैसा वह वुकिंग ऑफिस के कर्मचारी को दे देता है और फिर विना पैसे भी निस्सकोच जाकर अपनी सीट पर वैठ जाता है तथा अपने गतव्य की ओर चला जाता है ।

इसी प्रकार जीवात्मा पहले पुण्य-सग्रह करता है और उस पुण्य-धन को देकर मानो वह अपने लिए उच्चगति या मुक्ति के लिए भी अपना स्थान नियत करवा लेता है । जव वह अपना स्थान नियत करवाता है तव पुण्य-रूपी धन वही खर्च कर देता है, यानी उसे छोड देता है । इस प्रकार वह पुण्य की भी निर्जरा करके यानी उसे छोडकर अपना रिजर्वेशन करा लेता है और फिर अव्यावाध गति मे अपने सच्चे घर की ओर रवाना होता है ।

आगे कविता मे कहा है—

जो अफसर ड्यूटी तजता है, वह निज पद से गिर जाता है ।
त्यो मनुष्य कृत्य को तजे मनुज, वह मनुजाधम कहलाता है ।।

कहते है कि अगर कोई उच्च पदस्थ अधिकारी अपने कर्तव्यो का समीचीन रूप से पालन नही करता या कि अपने मातहत कर्मचारियो मे वरावर काम लेकर सुव्यवस्था नही रख पाता, वह अपने पद से हटा दिया जाता है तथा उस उच्च पद के छूट जाने से वह पुन साधारण श्रेणी का व्यक्ति वन जाता है । फिर न उसके पास सत्ता रहती है, और न ही वह किसी पर अनुशासन करने योग्य ही रह जाता है ।

यही हाल मनुष्य-जीवन का भी है । जिस प्रकार अफसर अपनी पूर्व मे रही हुई योग्यता से अफसरी तो पा लेता है, किन्तु फिर सत्ता के घमड मे आकर अपना कर्तव्य-पालन नही करता, अनाचरण करता है या शासन ठीक नही चलाता तो उसे पद से हटकर नीचे के स्तर पर आना पडता है । इसी प्रकार जीव भी अपने पूर्व पुण्यो के द्वारा योग्यता की डिग्री लेकर मानव के रूप मे मन और इन्द्रियो पर अधिकार प्राप्त करता है और उसे इन सवकी सहायता से आत्म-कल्याण करने का कार्य उसे सौपा जाता है ।

किन्तु, जव मनुष्य ससार के असख्य मनहीन, इन्द्रियो से हीन एव पशु-पक्षी आदि अभागे प्राणियो को देखता है तो उसे अपनी योग्यता पर या अपनी सत्ता पर घमड हो जाता है और वह आत्म-कल्याण के कार्य को भूलकर मन और इन्द्रियो को अनाचार मे प्रवृत्त कर देता है । इन सबको आत्म-कल्याण के कार्य मे न लगाकर पाप-कार्यों मे लगाता है अत उसे अपनी अयोग्यता एव शासन-

हीनता के कारण मानव जीवन रूपी उच्चपद से हटाकर निम्न श्रेणी के नारकीय या तिर्यंच जीवो के साथ कर दिया जाता है।

यह इसीलिए होता है कि वह मानव बनकर मानवोचित कार्यो को नही करता तथा अधम मानव बनकर कुकृत्य मे सलग्न रहता है और अपने मातहत मन और इन्द्रियो को भी निरकुश बनाता हुआ अपने सौंपे गये उत्तम कार्य को पूर्ण नही करता।

अग्रेजी मे एक कहावत है—

"When duty calls we must obey"

अर्थात्—जब अपना फर्ज हमे बुलाता है तो उसकी आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए।

आशय यही है कि प्रत्येक मानव का फर्ज मन और इन्द्रियो की अफसरी पाकर अपने आत्म-गुणो के द्वारा उत्तम कार्य करना है, जिससे उत्तम गति हासिल हो सके। पर ऐसा न करने से यानी कर्तव्य से च्युत हो जाने से अधिकार छिन जाता है और वह मानव-जन्म रूपी उच्च पद से हटा दिया जाता है।

इसलिए बन्धुओ ! यह दुर्लभ मानव-जीवन मिला है तो हमे इसे निरर्थक नही जाने देना चाहिए तथा जिस प्रकार जौहरी रत्नो की सच्ची परीक्षा करके उनसे लाभ उठाता है, इसी प्रकार हमे भी आत्म-गुण रूपी अमूल्य रत्नो की पहचान करके इनकी कीमत वसूल कर लेनी चाहिए।

शास्त्र विशारद पूज्य श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी मानव को जौहरी की उपमा देकर कहा है कि—"बावले प्राणी ! तेरे पास तो अमूल्य जवाहरात हैं, जरा इनकी परख कर और इनसे लाभ उठा।" कवि श्री ने स्वय ही मनुष्य को बताया है—

सयम सुहीरा नील नियम विद्रुम व्रत,
गौमेध विराग ज्ञान मानिक हरखि ले।
तप जप मोती ध्यान पन्ना नय लसनिया,
अभय सुदान पुखराज ही निरखि ले॥
कहे अमीरिख दुख दारिद्र पलाय ऐसो,
समझि पदारथ अमोल पास रखि ले।
पूरण भरी है जिन धरम मजूस यह,
ऐरे जीव जौहरी जवाहिर परखि ले॥

पद्य अत्यन्त सुन्दर और बडा मार्मिक है। इसमे कहा है—"अरे जीव रूपी जौहरी ! तू बाहर कहाँ कांच के टुकडो को खोजता फिरता है, तेरे अन्दर ही तो जिनधर्म रूपी मजूषा दुर्लभ रत्नो से भरी हुई है इसे देख, परख और इनका लाभ उठा।"

धर्म-मजूषा मे कौन-कौन से रत्न किस तरह माने जा सकते हैं, यह इस प्रकार बताया है—सयम रूपी अमूल्य हीरा है, नियम नील रत्न और विद्रुम रत्न व्रत है। वैराग्य-रूपी गौमेद है तथा ज्ञान-रूपी माणिक है। जप-तप सच्चे मोती है, ध्यान पन्ना है और नय लसनिया रत्न हैं। इसी प्रकार दोनो मे से सर्वोत्तम अभयदान पुखराज है।

कविश्री ने आत्म-गुणो की यथार्थ परीक्षा करके उन्हे दुर्लभ और अमूल्य रत्न बताया है। साथ ही जीवात्मा से भी कहा है—"अरे जीव जौहरी ! तू मनुष्य है पशु नही, पशु तो कभी रत्नो की पहचान नही कर सकते, किन्तु तू तो इनकी परख कर सकता है ? फिर क्यो नही अपने अन्दर धर्म रूपी मजूषा मे रहे हुए सयम, नियम, व्रत, विराग, जप-तप, ध्यान, नय एव दानादि रूप इन दुर्लभ रत्नो को उपयोग मे लाकर लाभ उठाता है ? पशु के समान अपने आपको अज्ञानी रखकर तू बाहर ही बाहर दृष्टि डालता है और क्षणिक सतोष प्रदान करने वाले नकली साधनो को इकट्ठा करता है। पर भली-भाँति समझ ले कि ये सब साधन केवल काँच के टुकड़े हैं, जिनकी कीमत तुझे कुछ भी नही मिलेगी। पर विशिष्ट विवेक एव असाधारण बुद्धि को काम मे लाकर अगर अपने अन्दर ही रहे हुए, इन सब अनमोल गुणरूपी रत्नो को तू पहचान ले तो इनके द्वारा मोक्ष-मार्ग की सम्पूर्ण यात्रा का खर्च सहज ही निकाल सकता है।"

मनुष्य पशु नहीं है

वस्तुत जौहरी केवल मानव ही हो सकता है, अन्य कोई प्राणी नही। किन्तु जौहरी होकर भी अगर वह अपना कार्य यानी रत्नो की परख नही करता है तो उसका जौहरी कहलाना व्यर्थ है। भले ही मनुष्य कितना भी अज्ञानी और मूर्ख क्यो न हो, वह पशु नही हैं, इसलिए जहाँ पशु को जीवन भर प्रयत्न करके भी ज्ञानी नही बनाया जा सकता और आत्म-गुणो की परख करने वाले जौहरी के रूप मे नही लाया जा सकता, वहाँ मानव प्रयत्न करने पर निश्चय ही ज्ञानी बन सकता है और आत्म-गुण रूपी रत्नो की सच्ची परख करने वाला जौहरी हो सकता है।

पर इसके लिए मनुष्य मे लगन, जिज्ञासा एव तीव्र उत्कठा चाहिए।

आत्म-गुणो की पहचान के लिए दुनिया भर की किताबो को पढ जाना और उन्हें कठस्थ करना आवश्यक नहीं है, न ही बडी-बडी डिग्रियाँ हासिल करने की और तर्क-वितर्क करने की शक्ति प्राप्त करने की ही जरूरत है। जरूरत केवल वीतराग के वचनो पर पूर्ण विश्वास रखने की और उनके कथनानुसार हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष एव कषायादि से वचकर क्षमा, करुणा, सेवा, प्रेम, अहिंसा, सत्य, प्रार्थना, ध्यान, चिंतन-मनन तथा यथाशक्ति नियम-पालन एव त्याग करने की है। अव आप ही वताइए कि इन गुणो को अपनाने के लिए महाविद्वान और दिग्गज पडित वनना अनिवार्य है क्या ? नही, आत्म-कल्याण का इच्छुक और भगवान के वचनो पर आस्था रखने वाला साधारण व्यक्ति भी बिना शिक्षा का बोझ अपने मस्तक पर लादे हुए अपने शुद्ध एव निर्दोष आचरण से ही धर्म के मार्ग पर चल सकता है।

चमार रैदास, डाकू अगुलिमाल, हत्यारा अर्जुनमाली एव चाडाल हरिकेशी, क्या इन सबने महाज्ञानी या पण्डित बनकर ही अपने जीवन को धर्ममय बनाया था ? नही, केवल छोटे से निमित्तो के द्वारा ही इन्होंने ससार के सच्चे स्वरूप को समझकर पापो का त्याग किया था और सत-जीवन अपनाकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल पडे थे।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधिक विद्वत्ता और तर्क-शक्ति प्राप्त कर लेने से ही मानव अपने उद्देश्य की प्राप्ति नही कर सकता। अनेक बार तो ऐसा होता है कि अधिक ज्ञान का बोझ मस्तक पर लाद लेने वाला व्यक्ति क्या करना और क्या नही करना ? इस विवाद मे ही उलझ कर रह जाता है तथा भिन्न-भिन्न मतो और धर्मों के चक्कर मे पडकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। परिणाम यह होता है कि कभी वह एक सिद्धान्त को ठीक मानता है और कभी दूसरे को, इसलिए वह जीवन भर अपने आचरण मे किसी भी सिद्धात को नही ला पाता, यानी आचरण के अभाव मे कोरा का कोरा रह जाता है। केवल ज्ञान या तर्क-वितर्क उसे मुक्ति के मार्ग पर चला नही पाते और चले विना मजिल दूर ही रह जाती है। एक छोटा-सा उदाहरण है।

प्रार्थना करो तो सही !

एक बार कुछ विद्वान व्यक्ति किसी समारोह मे सम्मिलित होने के लिए एक गाँव मे गये। समारोह के सम्पन्न हो जाने पर वे साथ ही लौटे और मार्ग मे थक जाने के कारण कुछ देर विश्राम करने के लिए एक विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ बैठकर वे आपस मे विचार करने लगे कि ईश्वर की स्तुति करते समय व्यक्ति को क्या माँगना चाहिए।

उनमे से एक व्यक्ति बोला—"मनुष्य को प्रार्थना करते समय अन्न माँगना चाहिए, क्योंकि अन्न पर ही जीवन टिका रह सकता है।

इस पर दूसरा कहने लगा—"वाह ! अन्न पैदा करने के लिए भुजाओ मे शक्ति चाहिए अत अन्न की अपेक्षा शक्ति माँगना ज्यादा अच्छा है।"

दो व्यक्तियो की बात सुनकर तीसरा विद्वान कहने लगा—"अरे, शक्ति होने पर भी अक्ल नही हुई तो कैसे काम चलेगा ? शक्ति तो शेर मे भी होती है, पर क्या वह अनाज पैदा कर सकता है ? नही, इसलिए मनुष्य को सबसे पहले बुद्धि या अक्ल के लिए भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए।"

बन्धुओ ! वहाँ सारे ही व्यक्ति विद्वान थे अत कौन किससे पीछे रहता ? अब चौथा विद्वान बोला—"मेरे खयाल मे तो मनुष्य को भगवान से प्रार्थना करते समय शाति माँग लेनी चाहिए, क्योंकि अशाति का वातावरण होने से झगड़े होते है और वैर बँध जाता है। वैर के कारण लोग एक-दूसरे की खेती उजाड देते हैं या फसल पकने पर आग ही लगा देते है।"

चौथे व्यक्ति की बात सुनकर अब तक चुप बैठा हुआ पाँचवाँ व्यक्ति सुगबुगाया और अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए कहने लगा—"भला शाति भी कोई माँगने की चीज है ? माँगना ही है तो भगवान से सीधा ही 'प्रेम' क्यो नही माँग लेना चाहिए ? प्रेम होने पर शाति स्वय स्थापित हो जाएगी। इसके अलावा लोगो मे आपस मे प्रेम होगा तो वे हिलमिल कर अनाज पैदा कर लेगे भले ही किसी मे शक्ति अधिक और किसी मे कम, साथ-साथ काम करेंगे तो एक-दूसरे की मदद कर दिया करेंगे।"

अब छठे विद्वान की बारी बोलने की आ गई। मेरा यह आशय नही है कि सबको बारी-बारी से बोलना ही चाहिए था, पर वहाँ एक से एक बढकर विद्वान बैठे थे अत दूसरो को प्रभावित करने का मौका कोई भी क्यो छोडता ? इसीलिए मैंने कहा है कि छठे विद्वान की बारी आ गई। वह बोला—

"मेरी समझ मे नही आता कि आप मूल को सीचने के बजाय फूल को क्यो सीच रहे है ? प्रेम तो फूल या फल है पर मूल है त्याग। त्याग होगा तो प्रेम, करुणा, सेवा आदि अनेक प्रकार के फल-फूल स्वय ही प्राप्त हो जाएँगे, अत मनुष्य को भगवान से 'त्याग' ही माँगना चाहिए। त्याग से बढकर तो और कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु है ही नही इस ससार मे, फिर 'त्याग' ही क्यो न भगवान से माँगा जाय ?"

छठे व्यक्ति का यह लेक्चर सुनकर सातवे विद्वान को भी जोश आ गया और वे अपने ज्ञान का दूसरो को ज्ञान कराने के लिए बोल पड़े—"त्याग क्या

किसी को यो ही प्राप्त हो जाता है ? जब तक भगवान के प्रति श्रद्धा न होगी, तब तक कोई भी मनुष्य किसी प्रकार का त्याग नही कर सकेगा । इसलिए व्यक्ति को प्रार्थना मे सीधी श्रद्धा ही माँगनी चाहिए और कुछ नही ।"

सातवें विद्वान की रौबीली आवाज को सुनकर तो आठवाँ महापडित जो अपने आपको न्यायाधीश मानकर मद-मद मुस्कुरा रहा था, क्रोध से भर गया और कह उठा—

"आप लोगो मे से एक भी व्यक्ति ऐमा नही है जो भगवान से सही चीज की माँग कर सके । अरे ! जब तक हृदय मे मिथ्यात्व भरा पड़ा है तब तक श्रद्धा क्या मन के अन्दर घुस पाएगी ? कभी नही, इसलिए अगर भगवान से माँगना है तो मिथ्यात्व के नाश की प्रार्थना करो और कुछ नही ।"

इस प्रकार वे सभी विद्वत्वर्य आपस मे वाद-विवाद करने लगे और भगवान मे मनुष्य को किस बात के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, इस पर बहस करने लग गये ।

कहते है कि वृक्षो पर यक्ष आदि निवास करते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार उस बरगद पर भी सयोगवश एक यक्ष रहता था जो बडी देर से उन सब महा-पण्डितो का विचार-विमर्श सुन रहा था । किन्तु इतनी देर मे भी जब उन लोगो की बातो का कोई निर्णय नही निकल पाया तो वह बोला—

"अरे भाइयो ! क्यो इतनी देर से आपस मे झगड रहे हो ? भगवान से प्रार्थना करके माँगने की आवश्यकता नही है । तुम लोग प्रार्थना करो तो सही !! प्रार्थना करने पर तो सब कुछ स्वय ही मिल जाएगा ।"

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि आत्म-गुणो की पहचान करने के लिए मनुष्य के पास ज्ञान का भण्डार मौजूद हो, इसकी आवश्यकता नही है । आवश्यकता केवल यही है कि वीतराग के वचनो पर विश्वास करके व्यक्ति सद्गुणो की पहचान करता हुआ उन्हे अपने आचरण मे उतारे, अन्यथा अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आचरण मे उतारे बिना व्यर्थ चला जायेगा । इस सम्बन्ध मे भी एक सुन्दर उदाहरण मुझे याद आ गया है उसे आपके सामने रख रहा हूँ ।

ज्ञान को आचरण में उतारो !

कहा जाता है कि आचार्य बहुश्रुति के आश्रम में एक बार तीन छात्र अध्ययन करते थे । तीनों ने बहुत दिनो तक अपने गुरुजी से विद्याध्ययन किया, पर तीनो छात्रो मे से दो जो अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे ज्ञान की सम्पूर्ण पुस्तकें

पढ गये और न जाने कितना क्या, उन्होने कण्ठस्थ भी कर लिया। बचा एक तीसरा छात्र। वह बेचारा बहुत मन्द-बुद्धि था अत कुछ भी नही पढ सका। बहुत ही थोडा ज्ञान उसके पल्ले मे पडा, पर करता क्या ? जो कुछ सीख पाया, उसी को आचार्य की कृपा समझने लगा।

छात्रो ने अपना शिक्षा-क्रम पूरा हो जाने पर घर जाने की अनुमति आचार्य से माँगी। आचार्य ने उत्तर दिया—"ठीक है, मैं जल्दी ही इस विषय मे अपना निर्णय बता दूँगा।"

इसके कुछ ही बाद एक दिन शिष्यो की परीक्षा लेने के लिए आचार्य ने आश्रम के प्रवेश-द्वार पर बहुत से काँटे चुपचाप बिखेर दिये और तीनो छात्रो से कहा—"बाहर पडी हुई लकडियाँ जल्दी-जल्दी लाकर अन्दर अमुक स्थान पर जमा दो।"

गुरु की आज्ञा पाते ही तीनो शिष्य जल्दी-जल्दी बाहर की ओर भागे पर आश्रम के दरवाजे तक पहुँचते ही तीनो के पैरो मे काँटे चुभ गये। पहले शिष्य ने काँटो की परवाह न करते हुए केवल अपने पैरो मे चुभे काँटे निकाले और जाकर लकडियाँ इकट्ठी करने लगा। दूसरा शिष्य काँटे चुभ जाने पर खडा हो गया और मन ही मन कुछ सोचने लगा। किन्तु तीसरा मन्दबुद्धि वाला शिष्य वहाँ से लौटकर आश्रम को गया और एक झाड़ू ले आया। उस झाड़ू से वह धीरे-धीरे काँटो को बुहारकर साफ करने मे लग गया, लकडियो की ओर गया ही नही।

आचार्य बहुश्रुति दूर खड़े-खडे तीनो शिष्यो के कार्य-कलाप देख रहे थे। उस समय तो वे कुछ नही बोले, पर अगले दिन उन्होने तीनो को बुलाया और मन्द-बुद्धि वाले शिष्य से कहा—"वत्स ! केवल तुम घर जा सकते हो, ये दोनो अभी यही रहेगे क्योकि इन्होने पूरी शिक्षा हासिल नही की है।"

आचार्य की यह बात सुनकर दोनो कुशाग्र-बुद्धि वाले और पाठ्यक्रम की सभी पुस्तके अच्छी तरह पढ जाने वाले शिष्यो से रहा नही गया और उनमे से एक बोला—

"गुरुदेव ! हम तो सारी पुस्तकें पढ चुके हैं, जबकि इसने सम्भवत. इतने दिन मे एक भी किताब पूरी नही की होगी। इस पर भी इसको आप छुट्टी दे रहे हैं और हमे कह रहे है कि ज्ञान अधूरा है। ऐसा क्यो ? वास्तव मे तो इसका ज्ञान अधूरा है। अत इसे यहाँ रहना चाहिए।"

आचार्य ने उन शिष्यो से भी स्नेहपूर्वक कहा—

"छात्रो ! यह ठीक है कि तुमने अधिक किताबें पढ ली है और कण्ठस्थ

भी जितना कर लेना चाहिए वह कर लिया है। किन्तु तुम दोनो ने अपने-अपने ज्ञान को अभी उपयोग मे लाना नही सीखा। जब तक ज्ञान आचरण मे नही उतरता, तब तक उसका महत्त्व ही क्या है ? सारा का सारा निरर्थक और दिमाग पर बोझ है। पर तुम्हारे इस गुरुभाई ने जितना भी हासिल किया है उसे आचरण मे लाना सीख लिया है अत वह तुम्हारी तुलना मे अधिक ज्ञानी साबित हुआ है। याद रखो कि अधिक ज्ञान हासिल करने की जितनी आवश्यकता नही है, उतनी आवश्यकता थोडे से ज्ञान को काम मे लाने की है। जीवन को उन्नत और सुन्दर बनाने के लिए थोडा-सा ज्ञान भी काफी है अगर मनुष्य उसे उपयोग मे लाना सीख जाय।"

दोनो शिक्षित छात्रो ने गुरु की बात को समझकर अपना मस्तक झुका लिया और तीसरा छात्र प्रसन्न तथा सतुष्ट होकर अपने घर चला गया।

धर्मग्रन्थो मे भी आचरण की महत्ता को बताते हुए कहा गया है—

"णाणं चरित्तसुद्धं थोओ पि महाफलो होई।"

—शीलपाहुड ६

अर्थात्—चारित्र से विशुद्ध हुआ ज्ञान यदि अल्प भी है, तब भी महान् फल देने वाला है।

तो बन्धुओ, प्रत्येक आत्मार्थी को शिक्षा का अधिकाधिक बोझ अपने ऊपर लाद लेने की अपेक्षा आत्मा मे छिपे हुए सद्गुण रूपी रत्नो की पहचान पहले करना चाहिए। पूज्य श्री अमीऋषिजी महाराज ने भी अपने पद्य मे आगे यही कहा है जो भव्य जीव अपने अन्दर रहे हुए इन रत्नो की परख कर लेता है, उसका दारिद्रय सदा के लिए मिट जाता है। यानी उन गुणो को अपना लेने वाला और आचरण मे उतार लेने वाला व्यक्ति शाश्वत शान्ति एव स्थायी आनन्द के असीम कोष को प्राप्त कर लेता है और उसे फिर ससार मे भटकने की आवश्यकता नही रहती।

मराठी भाषा मे कहा गया है—

नर रत्न एक नोची, वरकढ रत्ने ही आउ नावाची।
बुडविती न च वा तारिती, जैसे चित्रें ही आउ, नावाची॥

इस काव्य मे कहा गया है कि मनुष्य तो आकृति से असख्य होते है, किन्तु जो व्यक्ति सद्गुणो का धारी है वही सच्चा नर-रत्न कहलाता है बाकी तो नाम के ही मानव-रत्न कहे जाते है और काँच के टुकडो के समान उनके जीवन का कोई मूल्य नही होता।

एक उदाहरण से भी इस बात को समझाया गया है कि एक दीवाल पर कुए का और नाव का चित्र होता है, पर कुए का चित्र मनुष्य को पानी मे डुबा नही सकता और नाव का चित्र उसे नदी से पार नही कर सकता। इसी प्रकार सद्गुण रूपी रत्नो से रहित व्यक्ति भी दीवाल पर लगे हुए चित्र के समान है जो कि नर-रत्न दिखाई देने पर भी अपना आत्म-कल्याण नही कर सकता।

इसलिए हमे नाम के नर-रत्न न कहलाकर सद्गुण रूपी रत्नो को धारण करना चाहिए और वे तभी अपनाये जा सकेंगे, जबकि जौहरी के समान उन्हे गुणावगुणो मे से छाँटकर परखना पड़ेगा और जीवनसात् करना होगा। सद्-गुण रूपी रत्नो के अभाव मे नर-रत्न कहला भी लिये तो उससे आत्मा का क्या भला होगा ? कुछ भी नही। यह देह-छूटते ही फिर न जाने किन-किन योनियो मे जाना पडेगा और घोर कष्ट सहन करना होगा। इसलिए उचित यही है कि हम सवर के मार्ग पर बढें और आत्मा को सदा के लिए इस ससार रूपी सराय से हटाकर अपने सच्चे घर मोक्ष की ओर ले चले।

○

२६

पकवान के पश्चात् पान

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज चातुर्मास की समाप्ति का दिन है यानी आज हमारा चातुर्मास समाप्त हो रहा है। चातुर्मास की समाप्ति पर क्षमत् क्षमापना करने का शास्त्रो मे विधान है। सभी साधु-साध्वी जब चार महीने वर्षावास करके फिर अन्यत्र विहार करते हैं तो वे सम्पूर्ण सघ से क्षमा याचना कर लेते है। मैं भी आज यहाँ विद्यमान सभी सन्त-सतियो की ओर से आप लोगो से क्षमा-याचना करता हूँ। आप विचार करेंगे, ऐसा क्यो ?

इसका कारण यही है कि जहाँ चार बर्तन होते है वहाँ थोडी बहुत खड-खडाहट सावधानी रखने पर भी हो ही जाती है। सत जानबूझकर ऐसा अवसर सामने नही आने देते, किन्तु भूल या असावधानी से बोलने-चालने मे, व्यवहार मे, वाणी मे या व्याख्यान मे कोई शब्द ऐसे निकलें जिनके द्वारा किसी के भी मन को खेद हुआ हो तो क्षमा-याचना करना चाहिए। मैं भी इसीलिए हम सवकी ओर से पूरे सघ से क्षमा माँगता हूँ।

छद्मस्थ जीवन मे किसी भी व्यक्ति से भूल हो जाना कोई बडी बात नही है। यथा हमारे मुँह मे दाँत भी है और जबान भी है। भोजन करते समय दोनो ही अपना-अपना काम करते हैं। हम पूरा ध्यान रखते है कि इन दोनो मे परस्पर कभी टकराव न हो, क्योकि इससे हमे ही कष्ट होता है। किन्तु बहुत ध्यान रखने पर भी कभी-कभी दाँतो के बीच मे जबान आ जाती है और हमे कष्ट का अनुभव होता है।

यद्यपि हम जान-बूझकर ऐसा नही करते पर असावधानी से यह हो जाता है। इसी प्रकार अनजान या असावधानी से ही बोलते समय हमारी वाणी से

कोई शब्द ऐसा निकला हो, जिसके कारण किसी का मन दु खा हो तो उसके लिए ही हमारी क्षमा-याचना आप लोगो से है।

बन्धुओ ! वीतराग की वाणी भी आपके समक्ष भोजन के रूप मे है और सवरतत्त्व के सत्तावन भेद उसमे अलग-अलग पकवान के समान है। इस चातुर्मास मे मैंने आपके समक्ष ये पकवान रखने का ही प्रयत्न किया है। पकवान बहुत है और समय सीमित। इसलिए मैं सभी को आपके सामने नही ला सका, किन्तु जितने भी बन पड़े उन्हे सक्षिप्त रूप मे यथाबुद्धि प्रस्तुत कर चुका हूँ।

किन्तु मैं समझता हूँ कि पकवान सरस होने के कारण कम खाया जा सकता है और थोडा खाने पर भी भूख जल्दी नही लगती। इसलिए आपको जितने मिष्टान्न मिल पाये है ये पेट की नही वरन् मन की खुराक है अत काफी दिन तक आपको तृप्त किये रहेगे। आज तो मैं आपको पान-बीडा प्रदान कर रहा हूँ। भोजन के पश्चात् मुँह साफ करने के लिए आप पान खाते है न ? इसी प्रकार भगवान द्वारा प्रदत्त विविध पकवान आपको खिलाकर अब अन्त मे पान भी खिलाये देता हूँ।

अब देखिये यह पान कैसा है और आप मे से कौन-कौन इसे सच्चे हृदय से ग्रहण करते हैं ?

> है सद्धर्म रूपी पान-बीडा, कोई धर्मवीर सेवन करते।
> जीव दया है इलायची, क्षमारूप खैरसार यहा।
> सत्यवाणी रूप लवग है, कोई धर्मवीर सेवन करते॥
> सौजन्यरूप सुपारी जहाँ, नवतत्त्व रूप कत्था चूना।
> रगदार बना इससे बीडा, कोई धर्मवीर सेवन करते॥

कवि ने कहा है—जिनधर्म रूपी पान का यह बीडा अत्यन्त मधुर, सुवासित एव स्वादिष्ट है तथा शरीर, मन और आत्मा तक को तृप्त करने वाला है। पर इस दुर्लभ पान का सेवन विरले धर्मवीर ही करते हैं। जिनके अन्तर्मानस मे भगवान की वाणी के प्रति श्रद्धा, विश्वास या भक्ति नही है वे इसके सेवन की तो बात ही क्या है, दर्शन भी नही कर पाते, क्योकि यह अमूल्य पान दो-चार पैसे मे खरीदा जाने वाला नही है, इसे प्राप्त करने के लिए बडा त्याग करना पडता है और मन एव इन्द्रियो की सारी शक्ति लगा देनी होती है। अर्थात् उन पर पूर्ण नियन्त्रण रखना पडता है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि साधक मन और इन्द्रियो को उनकी इच्छानुसार नही, वरन् अपनी इच्छानुसार शुभ क्रियाओ मे प्रवृत्त करने की दृढता प्राप्त कर ले। हमारे शास्त्र कहते भी हैं—

सद्देसु अ रूवेसु अ गधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ एसा खलु इदिअप्पणिही ॥

गाथा मे बताया है—शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श मे जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त बनता है।

तो बधुओ, स्पष्ट है कि प्रशस्त इन्द्रिय-निग्रह वाला और भगवान के वचनो मे दृढ आस्था रखने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म रूपी अनेक उत्तम वस्तुओ से युक्त पान का बीडा ग्रहण कर सकता है।

आपके मन मे विचार आयेगा कि उत्तम वस्तुओ से यहाँ क्या तात्पर्य है ? मैं यही आगे बताने जा रहा हूँ। आप लोग जो साधारण पान खाते है, उसमे कत्था, चूना, लौंग, इलायची एव खैरसार आदि मुखशुद्धि करने वाली अनेक चीजें डालते हैं। इसी प्रकार धर्मरूपी पान मे भी कई वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है कि धर्मरूपी पान मे सबसे पहली चीज है जीव दयारूपी इलायची।

दयारूपी इलायची

इलायची मे खुशबू होती है और वह खुशबू आपके मन-मस्तिष्क को भी तरोताजा कर देती है। बिना इलायची के पान का जायका अत्यल्प हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, बिना इलायची का पान आपको पान सा नही लगता और वैसा पान आप पसन्द भी नही करते।

इसलिए धर्मरूपी पान मे भी इलायची बडी उत्तम कोटि की डाली जाती है जिसे हम जीवदया कहते हैं। जीवदयारूपी इलायची जो व्यक्ति धर्म रूपी पान मे डालता है, उसकी खुशबू व्यक्ति के मन को नही वरन् सम्पूर्ण जीवन को ही सुवासित कर देती है। और तो और, इस इलायची की सुगन्ध ससार के अन्य प्राणियो तक पहुँचती है तथा उन्हे सन्तुष्ट एव सुखी बनाती है।

आप सोचेंगे यह कैसे ? पान तो एक व्यक्ति खाएगा और उसके आनन्द का अनुभव अन्य प्राणी कैसे कर लेंगे। पर यही तो इस पान की विशेषता है। आपका साधारण पान और उसमे पडी हुई इलायची, केवल आपको ही सन्तुष्ट करती है, किन्तु धर्मरूपी पान मे दयारूपी इलायची अन्य प्राणियो को भी सन्तोष पहुँचाती है। इसका कारण यही है जिन साधु-पुरुषो का मन और मस्तिष्क दया की सुवास से परिपूर्ण रहता है वे अन्य प्राणियो को भी आत्मवत् समझते है और मन, वचन एव शरीर, इन तीनो योगो मे से किसी के द्वारा भी दूसरो को कष्ट नहीं पहुँचाते। वे न किसी अन्य प्राणी के मन को कटु

वचनो से दुखाते है और न अपने शरीर के द्वारा आघात पहुँचाकर किमी के शरीर को ही पीडा पहुँचाते हैं। यहाँ तक कि औरो के द्वारा कष्ट पाकर भी वे प्रत्युत्तर मे उन्हे दु ख नही देते वरन् उन पर दया करके उन्हे क्षमा प्रदान करते है। ऐसे व्यक्ति दया-भाव से कारण ही औरो को दु ख देने मे पाप समझते है।

एक फारसी भाषा के कवि ने भी कहा है—

मबाश दर पै आजार हरचि खाही कुन।
की दर हकीकते मा गैर अर्जी गुनाहे नेस्त ।।

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू और जो चाहे कर, किन्तु किसी को दु ख न दे। क्योकि हमारे धर्म मे इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप नही है।

वस्तुत निर्दयता एव क्रूरता महापाप है और प्रत्येक धर्म या मत इन्हे त्यागने की प्रेरणा देते है। कोई भी धर्म दयाहीनता को धर्म नही कहता अत जो व्यक्ति दया और अहिंसा को जैनधर्म के ही सिद्धान्त मानते हैं, वे बडी भूल करते है दया और करुणा किसी एक धर्म का ही सिद्धान्त नही हैं, अपितु मानव मात्र के लिए ग्रहणीय है अत प्रत्येक धर्म का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

दया के अभाव मे मनुष्य को मनुष्यत्व ही प्राप्त नही होता क्योकि दया प्रकृति का एक अविभाज्य अग है। मनुष्य तो मनुष्य पशु-पक्षियो मे भी हम प्रेम की एव दया की भावना पाते है। इसीलिये धर्म का मूल दया माना गया है।

आदिपुराण मे कहा है—

दयामूले भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परीक्षार्थं गुणा शेषाः प्रकीर्तिता ।।

अर्थात्—धर्म का मूल दया है। प्राणी पर अनुकम्पा करना दया है और दया की रक्षा के लिये ही सत्य, क्षमा आदि शेप गुण वताये गये है।

इसीलिये ससार के प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने धर्म के विभिन्न सिद्धान्तो का प्ररूपण करने से पहले दया एव प्राणीमात्र के प्रति प्रेम रखने की प्रेरणा दी है।

दया का पैगाम

कहा जाता है कि हजरत मोहम्मद के समय अरव मे लोग अनेकानेक देवी-देवताओ को मानते थे और उसके परिणामस्वरूप ही उनमे आपसी मतभेद, अशाति और विग्रह के विपाक्त वीज अकुरित हो गये थे। इस अशातिपूर्ण वातावरण की मोहम्मद साहव पर वडी जवर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और उन्होने वहाँ

क्राति करके एक अल्लाह यानी एक ही भगवान को मानने के लिए जनता को प्रेरित किया ।

उनकी प्रेरणा से असख्य व्यक्तियो ने एक ही अल्लाह को मानना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु कुछ इने-गिने व्यक्तियो ने उनकी बात को नही माना ।

इम पर मोहम्मद साहब के अनुयायियो ने उनसे कहा—

"आप अल्लाह से प्रार्थना कीजिए कि वह इन नाना देवी-देवताओ को मानने वाले मुशरिको को शाप देकर बर्बाद कर दे !"

हजरत मोहम्मद ने उत्तर दिया—"भाइयो ! मैं ममार मे दया का पैगाम देने आया हूँ, शाप देने के लिए नही ।"

लोग मोहम्मद साहव की यह वात सुनकर वडे लज्जित हुए और चुपचाप वहाँ से चल दिये ।

कहने का अभिप्राय यही है कि दया को प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने धर्म का मूल माना है और इसका महत्त्व सम्पूर्ण धर्मक्रियाओ से अधिक वताया है। धर्मात्मा पुरुष तो अन्य मनुष्यो पर भी क्या, पशु-पक्षियो पर भी अपार दया रखते हैं और कभी-कभी तो उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणो का भी बलिदान कर देते हैं ।

राजा मेघरथ ने एक कबूतर को वाज के पजे से छुडाने के लिए अपने शरीर का मांस काट-काटकर तराजू पर तौल दिया था और मोरध्वज ने सिंह की खुराक जुटाने के लिए अपने प्राणो से प्यारे पुत्र का मोह छोडा था ।

तो हमारे मूल विषय के अनुसार जीवदया धर्मरूपी पान मे ऐसी इलायची का काम करती है, जिसे खाने वाला तो तृप्ति का अनुभव करता ही है, साथ ही उसकी खुशबू से अन्य अनेक प्राणी भी निर्भयता का अनुभव करके चैन की साँस लेते हैं ।

क्षमारूपी खैरसार

अव धर्म-रूपी पान मे डलने वाली दूसरी चीज सामने आती है । वह है—क्षमारूपी खैरसार । दयारूपी इलायची के साथ क्षमा रूपी खैरसार का मेल खूब बैठता है । दोनो ही अन्योन्याश्रित हैं । जहाँ दया होगी वहाँ क्षमा भी रहेगी, और जहाँ क्षमा होगी दया निश्चित रूप से आ जाएगी ।

इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है—

"तितिक्खं परम नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे ।"

अर्थात्—क्षमा को परम धर्म समझकर उसका आचरण करे ।

वस्तुत क्षमा धर्म के अन्तर्गत सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। किसी कवि ने भी कहा है—

क्षमा शान्ति सद्भाव स्नेह की, गंगा सी निर्मल धारा।
गहरी डुबकी लगा हृदय से, धो डालो कलिमल सारा॥

पद्य मे मानव को प्रेरणा दी गई है—"भाई! क्षमा, शान्ति, सद्भावना और स्नेह रूपी गगा की निर्मल धारा मे गहरी डुबकी लगाकर अपनी आत्मा पर लगी हुई कपायो की मलिनता को धो डालो।

वन्धुओ! पद्य मे गहरी डुबकी लगाने के लिए जो कहा गया है, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योकि जल की धारा मे डुबकी तो कही भी लगाई जा सकती है, और शरीर थोडे पानी मे भी डूब जाएगा, यानी भीग जायेगा। पर गहरी डुबकी के लिए ही क्यो कहा गया है, यह विचारणीय है।

गहरी डुबकी से यही आशय है कि क्षमा आदि शुभ भावनाएँ गहरी डुबकी लगाने पर ही अन्तर्मानस को भिगो सकेंगी। ऊपर ही ऊपर से यानी जवान से किसी को क्षमा कर दिया, पर आन्तरिक वैमनस्य की ज्वाला शान्त नही हुई तो जबान से क्षमा शब्द का उच्चारण करने से कोई लाभ नही होगा।

हम देखते है कि समाज मे नाना कारणो से लोगो के दिलो मे विरोध की तीव्र अग्नि सुलग उठती है तथा बोलचाल सब बन्द हो जाती है पर सवत्सरी के दिन कभी-कभी तो स्थानक मे ही सन्तो के समक्ष ऐसे व्यक्तियो को लोग आपस मे क्षमा-याचना करने के लिए समझाते हैं तथा वाध्य करते है। परिणाम यह होता है कि सन्तो की तथा समाज के अनेक सदस्यो की उपस्थिति के कारण लोक-व्यवहार से दो विरोधी एक-दूसरे से क्षमा-याचना कर लेते है। किन्तु वह क्षमा माँगने और देने का भाव केवल वचन तक और हाथ जोड़ने के कारण शरीर तक ही सीमित रहता है। मन तक नही पहुँचता यानी क्षमा मन से नही माँगी जाती और मन से ही दी भी नही जाती। अत. ये क्रियाएँ दिखाने की और ऊपरी होती है। इसीलिए कवि का कहना है कि क्षमा आदि शुभ भावनाओ की धारा मे गहरी डुबकी लगाओ, अर्थात् मन की गहराई से या मन से क्षमा माँगो और दूसरो को प्रदान करो। अन्यथा इस क्रिया से कोई लाभ नही होगा और आत्मा का कालुष्य रचमात्र भी कम नही हो पाएगा।

तो भाइयो! हमने सद्धर्म रूपी पान के बीड़े मे डलने वाली इलायची और खैरसार के विषय मे जान लिया अब तीसरी कौनसी चीज इसमे डाली जाती है, यह देखना है।

सत्यवाणी रूपी लवंग

पान मे लौंग वडा महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। दीक्षा लेने के वाद तो मुझे काम नही पडा पर वचपन मे देखता था कि पान का बीडा बनाकर यानी पत्ते को लपेटकर उसमे ऊपर से लौंग टोच देते हैं। जिससे पान का पत्ता खुलता नही और उसमे रखी हुई चीजें इधर-उधर नही गिरतीं। लौंग का कितना सुन्दर और दोहरा उपयोग है ? एक तो पत्ते को वन्द रखना, दूसरे मुँह का जायका ठीक करना।

सत्यवाणी रूपी लौंग भी धर्मरूपी पान के बीडे मे इसी प्रकार दोहरा काम करती है। प्रथम तो वह पान में डले हुए क्षमारूपी खैरसार, दयारूपी इलायची और अन्य चीजो को मजबूती से बांधे रहती है, इधर-उधर नही होने देती। दूसरे सच्चाई मे दिल और दिमाग को शुद्ध रखती है। एक और भी विशेषता लौंग की होती है। आप साधारणत लौंग हमेशा मुँह मे डालते हैं अत जानते ही होंगे कि वह चरपरी या तीखी होती है अत जीभ पर तेज तो जरूर लगती है किन्तु मुँह को एकदम साफ कर देती है तथा पकवान आदि कुछ भी पहले खाया हो, उसके स्वाद को मिटाकर जायका अच्छा करती है।

यही हाल सत्य रूपी लवग का भी है। सत्य सुनने मे कटु लगता है और सत्यवादी की बात से लोग नाराज होकर उसके विरोधी बन बैठते हैं, किन्तु वे यह नही सोचते कि यह सत्य ही हमारी आत्मा का भला करने वाला है। जिस प्रकार डॉक्टर इन्जेक्शन लगाता है तो पलभर के लिए रोगी को वह कष्टकर एव तीखा महसूस होता है पर उसके बाद ही इन्जेक्शन के प्रभाव से बढती हुई बीमारी भी एकदम रुक जाती है। शरीर के किसी हिस्से मे गोली लग जाती है और कुशल डॉक्टर तुरन्त चीरा लगाकर उस गोली को निकालता है। चीरा लगाते समय या ऑपरेशन करते समय बहुत कष्ट होता है और शरीर को वह असह्य महसूस होता है। किन्तु कुछ समय की पीडा गोली के विष को बाहर निकाल देती है और शरीर का वह अग निर्विष बन जाता है।

इसी प्रकार कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को सन्त-महापुरुष कडवे शब्द कह देते हैं पर वे उस व्यक्ति के हृदय से कषाय रूपी विषो को वाहर निकालने के लिए कहे जाते हैं। गोली के शरीर से न निकलने पर उसका विष जिस प्रकार अन्दर ही अन्दर फैलकर व्यक्ति के प्राणान्त का कारण वन जाता है, इसी प्रकार कषायो का कालकूट भी आत्मा के अन्दर ही अन्दर फैलकर उसे वार-बार मरण का कष्ट पहुँचाता है। स्पष्ट है कि शरीर के किसी अग मे लगी हुई गोली तो एक वार ही मनुष्य को मारती है, पर कषायो के कारण आत्मा

अनेकानेक बार मरना पडता है । इसीलिए महापुरुष, सन्त या गुरु सत्य कहकर मानव को एक बार थोडी पीडा पहुँचाकर भी उसे जन्म-जन्म के दुःखो से बचाने का प्रयत्न करते है । एक छोटा-सा उदाहरण है—

तुम नालायक हो

किसी महात्मा के पास दो छात्र ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा मे आये और उनसे ज्ञान-दान देने के लिए प्रार्थना की ।

महात्माजी ने कहा—"तुम यही आश्रम मे ठहरो, मैं दो-चार दिन बाद तुम्हे बताऊँगा कि मैं तुम्हे अपने शिष्य के रूप मे रखूँगा या नही ।"

दोनो शिक्षार्थी वहाँ ठहर गये । महात्माजी ने उनमे कुछ नहीं कहा और उन दोनो के क्रिया-कलापो की चुपचाप परीक्षा करते रहे । दोनो छात्र अज्ञानी ती थे ही, साथ ही कुसगति मे रहने के कारण आचरणहीन भी थे। कभी वे साथ मे लाई हुयी बीडियाँ पीते, कभी ताश खेलते, कभी आपस मे लडते हुए एक-दूसरे को गालियाँ देते और कभी-कभी पत्थर आदि मारकर पशु-पक्षियो को परेशान करते ।

यह सब देखते हुए ठीक चार दिन बाद महात्माजी ने उन दोनो को अपने पास बुलाया और कहा—

"तुम लोग नालायक हो, अपने आपको बदल सको तो यहाँ रहो अन्यथा चले जाओ ।"

महात्माजी की यह बात सुनते ही दोनो शिक्षार्थी पलभर के लिए अवाक् हो गये । किन्तु अगले ही क्षण उनमे से एक आगबबूला होकर बोला—"आप गालियाँ दे रहे है ? मैं आपके पास नही रह सकता ।" यह कहकर चला गया ।

पर दूसरा शिक्षार्थी महात्माजी की बात को सुनकर कुछ देर के लिए सोच-विचार मे डूब गया और कुछ देर पश्चात् उनके चरण पकडकर बोला— "गुरुदेव ! आपने सत्य कहा है कि मैं अभी नालायक हूँ, ज्ञान ज्ञाप्ति के लायक नही । किन्तु आज से मैं अपने आपको लायक बनाने का प्रयत्न करूँगा । कृपा करके मुझे अपने पास रहने दीजिए ।"

महात्माजी ने प्रसन्न होकर स्वीकार करते हुए उत्तर दिया—"वत्स ! तुम खुशी से यहाँ रहो मुझसे जितना बनेगा तुम्हे आत्म-ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न करूँगा ।"

परिणाम यह हुआ कि गुरु की एक सच्ची बात सुनकर ही उसने अपने ापको बदल डाला और कुछ समय मे ही ज्ञानी तथा योग्य पुरुष बन

गया। ज्ञानाभ्यास करने के पश्चात् उसने विनयपूर्वक अपने गुरु से घर जाने की इजाजत मांगी और गुरुजी ने हार्दिक आशीर्वाद एव मगलकामना के साथ उसे विदा किया।

शिष्य वहाँ से रवाना हो गया और मार्ग पर वढा। पर रास्ते मे एक जगल आया और वहाँ के सुनसान रास्ते पर जब वह वढा तो किमी ने पीछे से उसकी गर्दन पकड ली और कहा—

"निकालो, जो कुछ तुम्हारे पास हो!"

अपने घर जाने वाले विद्वान शिष्य ने यह मुनकर गर्दन मोडी और तनिक भी घबराये विना उस व्यक्ति की ओर देखा। दोनो की नजरें चार हुईं, पर दोनो ही एक-दूमरे को देखकर अवाक् रह गए। जगल मे मिलने वाला व्यक्ति और कोई नही, वरन् वही दूमरा विद्यार्थी था जो महात्मा जी के नालायक शब्द को गाली समझकर क्रोध के मारे चलता वना था और अव डाकू वन गया था। उसे देखकर विद्वान शिष्य वोला—

"भाई! यह क्या? तुम तो ज्ञानाभ्यास के लिये आए थे पर वहाँ से भाग कर डाकू वन गये?"

"और क्या करता? गालियाँ देने वाले गुरुजी से भला क्या सीखा जा मकता था?" डाकू वन जाने वाला व्यक्ति वोला।

इस पर विद्वान व्यक्ति वोला—"भाई! गुरुजी ने उस समय हमे गाली नही दी थी। अपनी वुरी आदतो के कारण वास्तव मे ही हम उम समय ज्ञान-प्राप्ति के लायक नही थे। गुरुदेव ने सत्य कहा था। पर खेद की वात है कि तुमने सत्य को सहन नही किया और वहाँ से भागकर आतमा का पतन करने वाले इस मार्ग को अपना लिया। किंतु, मैंने गुरु की सत्य वात का वुरा नही माना और उसे आत्म-हितकर मानकर अपने आपको वदलने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि मुझे गुरुदेव ने अव तक ज्ञानाभ्यास कराया है, और अव उनकी इजाजत लेकर ही घर जा रहा हूँ।"

यह मुनकर उम डाकू को वडा पश्चात्ताप हुआ। पर फिर उससे क्या हो सकता था, समय वीत चुका था और उसके दुर्गुणो ने उसे पापी व अपरावी बनाकर ही छोडा था।

वन्धुओ! इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि मत्य कडवा जरूर होता है किन्तु उमी प्रकार हितकर भी होता है जैसे कडवी दवा कुछ देर मुँह को कडवा वना देती है, पर ज्वर का नाश करके शरीर को स्वस्थ कर देती है।

महात्मा जी के पास ज्ञानाभ्यास की इच्छा लेकर जाने वाले दोनो ही लडके समान थे, किंतु एक गुरु के शब्दो को कडवी दवा समझकर पी गया और उसके परिणामस्वरूप ज्ञानी एव सज्जन पुरुष बना। पर दूसरा गुरु के कटु शब्द की अवहेलना कर वहाँ से चलता बना और धीरे-धीरे अध पतन के मार्ग पर बढ गया।

इसीलिए सत्य को धर्मरूपी पान मे खोसी हुई लवग कहा जाता है। लौग चरपरी होने पर भी मुँह का स्वाद ठीक करती है और सत्य कटु होने पर भी आत्मा को शुद्ध बनाता है। अब पान मे डली हुई अगली चीज क्या है, इसका वर्णन करते है।

सौजन्य-रूपी सुपारी

जिनधर्मरूपी पान मे जीव दयारूपी इलायची, क्षमारूपी खैरसार और सत्यरूपी लवग होती है, पर उसमे बहुत देर तक टिकने वाली सौजन्यतारूपी सुपारी भी होती है, जो बहुत समय तक बनी रहती है। आपके साधारण पान मे जो सुपारी होती है, वह बहुत चलेगी तो घटे-दो घटे, उसके बाद तो समाप्त हो ही जाती है। किंतु सौजन्यता रूपी सुपारी मानव के व्यक्तित्व मे इस प्रकार मिल जाती है कि वह जीवन भर भी प्रभावहीन नही हो पाती। अर्थात् उसकी प्रक्रिया सदा आचरण मे उतरती रहती है।

सौजन्यता का अर्थ है सज्जनता। जिस व्यक्ति मे सद्गुण होते है उसे सज्जन कहते हैं और उसकी उत्तम भावनाएँ ही सौजन्यता कहलाती है। जिस व्यक्ति मे सौजन्यता होती है, वह सज्जन व्यक्ति निराकुल एव निर्बाध रूप से आत्म-कल्याण के पथ पर बढता है। कोई भी उस भव्य प्राणी को पकड कर रोक नही सकता और न ही शरीर रूपी कारागार मे कभी कैद कर सकता है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी महाराज ने एक बडा सुन्दर पद्य इस विषय मे लिखा है, जिसमे बताया है कि आत्म-गुणो को जीवन मे उतारने वाले व्यक्ति निश्चय ही शिवपुर जाते है, कोई भी उनका पल्ला पकड कर उन्हे वहाँ जाने से नही रोक सकता। पद्य इस प्रकार है—

> टेरत सत प्रवीण गुणी सदग्रन्थ सबे हित की उचरे है।
> ये जग-भोग असार लखी तजि के उर ज्ञान विराग धरे है॥
> शील सतोप क्षमा करुणातप धीरज धारि प्रमाद हरे है।
> धारत धर्म अमीरिख या विध को शिव जात 'पल्लो' पकरे है?

जो महामानव सतो का एव ज्ञान-प्रवीण गुणियो का आह्वान करता है,

सद्ग्रन्थो का पारायण करता है तथा हितकारी भाषा बोलता है और जो जगत के भोगो की असारता को समझकर अपने सम्यक्ज्ञान द्वारा इसके प्रति विरक्ति का अनुभव करता है, साथ ही शील, सतोष, क्षमा, करुणा, तप, त्याग, धैर्य आदि आत्मोत्थान के गुणो को अपनाकर प्रमाद का त्याग करते हुए धर्म को धारण कर लेता है, ऐसे प्राणी का शिवपुर जाते समय कोई भी पल्ला नही पकड सकता, यानी कोई भी उसे रोक नही सकता।

सौजन्यता को आत्मसात् करने वाले पुरुष इसी प्रकार मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते रहते हैं और अन्त मे मोक्ष हासिल करते हैं। सौजन्यता केवल वाणी से प्रकट नही होती, अपितु आचरण से जानी जाती है।

कहा भी है—

वायाए अकहता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होंति।

—भगवती आराधना, ३६६

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुप अपने गुणो को वाणी से नही, किन्तु सच्चरित्र से ही प्रकट करते हैं।

नवतत्त्व रूपी कत्या-चूना

पान के अन्दर अगर कत्था और चूना न हो तो पान, पान नही कहलाता और उसे खाने पर मुँह लाल नहीं होता। कत्थे और चूने से ही बीडा रगदार बनता है।

हमारे धर्म-रूपी पान मे भी कत्था-चूना डाला जाता है पर वह साधारण नहीं, अपितु नौ तत्त्वो का बना होता है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बध, सवर निर्जरा और मोक्ष ये नौ तत्त्व कहलाते हैं। जो साधक इन तत्त्वो को समझ लेते हैं, वे अपनी भावनाओं को विशुद्ध बनाकर ससार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त रहते हैं। आत्म-कल्याणकारी भावनाओ का महत्त्व बताते हुए एक पद्य में कहा है—

जग है अनित्य नही शरण संसार मांही,
भ्रमत अकेलो जीव जड़ दोउ भिन्न है।
परम अशुचि लखी देह तजी आस्रव को,
सवर निर्जरा ही ते होय भव छिन्न है॥
चित्त मे विचारी लोकाकार बोध बीजसार,
सम्यक् धरम उर धारो निशदिन है।

कहे अमीरिख बारे भावना यों भाव उर,
धारे जिनवेण एन, ताको धन, धन, है ॥

बन्धुओ, बारह भावनाओ को मैं आपके समक्ष कुछ समय पहले ही विस्तृत रूप से रख चुका हूँ अत. इनके विषय मे पुन अधिक बताने की आवश्यकता नही है। केवल यही कहना है कि जो भव्य प्राणी नौ तत्त्वो को समझ लेते है, वे ही अनित्य, अशरण, ससार तथा एकत्व आदि बारह भावनाओ को भाते हुए अपने जीवन को आध्यात्मिक रग मे रग लेते है तथा धन्यवाद के पात्र वनते हैं। इसीलिए नौ तत्त्वो के ज्ञान को जिनधर्म रूपी पान को रगदार बनाने वाला कत्था-चूना कहा गया है।

दान रूपी कपूर

भाइयो ! आप नागरवेल के पत्ते का जो पान वनवाते है उसमे सुगन्ध लाने के लिए एव घबराहट, जी मिचलाना आदि-आदि विकारो को नष्ट करने के लिए पिपरमेट या जिसे पोदीने का फूल भी कहते हैं, वह डलवाते है। यहाँ कपूर से आशय सुगन्ध से है और पिपरमेट मे मुँह को सुवासित करने की वडी शक्ति होती है।

तो धर्मरूपी पान के बीडे मे सुगन्ध कौन-सी है ? दान की। आप सन्त-महात्माओ को यथाविधि दान देते है, और न दे पाने पर भी देने की भावना रखते हैं तो उसकी उत्कृष्टता से तीर्थंकर गोत्र का भी वध कर सकते हैं।

हमारे शास्त्र स्पष्ट कहते है—

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइ ॥

—दशवैकालिक सूत्र

गाथा मे कहा है—"निस्वार्थ भाव से देने वाला दाता और निस्वार्थ भाव से मात्र सयम-निर्वाह के लिए लेने वाला भिक्षु ये दोनो ही मिलने दुर्लभ होते है, किन्तु दोनो ही सुगति या मोक्ष गति के अधिकारी वनते है।"

वस्तुत सुपात्रदान मोक्ष प्राप्ति का अमोघ साधन है। शख राजा ने केवल द्राक्षा का धोया हुआ पानी देकर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया और ससार को सीमित कर लिया। नयसार के भव मे भगवान महावीर के जीव ने दान के द्वारा ही सम्यक्त्व का स्पर्श किया था तथा महावीर वनने का बीजारोपण कर दिया था। सुपात्र दान के द्वारा ससार को कम करने वाले उदाहरण एक दो नही वरन् अनेक हैं, जिन्हे आगमो के द्वारा जाना जा सकता है।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि धर्म को धारण करने वाले व्यक्ति के लिए दान देना अत्यावश्यक ही नही, अनिवार्य है। स्वय तीर्थंकर भी दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक दान देते हैं, जिसे वर्षी-दान कहा जाता है। इसीलिए दान को धर्मरूपी पान की अनिवार्य एव महत्त्वपूर्ण वस्तु माना गया है। आगे इस विषय मे बताया है—

गुण-शील रूपी पत्ते

आप जो द्रव्य-पान खाते हैं इसमे नागरवेल के पत्ते होते हैं। किफायत की दृष्टि से अब जो पान खाये जाते हैं उनमे अधिकाश एक पत्ते के या आधे पत्ते के ही बीडे बना देते हैं। किन्तु यह धर्मरूपी पान का बीडा पूरे दो पत्तो का बनता है और वे पत्ते हैं— सद्गुण एव शील।

प्रेम, दया, करुणा, नम्रता, सहनशीलता, सद्भावना एव सरलता आदि आत्मा के सद्गुण हैं और शील मानव के जीवन को ऊँचा उठाने वाला है। धर्म ग्रन्थ कहते हैं—

"सीलगुणवज्जिदाण, णिरत्थय माणुसं जम्मं।"

—शीलपाहुड, १५

अर्थात्—शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य-जन्म पाना निरर्थक ही है।

आशय यही है कि शील के अभाव मे व्यक्ति कभी भी अपने जीवन को निर्दोष नहीं बना सकता और जीवन के दोषपूर्ण होने से आत्म-कल्याण नही किया जा सकता।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है—

चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मुडिण।
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सील परियागय॥

अर्थात्—चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ और सिरमुडन आदि सभी उपक्रम 'दुस्सील' यानी कुशील का सेवन करने वाले साधक की रक्षा नही कर सकते।

इसीलिए गुण एव शील को धर्मरूपी पान का सर्वोत्तम अग माना गया है। सर्वोत्तम इसलिए कि भले ही अन्य सब वस्तुएँ हो, पर पान के पत्ते न हो तो बीडे कैसे बनेंगे? यानी नही बन सकेंगे।

इन सब बातों को लेकर ही कविता मे कहा गया है—

मुनिराजो को दान करना यह, कपूर सम कहलाता है।
उत्तम गुण-शील दो पान यहाँ, कोई धर्म वीर सेवन करते॥

श्रृगार हेतु खाते बीडा, अब तक जीव न तृप्त हुआ।
गुरु रत्न कृपा आनन्द कहे, सब धर्मवीर खाकर तरते॥

कवि का कथन है कि मुख को सुवासित करने के लिए या लाल हो जाने के कारण वह सुन्दर दिखाई दे, इस प्रकार श्रृगार की दृष्टि से जीव ने असख्य द्रव्य-पान खा डाले हैं, किन्तु आज तक वह तृप्त नही हो पाया है। नित्य पान खाया जाता है पर अब तक भी उससे सन्तोष का अनुभव जीव नही कर सका है।

इसलिए अच्छा यही है कि अब जिनधर्म-रूपी पान का बीडा खाया जाय। अगर अच्छी भावना से इसे एक बार भी ग्रहण कर लिया तो फिर कभी भी अतृप्ति का अनुभव नही होगा। जिन महामानवो ने अभी बताई हुई समस्त चीजो सहित धर्मरूपी पान के बीडे खाये है, वे सब इस ससार से मुक्त हो गये है, पर ऐसे धर्मवीर बिरले ही होते है।

बन्धुओ! मैंने यथाशक्य जिनेश्वर भगवान के वचन रूपी पकवान आपके समक्ष रखे है और आपने उन्हे ग्रहण भी किया है। आशा है उनके पश्चात् यह धर्मरूपी बीडा भी आप लेंगे और इसे पसन्द करते हुए अपने जीवन को सरस, उन्नत एव निर्दोष बनाकर इहलोक और परलोक मे सुखी बनेंगे। ओम् ... शान्ति ...।

०